समयसार अनुशीलन

भाग ३

आस्रव, संवर, निर्जरा व बंध अधिकार

(गाथा १६४ से २५६ तक)

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : ०१४१-५१५५८१, ५१५४५८

प्रस्तुत संस्करण : (२९ अप्रैल, १९९८ ई., अक्षय तृतीया)	५ हजार
प्रथम संस्करण (पूर्वार्द्ध) : (२० अप्रैल, १९९७ ई., महावीर जयन्ती)	५ हजार
प्रथम संस्करण (उत्तरार्द्ध) : (२९ अप्रैल, १९९८ ई., अक्षय तृतीया)	५ हजार
वीतराग-विज्ञान हिन्दी-मराठी के सम्पादकीयों के रूप में	८ हजार
योग	२३ हजार

मूल्य : **बीस रुपये**

टाइपसैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट प्राइवेट लिमिटेड
जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१. एक मुमुक्षु श्री बालकेश्वर, मुम्बई हस्ते, श्रीमती गुणमाला भारिल्ल जयपुर	१०,०००.००
२. श्रीमती स्वाती मधुकलशकर, डलास, टेक्सास, अमेरिका	९,८५१.००
३. लॉसएन्जिल्स स्वाध्याय ग्रुप, लॉसएन्जिल्स, साउथ केलिफोर्निया, अमेरिका	८,७५०.००
४. श्री शैलेन्द्र सी. पलविया, न्यूयार्क, अमेरिका	३,५१९.००
योग	३२,१२०.००

प्रकाशकीय

डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित समयसार अनुशीलन भाग-३ (गाथा १६४ से २५६ तक) का प्रकाशन करते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पूर्व में प्रकाशित भाग-१ (गाथा १ से ६८ तक) भाग-२ (गाथा ६९ से १६३ तक) का अध्ययन तो आप कर ही चुके हैं और अब तक प्रकाशित अनुशीलन की लोकप्रियता से भी आप परिचित ही हैं। इसका पठन-पाठन एवं स्वाध्याय नियमित रूप से विधिवत अमेरिका आदि सुदूरवर्ती देशों में भी चल रहा है और अमेरिकावासी रजनीभाई गोशालिया ने तो इसका गुजराती अनुवाद भी तैयार कर लिया है, जो प्रकाशित भी हो चुका है तथा गुरुप्रसाद (गुजराती) में क्रमशः छप रहा है। मराठी अनुवाद भी तैयार हो रहा है, जो मराठी वीतराग-विज्ञान में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है और पुस्तकाकार भी प्रकाशित होने जा रहा है।

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत २१ वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल तथा अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद भी हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारह भावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैन समाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में ३७ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग ४ हजार ९०० पृष्ठ लिखे हैं, जो सभी प्रकाशित हैं। इस कृति के निर्माण

की पृष्ठभूमि और परिचय के सन्दर्भ में प्रथम एवं द्वितीय भाग के प्रकाशकीय के निम्नांकित महत्त्वपूर्ण अंश मूलरूप से उद्धत करना उपयुक्त समझता हूँ –

''आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांग रूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार स्वामीजी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरंभ किया है, जो अबतक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिसतरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णत: समर्थ हैं, पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में ज़ो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अत: वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्ल के ही वश की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तुस्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शान्त हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ

इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे। अत: अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरम्भ किया है, उससे न केवल मुमुक्षु समाज को लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।''

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरंभ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियायें आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी। वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगने वाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथाएँ लीं, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग और अधिक तीव्रता से उठने लगी, फलत: २६ मई, १९९३ को समयसार अनुशीलन भाग-१ का पूर्वार्द्ध, २४ अप्रैल, १९९४ को उत्तरार्द्ध तथा १५ अगस्त, १९९४ को दोनों का संयुक्त संस्करण प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार भाग-२ का पूर्वार्द्ध २ मई, १९९५ को, उसका उत्तरार्द्ध २५ अप्रैल, १९९६ को तथा दोनों का संयुक्त संस्करण २ मई, १९९६ को प्रकाशित किया गया। भाग-३ का पूर्वार्द्ध २० अप्रैल, १९९७ ई., महावीर जयन्ती के दिन तथा उत्तरार्द्ध २९ अप्रैल, १९९८, अक्षय तृतीया के दिन प्रकाशित किया गया और अब यह भाग ३ का संयुक्त संस्करण आपके हाथ में है। आशा है यह कृति आपकी आत्मपिपासा को शान्त करने में सफल होगी।

गुरुदेवश्री का तो अनन्त उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सबकुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म समझने की दृष्टि भी दी है। डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो

पूज्य स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; यह अपने आप में अपूर्व है। मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है तथा जिनके कतिपय अंश इस कृति में भी अंत में दिये गये हैं।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' – बाहुबली कुम्भोज की विदुषी बहिन सुश्री गजाबेन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी – ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत प्रकाशन को आकर्षक एवं शुद्ध मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स तथा प्रकाशन की सम्पूर्ण व्यवस्था सम्हालने हेतु विभाग के प्रभारी अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं। साथ ही वे महानुभाव भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग दिया है; जिनकी सूची ग्रंथ के अन्त में दी गई है।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति से भरपूर लाभ लें; इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

२५ अप्रेल, १९९८ ई. महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

अनुक्रमणिका

आस्रवाधिकार	**१-८०**
कलश ११३	२
गाथा १६४-१६५	५
गाथा १६६	१३
गाथा १६७	२१
गाथा १६८	२५
कलश ११४	२८
गाथा १६९	३०
कलश ११५	३३
गाथा १७०-१७१	३५
गाथा १७२	४०
कलश ११६	४४
कलश ११७	४८
गाथा १७३-१७६	५०
कलश ११८	५५
कलश ११९	५९
गाथा १७७-१७८	६२
कलश १२०	६५
कलश १२१	६६
गाथा १७९-१८०	६९
कलश १२२	७१
कलश १२३	७४
कलश १२४	७७
संवराधिकार	**८१-१३८**
कलश १२५	८२
गाथा १८१-१८३	८६
कलश १२६	९४
गाथा १८४-१८५	९६
गाथा १८६	१०१
कलश १२७	१०४
गाथा १८७-१८९	१०९
कलश १२८	१११
गाथा १९०-१९२	१२२
कलश १२९	१२६
कलश १३०	१२९
कलश १३१	१३४
कलश १३२	१३७
निर्जरा अधिकार	**१३९-१९२**
कलश १३३	१४०
गाथा १९३	१४३
गाथा १९४	१४६
कलश १३४	१५०
गाथा १९५-१९६	१५३
कलश १३५	१५८
गाथा १९७	१६०
कलश १३६	१६३
गाथा १९८-२००	१६५
कलश १३७	१७२
गाथा २०१-२०२	१८२
कलश १३८	१८९
गाथा २०३	१९३
कलश १३९	१९५

कलश १४०	१९७
गाथा २०४	२०१
कलश १४१	२०३
कलश १४२	२०७
गाथा २०५	२१२
कलश १४३	२१३
गाथा २०६	२१५
कलश १४४	२१७
गाथा २०७	२२२
गाथा २०८-२०९	२२५
कलश १४५	२२८
गाथा २१०-२१४	२२९
कलश १४६	२३६
गाथा २१५	२३८
गाथा २१६	२४२
कलश १४७	२४६
गाथा २१७	२४८
कलश १४८-१४९	२५०
गाथा २१८-२१९	२५४
कलश १५०	२५६
गाथा २२०-२२३	२६३
कलश १५१	२६८
कलश १५२	२७१
गाथा २२४-२२७	२७६
कलश १५३	२८०
कलश १५४	२८४
गाथा २२८	२८९
कलश १५५	२९२
कलश १५६	२९४
कलश १५७	२९८
कलश १५८	३००
कलश १५९	३०५
कलश १६०	३०७
कलश १६१	३११
गाथा २२९	३१५
गाथा २३०	३१९
गाथा २३१-२३२	३२३
गाथा २३३-२३४	३२७
गाथा २३५-२३६	३३२
कलश १६२	३३७
बंधाधिकार	**३४२-३८४**
कलश १६३	३४२
गाथा २३७-२४१	३४५
कलश १६४	३४९
गाथा २४२-२४६	३५१
कलश १६५	३५३
कलश १६६	३५६
कलश १६७	३६०
गाथा २४७-२५२	३६४
गाथा २५३-२५६	३६७
कलश १६८-१६९	३६८
गाथा पद्यानुवाद	३८५
कलश पद्यानुवाद	३९२
पाठकों की दृष्टि में	४००

आस्रवाधिकार

इस समयसार ग्रन्थाधिराज में सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार में दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ प्रकार के सभी भावों से भिन्न बताया है और उनके स्वामित्व से भी इन्कार किया गया है, उनसे एकत्व-ममत्व छुड़ाया गया है। उसके बाद कर्ताकर्माधिकार में उन्हीं भावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से इन्कार किया गया है, उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व को छुड़ाया गया है। उसके भी बाद पुण्यपापाधिकार में पुण्य और पाप भावों में एकता स्थापित की गई है; क्योंकि यह अज्ञानी आत्मा निजभगवान आत्मा से भिन्न शुभाशुभभावरूप पुण्य-पाप भावों को एक समान ही हेय न मानकर पुण्यभावों को उपादेय मान लेता है, उन्हें धर्म समझने लगता है, उन्हें मुक्ति का मार्ग मानने लगता है।

अब इस आस्रवाधिकार में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा जा रहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही भाव आस्रवभाव हैं; अत: बंध के ही कारण हैं, मुक्ति के कारण नहीं; उन्हें मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है।

पुण्यपापाधिकार और आस्रवाधिकार की संधि स्पष्ट करते हुये कविवर पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं -

पाप पुन्न की एकता, वरनी अगम अनूप।
अब आस्रव अधिकार कछु, कहौं अध्यातम रूप॥

अबतक पुण्य और पाप की गहन और अनुपम एकता का वर्णन किया। अब इस आस्रवाधिकार में आस्रव के आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन करता हूँ।

इस अधिकार की टीका आचार्य अमृतचन्द्र छोटे से वाक्य से आरंभ करते हैं, जो इसप्रकार है -

"**अथ प्रविशत्यास्रवः** - अब आस्रव प्रवेश करता है"

तात्पर्य यह है कि नाटक समयसार के रंगमंच पर अब आस्रव प्रवेश करता है।

उक्त आस्रवभाव के स्वांग को पहचान लेनेवाले, आस्रवभाव को जीत लेनेवाले ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा की जय-जयकार करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र इस अधिकार का मंगलाचरण इसप्रकार करते हैं -

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ ११३॥

(हरिगीत)

सारे जगत को मथ रहा उन्मत्त आस्रवभाव यह ।
समरांगण में समागत मदमत्त आस्रवभाव यह ॥
मर्दन किया रणभूमि में इस भाव को जिस ज्ञान ने ।
वह धीर है गंभीर है हम रमें नित उस ज्ञान में ॥ ११३॥

समरांगण में समागत और महामद से मदोन्मत्त इस आस्रवभाव को, महान उदय और महान उदारता है जिसमें - ऐसा गंभीर ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा सहजभाव से जीत लेता है।

यहाँ समरांगण में समागत, मदोन्मत्त आस्रवभावरूपी जगविजयी योद्धा को सहजभाव से जीत लेनेवाले सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धर योद्धा का स्मरण किया गया है।

उक्त छन्द के भाव को नाटक समयसार में पण्डित श्री बनारसीदासजी ने बड़े ही प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया है, युद्धभूमि का सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया है। उनके प्रस्तुतिकरण में अलंकारिक भाषा में शान्तरस में भी वीररस का परिपूर्ण परिपाक हुआ है।

वह छन्द मूलतः इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

जेते जगवासी जीव थावर जंगमरूप,
तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं ।
महा अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं ॥
आयौ तिहि थानक अचानक परम धाम,
ग्यान नाम सुभट सवायौ बल फोरिकैं ।
आस्रव पछार्‌यौ रन-थंभ तोरि डार्‌यो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिकैं ॥

जगत में जितने भी त्रस-स्थावर प्राणी हैं, उन सबकी शक्ति को भंगकर अपनी शक्ति से उन सभी को अपने वश में कर रखा है जिसने - ऐसा महा अभिमानी आस्रवभावरूप अगाध योद्धा मूछों पर ताव देकर रणस्तंभ को रोपकर खड़ा था; सारे जगत को लड़ने को ललकार रहा था, चेलेंज दे रहा था; कि अचानक उसी स्थान पर सर्वश्रेष्ठ ज्ञान नामक सुभट आ गया और उस आस्रवभावरूप योद्धा से भी सवाया बल स्फुरित कर रणस्तंभ को तोड़ डाला और आस्रव को पछाड़ दिया, पराजित कर दिया।

इस अवसर पर बनारसीदासजी कहते हैं कि उस ज्ञानरूपी महान योद्धा का यह पराक्रम देखकर मैं उसे हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि आस्रवभाव का निरोध सम्यग्ज्ञान से ही होता है।

उक्त सन्दर्भ में पं. जयचंदजी छाबड़ा उक्त छन्द के भावार्थ में लिखते हैं -

"यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है; इसलिए यहाँ रसवत् अलंकार के द्वारा शांतरस में वीररस को प्रधान करके वर्णन किया है कि ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रव को जीतता है। समस्त विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान योद्धा है, इसलिए वह आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है।"

उक्त संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"परद्रव्य के अवलम्बन से हुई जीव की रागादिरूप दशा ही आस्रव है। उस आस्रव को स्वद्रव्य के अवलम्बन से प्रगट हुआ ज्ञान जीत लेता है। आस्रव को जीतने का या हटाने का बस यही एक उपाय है, इसके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है।[१]

यहाँ ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान नहीं है और न लौकिकज्ञान ही है। यह तो निर्विकार स्वसंवेदनपूर्वक प्रगट हुए सम्यग्ज्ञान की बात है। पुण्य-पाप के भाव से रहित एक ज्ञायकभाव का आश्रय लेने से जो ज्ञानधारा-समकितधारा-आनन्दधारा- स्वसंवेदनधारा प्रगट हुई, वह ज्ञानरूपी बाणावली आस्रवरूप योद्धा के सीने को बेधकर उस पर विजय प्राप्त कर लेती है।[२]

भाई ! शुद्धज्ञान की धारा केवलज्ञान को बुलाती है - ऐसा भी एक ठिकाने[३] आया है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णज्ञान जो कि आत्मा का निज स्वभाव है, वह पर्याय में प्रगट हो जावे, इसप्रकार श्रुतज्ञानी केवलज्ञान का आह्वान करता है। अल्पज्ञ जीव ऊपरी दृष्टि से उसका पार नहीं पा सकता। यह केवलज्ञान ऐसा अपार गम्भीर है। अहो ! सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा की जो जागृत दशा हुई, उसकी महानता और गंभीरता की क्या बात ? वह तो अनुपम ही है।[४]

स्वरूप के आश्रय से ज्ञान ऐसा बलवान योद्धा हो गया कि वह आस्रव को जीत लेता है और अन्तर्मुहूर्त में समस्त कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेता है। जो पर्याय राग में ढलती थी, उसको आत्मसन्मुख करके ज्ञानस्वरूप में मग्न करने से अन्तर्मुहूर्त में सब कर्मों का नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न कर लेता है, ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य है।[५]"

इसप्रकार इस मंगलाचरण के छन्द में आस्रवभाव का अभाव करनेवाले ज्ञान की महिमा बताकर उसका स्मरण किया गया है, उसे नमस्कार किया गया है, उसकी जय-जयकार की गई है। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २१७
२. वही, पृष्ठ २१८
३. धवला पु. ९ पृष्ठ ८२
४. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २१९
५. वही, पृष्ठ २२०

समयसार गाथा १६४–१६५

इन गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए आत्मख्याति में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं -

''तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति - अब आस्रव का स्वरूप कहते हैं।''

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविह भेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ १६५॥

मिथ्यात्व अविरत योग और कषाय चेतन-अचेतन ।
चितरूप जो हैं वे सभी चैतन्य के परिणाम हैं ॥ १६४॥
ज्ञानावरण आदिक अचेतन कर्म के कारण बने ।
उनका भी तो कारण बने रागादि कारक जीव यह ॥ १६५॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये चार आस्रवभाव संज्ञ अर्थात् चेतन के विकाररूप भी हैं और असंज्ञ अर्थात् पुद्गल के विकाररूप भी हैं। जीव में उत्पन्न और अनेक भेदोंवाले संज्ञ आस्रव अर्थात् भावास्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं।

असंज्ञ आस्रव अर्थात् मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में कारण (निमित्त) होते हैं और उन मिथ्यात्वादि भावों के होने में राग-द्वेष करनेवाला जीव कारण (निमित्त) होता है।

उक्त गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''अपने परिणामों के निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभाव जड़ नहीं हैं, चिदाभास हैं, चैतन्य के ही विकार हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये पुद्गल परिणाम ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण में निमित्त होने से वास्तव में आस्रव हैं और उन

मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों के आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं, जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम ही हैं। इसलिए मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। ये राग-द्वेष-मोह अज्ञानी के ही होते हैं - यह बात उक्त कथन के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि मूल गाथाओं में यह बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गई है; तथापि गाथाओं के अर्थ में से ही यह आशय निकलता है।''

यद्यपि आत्मख्याति टीका में बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई है; तथापि भाषा की दुरूहता से जो अस्पष्टता रह गई है, उसे स्पष्ट करते हुए जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का (-आगमनका) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदयरूप पुद्गल-परिणाम हैं; इसलिए वे वास्तव में आस्रव हैं। और उनके, कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं; इसलिये राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। उन राग-द्वेष-मोह को चिद्विकार भी कहा जाता है। वे राग-द्वेष-मोह जीव की अज्ञान-अवस्था में ही होते हैं। मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही राग-द्वेष-मोह रूप आस्रव होते हैं।''

गाथा, टीका और भावार्थ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - ये चारों ही द्रव्यरूप भी होते हैं और भावरूप भी होते हैं। द्रव्यरूप मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामरूप होते हैं और भावरूप मिथ्यात्वादि आत्मा के विकारी भावों का नाम है।

यद्यपि पुराने मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का उदय नये ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के बंधन का निमित्त कारण है; तथापि जबतक आत्मा स्वयं राग-द्वेष-मोह रूप न परिणमे, तबतक ज्ञानावरणादि कर्मों का बंधन नहीं होता; इसकारण पुराने मिथ्यात्वादिरूप द्रव्यकर्मों का उदय नये ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में निमित्त बने - इसके लिये रागादि भावों का निमित्तत्व आवश्यक है। इसीलिए यह कहा

गया है कि मोह-राग-द्वेष भाव पुराने कर्मों के उदय के निमित्तत्व के निमित्त हैं और इसीलिए वे वास्तविक आस्रव हैं।

इसप्रकार यहाँ पुराने द्रव्यमिथ्यात्वादिक के उदय और राग-द्वेष-मोह रूप भावमिथ्यात्वादि को वास्तविक आस्रवपना सिद्ध किया गया है।

प्रश्न : यहाँ पौद्गलिक कर्मों के उदय को आगामी पौद्गलिक कर्मों के बंध का निमित्त कहा है। निमित्त तो परद्रव्य होता है; इसलिए पुद्गल का निमित्त पुद्गल कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अरे भाई ! आगामी पौद्गलिक कर्मों के बंधन में पुराने कर्मों के उदय को निमित्त कहा है। नये कर्मों के लिये पुराने कर्म परद्रव्य ही तो हैं। भिन्न-भिन्न पुद्गलद्रव्य परस्पर एक-दूसरे के लिये परद्रव्य ही होते हैं। अत: उनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव बनने में क्या आपत्ति हो सकती है?

प्रश्न : 'द्रव्यकर्मों के उदय में भावकर्म और भावकर्मों से द्रव्यकर्म का बंध होता है' - यह कथन तो सर्व प्रसिद्ध है; पर यहाँ पुराने द्रव्यमिथ्यात्वादि के उदय को नवीन कर्मों के बंध का निमित्त कहा जा रहा है, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के उदय को नहीं - यह क्या बात है ?

उत्तर : 'द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्मों से द्रव्यकर्म' - यह तो सामान्य कथन है, विशेष कथन के रूप में यहाँ दो बातों को एकदम साफ-साफ समझ लेना चाहिए।

(१) सभी द्रव्यकर्मों का उदय न तो नवीन द्रव्यकर्म बंधने में निमित्त होता है और न मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों में ही निमित्त बनता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप द्रव्यप्रत्यय या द्रव्यकर्म ही आगामी द्रव्यकर्मों के बंधन और भावकर्मों की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं।

इसमें मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय के उदय का परिणाम है तथा अविरति और कषाय चारित्रमोहनीय के उदय के परिणाम हैं। और ये ही मुख्यरूप से आगामी कर्मों के बंधन और भावकर्मों में निमित्त बनते हैं। इसकारण मुख्यरूप से आठ कर्मों के बंधन में एक मोहनीय कर्म (मोहनीय पौद्गलिक द्रव्यकर्म) ही

निमित्त है; क्योंकि आठों ही कर्मों का स्थितिबंध और अनुभागबंध इससे ही होता है, योग से तो प्रदेशबंध व प्रकृतिबंध होते हैं।

इसलिए यहाँ साफ-साफ कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति आदि द्रव्यप्रत्यय आगामी ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में निमित्त हैं। तात्पर्य यह है मोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों के उदय को बंध की निमित्तता नहीं है।

(२) यहाँ मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों के उदय को नवीन ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन का निमित्त कहा गया है और मोह-राग-द्वेषादि भावों को - भावकर्मों को उनके निमित्तत्व का निमित्त कहा गया है; क्योंकि इन भावमिथ्यात्वादि के होने पर ही बंध होता है। यदि ये भावमिथ्यात्वादि न हों तो बंध भी न होगा तो फिर उन द्रव्यमिथ्यात्वादि के उदय को निमित्त भी किसका कहा जायेगा ?

तात्पर्य यह है कि जीव के मोह-राग-द्वेष भाव द्रव्यकर्मों के बंधन में उपादानकारण तो हैं ही नहीं, निमित्तकारण भी नहीं हैं; क्योंकि उपादानकारण तो वे कार्मणवर्गणाएँ हैं जो तद्रूप परिणमित हो रही हैं और निमित्तकारण पूर्वबद्ध मिथ्यात्वादि पौद्गलिक कर्मों का उदय है; मिथ्यात्व, अविरति आदि द्रव्यप्रत्यय हैं। ये मोह-राग-द्वेषादि भाव तो उनके निमित्तत्व के निमित्त हैं।

यह तो आपको विदित होगा ही कि मिथ्यात्वादि को ही प्रत्यय कहा जाता है और उन प्रत्ययों को ही बंध का कारण कहा है।

प्रश्न : ७२वीं गाथा में तो मोह-राग-द्वेष भावों को भी जड़ कहा था और यहाँ उन्हें ही जड़ न कहकर चिदाभास कहा जा रहा है, चैतन्य के विकार कहा जा रहा है - इसका कारण क्या है ?

उत्तर : इस जिज्ञासा का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"भाई ! जहाँ आस्रवों को जड़, अशुचि और दुःख का कारण कहा है; वहाँ आस्रवों का कर्तापना छुड़ाकर शुद्ध चैतन्य की दृष्टि कराने का प्रयोजन है और यहाँ वे अपनी - जीव की पर्याय में होते हैं - ऐसा कहकर वे कर्म के उदय से नहीं होते, यह सिद्ध करने का प्रयोजन है।

आस्रव जीव की भूल से हुए जीव के ही विकारभाव हैं, ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि वे कर्मोदय के कारण नहीं हुए हैं, उनके होने में कर्मों का

कोई दोष नहीं है। कर्म उनका कर्त्ता भी नहीं। वे जीव की भूल से हुए जीव के ही परिणाम हैं।[१]

प्रवचनसार व समयसार में अनेक स्थानों पर ऐसे कथन आते हैं कि यदि कर्म के उदयमात्र से आत्मा में राग-द्वेषादि होवे तो सदैव संसार ही रहेगा, कभी किसी का मोक्ष नहीं होगा; क्योंकि संसारी जीवों को कर्म का उदय तो सदा होता ही रहता है। प्रवचनसार की ४५वीं गाथा की जयसेनाचार्य की टीका में कहा गया है कि वास्तव में तो जब जीव स्वयं विकार के परिणाम करता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है, यह वस्तु का स्वरूप है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में जहाँ पाँच अस्तिकाय सिद्ध किये हैं, वहाँ कहा है कि विकार अपने अस्तित्व में - अपनी पर्याय में अपने षट्कारक के परिणाम से होता है, इसे पर-कारकों की अपेक्षा नहीं है। विकार का कर्ता स्वयं विकार है, विकार का कर्म, करण, सम्प्रदान व अधिकरण भी स्वयं विकार है। यहाँ कोई कह सकता है कि यह तो अभिन्न षट्कारक की बात है, उससे कहते हैं कि यह बात सच हैं; परन्तु अभिन्न षट्कारक का अर्थ भी यही है कि पर्याय का कारण पर्याय है, अन्य कोई पर्याय का कारण नहीं है।

भाषा से तो समझाया जाता है; किन्तु जिसे यह बात अंतरंग में बैठ जाती है, उसकी बलिहारी है।

यहाँ एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यदि विकार को कर्म के कारण हुआ नहीं माना जायेगा तो विकार जीव का स्वभाव हो जायेगा।

परन्तु भाई ! समयसार की ३७२वीं गाथा में राग को जीव का स्वभाव (पर्यायभाव) कहा है - '**स्वभावेनैवोत्पादात्**' अर्थात् स्वभाव से ही उत्पन्न होने से - ऐसा टीका में कहा गया है। मिथ्यात्व व पुण्य-पाप आदि तो पर्याय के स्वभाव हैं। वहाँ यह भी कहा है कि 'जीव में रागादि भावों की उत्पत्ति परद्रव्य कराते हैं' - ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २२३

के गुणों (पर्यायों) की उत्पत्ति नहीं होती। एकद्रव्य दूसरे द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करे - ऐसी वस्तु में योग्यता ही नहीं है।[१]

यहाँ पहले तो 'विकार चैतन्य की पर्याय में होता है' - यह सिद्ध किया है, पश्चात् उस विकार से भेदज्ञान कराकर उसे स्वभाव से पृथक् कर दिया है। मोह-राग व द्वेष आत्मद्रव्य की पर्याय के अस्तित्व में ही हैं और वे अपने से ही हैं, पर के या कर्म के कारण नहीं - ऐसा सिद्ध करके पश्चात् उसे भी भिन्न बताकर जुदा कर दिया जाता है।

एक ओर तो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों को चैतन्य के परिणाम सिद्ध करके चिदाभास कहा है और दूसरी ओर दर्शनमोह-मिथ्यात्व, चारित्रमोह-अविरति, कषाय और योग - इन जड़ के परिणामों को वस्तुतः आस्रव कहा है; क्योंकि पुराने (पूर्व के) जड़कर्म का उदय नवीन कर्मबन्ध में निमित्त है; किन्तु जब जीव स्वयं राग-द्वेष-मोह के परिणाम करता है, तब पूर्वकर्म का उदय नवीन कर्मों के आस्रव का निमित्त होता है।

पुराने जड़कर्म के उदय को वास्तव में आस्रव इसकारण कहा है कि नवीन पुद्गलकर्म के बन्धन में पुराना पुद्गलकर्म निमित्त होता है, जीव का स्वभाव नहीं।[२]

यहाँ मुख्यतया तीन बातें कही हैं -

(१) जीव अपने राग-द्वेष-मोह के परिणाम स्वयं अपने कारण से उत्पन्न करता है, वे किसी कर्म के कारण नहीं होते।

(२) उस काल में मिथ्यात्वादि अजीव पुद्गलकर्म जो उदयरूप से परिणमते हैं, वे भी उनकी अपनी योग्यता से परिणमते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं।

(३) तथा उस मिथ्यात्वादि अजीव पुद्गल के परिणाम को आस्रव कहने का कारण बताते हुए कहते हैं कि वे नवीन कर्मों के आने में निमित्त होते हैं;

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २२३-२२४
२. वही, पृष्ठ २२५

अत: निमित्त की अपेक्षा उन जड़कर्मों को भी व्यवहार से आस्रव कहा जाता है।[१]''

इन गाथाओं का तात्पर्य स्पष्ट करते तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन कहते हैं -

''भावार्थ यह है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों का उदय होने पर जब यह जीव अपने शुद्धात्मस्वरूप की भावना को छोड़कर रागादिरूप में परिणमन करता है, तब इसके नवीन कर्मों का बंध होता है, किन्तु केवल द्रव्यकर्मों के उदयरूप से बंध नहीं होता।

यदि उदयरूप से बंध होने लगे तो यह संकट सदा का ही रहेगा, कभी भी इसका अन्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का उदय तो सदा ही बना रहता है।

इस पर शिष्य शंका करता है कि यदि ऐसा है तो फिर कर्मोदय तो बंध का कारण नहीं रहा न ?

उत्तर में आचार्य महाराज कहते हैं कि यह बात नहीं है; क्योंकि निर्विकल्पसमाधि से भ्रष्ट होनेवाले जीवों के कर्म का उदय मोह सहित ही होता है, जो कि व्यवहार से कर्मबंध का निमित्त होता है। निश्चयनय से तो अशुद्ध-उपादान है कारण जिसका - ऐसा जीव का अपना रागादिरूप अज्ञानभाव ही कर्मबंध का कारण है।''

इसप्रकार यह बात तो सहज ही सिद्ध हो गई कि यद्यपि कर्मों के नवीन बंध में पुराने द्रव्य मिथ्यात्वादि कर्मों का उदय निमित्त कारण है; तथापि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों के बिना नवीन कर्मों का बंध नहीं होता। इसलिए आत्मा का अहित करनेवाले असली आस्रवभाव तो मोह-राग-द्वेष रूप आत्मा के विकारी भाव ही हैं।

इस बात का विशेष स्पष्टीकरण बंधाधिकार के आंरभ में विस्तार से किया जायेगा।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २२७

मूल गाथा में आस्रवभावों को संज्ञ और असंज्ञ भेदों में विभाजित किया गया है, जिनका अर्थ आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में मूलत: तो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति के अनुसार चेतन और अचेतन या भावास्रव और द्रव्यास्रव ही करते हैं; किन्तु अथवा के रूप में संज्ञ का अर्थ संज्ञायें और असंज्ञ का अर्थ असंज्ञायें भी करते हैं।

संज्ञाओं में आहार, परिग्रह, भय और मैथुन रूप चार संज्ञाओं को लेते हैं और असंज्ञा शब्द का अर्थ ईषद् संज्ञा करके इहलोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा और कुधर्म की आकांक्षा को लेते हैं। इन तीनों को वे संज्ञायें या असंज्ञायें कहते हैं।

यद्यपि मूलरूप से तो संज्ञायें ये ही है; तथापि उत्तर भेद से यह अनेकानेक प्रकार की हो सकती हैं। ये सभी संज्ञायें और असंज्ञायें (ईषद् संज्ञायें)मोह-राग-द्वेष के समान अशुद्धनिश्चयनय से जीव के ही परिणाम हैं और उससे अभिन्न हैं।

यद्यपि ये संज्ञायें भी मोह-राग-द्वेष का ही परिणाम हैं; अत: इनके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी; तथापि आचार्य जयसेन ने उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करके अल्पबुद्धियों पर उपकार ही किया है।

इसप्रकार यदि हम आत्मा का अहित करनेवाले असली आस्रवभावों में इन संज्ञाओं और असंज्ञाओं को भी शामिल कर दें तो मोह, राग, द्वेष; आहार, परिग्रह, भय, मैथुन तथा इहलोक, परलोक और कुधर्म की आकांक्षा - ये सभी भाव आत्मा का अहित करनेवाले असली भावास्रव सिद्ध हो जाते हैं। ●

धर्म परम्परा नहीं, स्वपरीक्षित साधना है। धर्म का कुल से क्या सम्बन्ध ? धर्म का सम्बन्ध तो निज विवेक से है। विभिन्न कुलों में विभिन्न प्रकार के धर्मों की उपासना की जाती है - उनमें कोई राग को धर्म मानता है, कोई वीतरागता को; कोई भोग में धर्म मानता है, कोई त्याग में। परस्पर विरुद्ध होने से दोनों में तो धर्म होना संभव नहीं है, पर यदि कुलप्रवृत्ति को धर्म माना जाएगा तो फिर दोनों को ही धर्म मानना पड़ेगा।

- सत्य की खोज, पृष्ठ १०

समयसार गाथा १६६

अब इस १६६वीं गाथा में यह कहते हैं कि ज्ञानीजनों के इन आस्रवों का अभाव है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो॥ १६६॥

है नहीं आस्रव बंध क्योंकि आस्रवों का रोध है।
सद्दृष्टि उनको जानता जो कर्म पूर्वनिबद्ध हैं॥ १६६॥

सम्यग्दृष्टि के आस्रव जिसका निमित्त है – ऐसा बंध नहीं होता; क्योंकि उसके आस्रवों का निरोध है। नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ वह सम्यग्दृष्टि सत्ता में रहे हुए पूर्वकर्मों को मात्र जानता है।

'सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओं को आस्रव-बंध नहीं होते' – यह बतानेवाली इस गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार खोलते हैं –

"परस्पर विरोधी भाव एक साथ नहीं रह सकते; इसकारण ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरोध को प्राप्त होते हैं। यही कारण हैं कि ज्ञानी के अज्ञानमय मोह-राग-द्वेषरूप आस्रव भावों का निरोध होता ही है। इसीलिए ज्ञानी आस्रव जिनका निमित्त है, ऐसे ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता। सदा ही अमूर्त्तत्वस्वभावी एवं स्वयं ज्ञानस्वभावी होने से ज्ञानी नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों को मात्र जानता ही है।"

प्रश्न : यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानी को बंध नहीं होता और ज्ञानी तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि को भी कहते हैं, तो क्या युद्धादि में रत चक्रवर्ती सम्यक्दृष्टियों को किसी भी कर्म का बंध नहीं होता ? यदि ऐसा है तो फिर चक्रवर्ती दीक्षा क्यों लेते हैं ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इसप्रकार देते हैं-

"इसका भावार्थ यह है कि सरागसम्यग्दृष्टि और वीतरागसम्यग्दृष्टि के भेद से सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं। इसमें जो सरागसम्यग्दृष्टि है, उसके गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ९४ के अनुसार प्रथम गुणस्थान में १६; दूसरे गुणस्थान में २५; तीसरे में ०; चौथे में १०; पाँचवें गुणस्थान में ४; छठवें गुणस्थान में ६; सातवें गुणस्थान में ९; आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में २, छट्टे भाग में ३० एवं सातवें भाग में ४; नवमें गुणस्थान में ५; दशवें गुणस्थान में १६ एवं तेरहवें गुणस्थान में १ प्रकृति की बंधव्युच्छुत्ति होती है।

इत्यादि बंध त्रिभंगी में बताये हुए बंध विच्छेद के क्रम से देखें तो उस चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को प्रथमगुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा ४३ प्रकृतियों का बंध नहीं होता। वह अविरत सम्यग्दृष्टि शेष ७७ प्रकृतियों के अल्पस्थिति-अनुभाग का बंधक होता हुआ भी संसार की स्थिति का छेदक होता है। इसकारण से उसे अबंधक कहा गया है।

इसीप्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान से ऊपर सरागसम्यक्त्व पर्यन्त नीचे के गुणस्थानों की अपेक्षा यथासंभव तारतम्य से अबंधक होता है और ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा यथासंभव तारतम्य से बंधक भी होता है। वीतराग सम्यक्त्व हो जाने पर साक्षात् अबंधक हो जाता है।

अत: सराग सम्यक्तियों को 'हम सम्यग्दृष्टि हैं और हमें सर्वथा बंध नहीं होता' - ऐसा नहीं कहना चाहिए।"

इसी बात का स्पष्टीकरण पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार कहते हैं -

"ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते और अज्ञानमय भाव न होने से (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होने से नवीन बन्ध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होने से नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्वबद्ध कर्म सत्ता में विद्यमान हैं, उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता। जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है, वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं है। सम्यक्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। उसको चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से जो रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादि को रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिए ज्ञानी के जो रागादि होता है, वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है। वह आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति अनुभागवाला बन्ध करता है। ऐसे अल्प बन्ध को यहाँ नहीं गिना है।

इसप्रकार ज्ञानी के आस्रव न होने से बन्ध नहीं होता।''

आचार्य जयसेन और पंडित जयचंदजी छाबड़ा के स्पष्टीकरण के बाद यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि करणानुयोग में गुणस्थान परिपाटी के अनुसार जिस गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का बंध होना बताया गया है, उस गुणस्थान में उन प्रकृतियों का बंध तो होता ही है।

अत: 'ज्ञानी को बंध नहीं होता' - अध्यात्म के इस कथन से उक्त कथन का निषेध नहीं समझना चाहिए। अध्यात्म के इस कथन की अपेक्षा तो यह है कि चौथे गुणस्थान में जिन प्रकृतियों का बंध नहीं होता, वे प्रकृतियाँ ही मूलत: अनन्त संसार के बंध का कारण हैं। तथा चतुर्थ गुणस्थान और उनके ऊपर के गुणस्थानों में जिन प्रकृतियों का बंध होता है; एक तो वे अनन्त संसार के बंध का कारण नहीं हैं, दूसरे उनका बंध भी अल्पस्थिति अनुभाग लिये होता है। अत: वह बंध न के बराबर ही है।

इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर यहाँ (अध्यात्म में) यह कहा गया है कि ज्ञानी को बंध नहीं होता।

इस गाथा में समागत विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ज्ञानी के मिथ्यात्व और उसके साथ रहनेवाले रागादि तो हैं ही नहीं, अत: उनका कर्ता-धर्ता होने का तो कोई सवाल ही नहीं है; किन्तु चारित्रमोह संबंधी जो भी

रागादिभाव भूमिकानुसार विद्यमान हैं; ज्ञानी आत्मा उनका भी कर्ता-धर्ता नहीं है, उनका तो वह सहज ज्ञाता-दृष्टा मात्र है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जिसको शुद्ध चैतन्यमय ध्रुव आनन्दकन्द स्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हुई है, जिसको पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ज्ञान में ज्ञात हो गया है, जिसकी पर्याय में निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हो गया है और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आ गया है; उसे धर्मी अथवा ज्ञानी कहते हैं। ऐसे ज्ञानी को ज्ञानमय अर्थात् आत्ममय, शुद्ध-चैतन्यमय परिणाम होते हैं, उसके ज्ञान में चैतन्यमय भावों द्वारा अज्ञानमय भाव अवश्य ही रुक जाते हैं। मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेषरूप अज्ञानमय भावों का ज्ञानमय भावों द्वारा अवश्य ही निरोध हो जाता है।[१]

अस्थिरता संबंधी भावों की यहाँ बात नहीं है, वे तो चारित्रगुण की पूर्णता के अभाव में होते हैं। यहाँ तो यह कहा है कि - ज्ञानमय भावों के साथ मिथ्याभावों का एवं मिथ्यात्वमय भावों के साथ ज्ञानमय भावों का परस्पर विरोध है। मिथ्यात्व व मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष के भाव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के भावों में नहीं रह सकते। दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। ज्ञानमय भाव में अज्ञानमय भाव का त्रिकाल अभाव है।[२]

ज्ञानी को भले ही मति-श्रुतज्ञान हो, किन्तु उसे एक समय में लोकालोक को (परोक्ष) जानने की शक्तिवाली पर्याय प्रगट हुई है। ज्ञानी को राग का कर्तापना नहीं है। ज्ञानी में तो स्वयं का एवं उत्पन्न हुए राग का ज्ञातापना स्वयंसिद्ध है। इसकारण वह नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों का भी केवल ज्ञाता रहता है। जिसतरह केवलज्ञानी के चार घातिया कर्म विद्यमान नहीं हैं, वे केवल उन्हें जानते ही हैं; उसीतरह ज्ञानी पूर्वबद्ध कर्मों को केवल जानते ही हैं। जिसतरह केवली भगवान लोकालोक को केवल जानते ही हैं अर्थात् लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त होता हुआ भी केवलज्ञान लोकालोक का कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; उसीतरह ज्ञानी

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २३२
२. वही, पृष्ठ २३५

ज्ञान में रागादि को जानता हुआ भी उस राग का कर्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है। अहो! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण कोई अलौकिक वस्तु है। यहीं से धर्म का प्रारंभ होता है, इसके बिना धर्म की शुरुआत ही नहीं होती।

ज्ञानी को अस्थिरता जनित किंचित् राग-द्वेष हैं, किन्तु स्वज्ञेय के ज्ञायक को रागादि और उससे हुआ अल्पबन्ध, ज्ञान में परज्ञेयपने ज्ञात होता है – ऐसा कहा गया है। भूतार्थ-सत्यार्थ त्रिकाली परमात्मस्वरूप निज आत्मा का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उस समय आत्मा की पर्याय में जो अशुद्धता व अपूर्णता है, वह बस जानने भर के लिये प्रयोजनवान है, आदर के योग्य नहीं। उस काल में आत्मा का ज्ञाता स्वभाव ही स्वयं ऐसा है कि वह स्व को तो जानता ही है, साथ में वर्तमान पर्याय में उत्पन्न हुए राग को भी स्पर्श किये बिना जानता है; क्योंकि इस ज्ञायक (ज्ञानी) आत्मा का ऐसा ही स्व-परप्रकाशक स्वरूप है।[१]

देखो, राग मैं हूँ और यह रागभाव मेरे स्वभाव को प्रगट करने में कारण है – ऐसी विपरीत मान्यता सहित जो रागादि होते हैं, वे ही अज्ञान के पक्ष में गिने जाते हैं। सम्यक्त्व सहित रागादि अज्ञान के पक्ष में नहीं गिने जाते; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के सदैव आत्मा की ओर झुकनेवाला ज्ञानमयभाव होता है। जो राग होता है, उसका वह केवल ज्ञाता रहता है। राग का ज्ञान राग के अस्तित्व के कारण नहीं होता, बल्कि ज्ञानी को तो स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान स्वतः अपने ही कारण होता है, इस कारण रागादि का ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। उसका निरन्तर ज्ञानमय ही परिणमन होता है।[२]

पहले राग-द्वेष-मोह के परिणाम आत्मा में स्वयं से होते हैं – ऐसा जो कहा था, वहाँ पर्याय को स्वतंत्र सिद्ध किया है और यहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ है; अतः इसके चैतन्य की ओर पुरुषार्थवाला ज्ञानमय परिणाम होने से उसे राग का कर्तृत्व नहीं रहता – ऐसा कहा है। जिसे चैतन्यस्वभाव का ज्ञान व भान हुआ; उस ज्ञानी को उदय की बलजोरी से किंचित् राग होता है; किन्तु उसे उस राग का स्वामित्व

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २३८-२३९
२. वही, पृष्ठ २४०

नहीं है, उसे राग के साथ एकत्व नहीं होता। जो शुद्ध द्रव्य में एकत्व करके ज्ञानभाव से परिणमित हुआ है, उस ज्ञानी को अल्पराग होता है, किन्तु उसमें वह एकत्वभाव करके भ्रमित नहीं होता।[१]

देखो, कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह व दुःख होता ही नहीं, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। जो होता है, उसे ही तो नष्ट किया जा सकता है; जो हो ही नहीं, उसे कोई क्या नष्ट करेगा? ज्ञानी को अस्थिरताजनित अल्प राग-द्वेष तो होता है और ज्ञानी उसे स्वरूप के अवलम्बन से एकाग्रता का उग्र पुरुषार्थ करके नष्ट करता जाता है। जितने अंश में पुरुषार्थ में कमी है, उतना ज्ञानी के भी राग व दुःख अवश्य होता है।

अब कहते हैं कि - ज्ञानी के बन्ध तो होता है; किन्तु वह अनन्त संसार का बंध नहीं करता। मात्र अल्प स्थिति व अल्प अनुभागवाला बंध ही उसे होता है, जो कि अनन्त संसार-बंध के अभाव की तुलना में गिनती में ही नहीं आता। दृष्टि की प्रधानता में अल्प बंध कोई चीज नहीं है। अहो! ऐसी दृष्टि की कोई अचिन्त्य महिमा है।

इसप्रकार ज्ञानी को आस्रव नहीं होने से बंध भी नहीं होता।[२]''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को अनन्त संसार को बढ़ानेवाला कर्मबंध नहीं होता। जिन ४३ प्रकृतियों का बंध चौथे गुणस्थान में नहीं होता, उनमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी जैसी अनन्त संसार का बंध करनेवाली प्रकृतियाँ ही मुख्य हैं। जिन ७७ प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभाग वाला बंध होता है; वह उक्त प्रकृतियों की तुलना में नगण्य ही है। इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि ज्ञानी को बंध नहीं होता।

प्रश्न : प्रथम गुणस्थान में १६, दूसरे गुणस्थान में २५, तीसरे में ०; इसप्रकार कुल मिलाकर आरंभिक तीन गुणस्थानों में ४१ प्रकृतियों की ही

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २४१
२. वही, पृष्ठ २४२

बंधव्युच्छुत्ति होती है और यहाँ ४३ प्रकृतियों की बात कही जा रही है। कहा जा रहा है कि ४३ प्रकृतियों का बँध चौथे गुणस्थान में नहीं होता। इन दोनों कथनों की संख्या में दो का अन्तर क्यों आ रहा है? वे दो प्रकृतियाँ कौनसी हैं, जिनका बंध चौथे गुणस्थान में नहीं होता और जो उक्त ४१ प्रकृतियों में शामिल नहीं हैं।

उत्तर : आहारक प्रकृति और आहारक अंगोपांग प्रकृति – इन दो प्रकृतियों का बंध भी चतुर्थगुणस्थान में नहीं होता; क्योंकि इनका बंध सप्तमगुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक ही होता है। इसप्रकार बंध योग्य १२० प्रकृतियों में ४१+२=४३ प्रकृतियों का बंध नहीं होता, शेष ७७ प्रकृतियों का बंध होता है। इसी बात का उल्लेख आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में इसी गाथा की टीका में किया गया है।

प्रश्न : वे ४३ प्रकृतियाँ कौन-कौनसी हैं, जिनका बंध चौथे गुणस्थान में नहीं होता।

उत्तर : उन प्रकृतियों के नाम गोम्मटसार कर्मकाण्ड में इसप्रकार बताये हैं –

मिच्छत्तहुंडसंढाऽ, संपत्तेयक्खथावरादावं ।
सुहुमतियं वियलिंदी, णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे ॥ ९५॥
विदियगुणे अणथीणति, दुभगतिसंठाणसंहदिचउक्कं ।
दुग्गमणित्थीणीचं, तिरियदुगुज्जोवतिरियाऊ ॥ ९६॥

प्रथम गुणस्थान में जिन सोलह प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है, उनके नाम इसप्रकार हैं :- १. मिथ्यात्व, २. हुंडक संस्थान, ३. नपुंसकवेद, ४. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, ५. एकेन्द्रिय, ६. स्थावर, ७. आतप, ८. सूक्ष्म, ९. अपर्याप्ति, १०. साधारण, ११. द्वीन्द्रिय, १२. त्रीन्द्रिय, १३. चतुरिन्द्रिय, १४. नरकगति, १५. नरकगत्यानुपूर्वी, १६. नरक आयु।

तथा दूसरे गुणस्थान में जिन पच्चीस प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है, उनके नाम इसप्रकार हैं – १. अनन्तानुबंधी क्रोध, २. अनन्तानुबंधी मान,

३. अनन्तानुबंधी माया, ४. अनन्तानुबंधी लोभ, ५. स्त्यानगृद्धि, ६. निद्रानिद्रा, ७. प्रचलाप्रचला, ८. दुर्भग, ९. दु:स्वर, १०. अनादेय, ११. न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, १२. स्वाति संस्थान, १३. कुब्जक संस्थान, १४. वामन संस्थान, १५. वज्रनाराच संहनन, १६. नाराच संहनन, १७. अर्धनाराच संहनन, १८. कीलित संहनन, १९. अप्रशस्तविहायोगति, २०. स्त्रीवेद, २१. नीचगोत्र, २२. तिर्यंचगति, २३. तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, २४. उद्योत, २५. तिर्यंच आयु।

इसप्रकार चतुर्थ गुणस्थान में १६+२५ = ४१, प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है और आहारकद्विक के मिला देने पर इनकी संख्या ४३ हो जाती है।

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि 'ज्ञानी को आस्रव-बंध नहीं होता' - इस कथन का तात्पर्य यही है कि ज्ञानी जिस भूमिका में हो, जिस गुणस्थान में हो; उस गुणस्थान तक जिन प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति हो चुकी हो; ज्ञानी को उन प्रकृतियों का आस्रव-बंध नहीं होता। यही अभिप्राय तर्क संगत है, शास्त्र सम्मत है और अनुभवसिद्ध भी है। ●

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो; जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप, ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान, ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो, धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १२८

समयसार गाथा १६७

अब इस आगामी गाथा १६७ में यह कहते हैं कि वास्तविक आस्रव तो मोह-राग-द्वेष ही हैं। मूल गाथा इसप्रकार है –

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥ १६७॥

जीवकृत रागादि ही बंधक कहे हैं सूत्र में ।
रागादि से जो रहित वह ज्ञायक अबंधक जानना ॥ १६७॥

जीवकृत रागादि भाव ही नवीन कर्मों का बंध करनेवाले कहे गये हैं, रागादि से रहित भाव बंधक नहीं हैं; क्योंकि वे तो मात्र ज्ञायक ही हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में लोहचुम्बक का उदाहरण देकर इसप्रकार स्पष्ट किया है।

''जिसप्रकार लोहचुम्बकपाषाण के संसर्ग से लोहे की सुई में उत्पन्न हुआ भाव सुई को गति करने के लिये प्रेरित करता हैं; उसीप्रकार मोह-राग-द्वेष के संपर्क से उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है।

तथा जिसप्रकार लोहचुम्बकपाषाण के विवेक से अर्थात् असंसर्ग से सुई में उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को गति न करने रूप स्वभाव में स्थापित करता है। उसीप्रकार मोह-राग-द्वेष और आत्मा के भेद जान लेनेवाले विवेक से उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव किसी भी कर्म को करने के लिये प्रेरित करने की उत्सुकता से रहित होता हुआ आत्मा को स्वभाव में ही स्थापित करता है।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि रागादि भावों से मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व का प्रेरक होने से बंध करनेवाला है; रागादि अमिश्रित ज्ञानभाव तो स्वभाव का प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है, रंचमात्र भी बंध करनेवाला नहीं।''

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में इसी उदाहरण के माध्यम से यही भाव व्यक्त किया है।

सीधी-सादी सहज सरल बात भी यही है कि रागादि और आत्मा में अभेद जाननेवाला अज्ञानमयभाव ही बंध करनेवाला है और आत्मा और मोह-राग-द्वेषरूप आस्रव भावों में भेद जाननेवाला ज्ञानभाव ही अबंधक है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"सच्चिदानन्द प्रभु भगवान आत्मा तो सदा ही ज्ञानानन्दस्वभावी है; किन्तु राग-द्वेष-मोह के साथ एकत्व होने से अर्थात् रागादि में एकत्वबुद्धि होने से उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म करने को प्रेरित करता है। मैं शुद्ध चिद्रूप चैतन्यस्कंद प्रभु आत्मा हूँ - ऐसे अपने स्वरूप की जिसको खबर नहीं है, वह अपनी वर्तमान पर्याय में उत्पन्न हुए राग-द्वेष-मोह भावों में ही एकत्व स्थापित करके अज्ञानमय भाव उत्पन्न करता है और वे अज्ञानमय भाव उसे कर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति और काम-क्रोध, विषय-वासना आदि विकल्प मेरे कर्तव्य हैं - ऐसा अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म अर्थात् रागादि करने को प्रेरित करता है। अज्ञानमय भाव के कारण आत्मा रागादि का कर्ता होता है। अज्ञानी को अपने शुद्ध स्वरूप की खबर नहीं है, इसकारण वह राग को अपना स्वरूप मानकर एकत्वबुद्धि से राग के कर्तृत्व में प्रेरित होता है।[१]

जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायक का भान हुआ है, उस ज्ञानी के रागादि के साथ अमेल स्वभाव के कारण ज्ञानमय भाव प्रगट हुआ है; इससे उसको रागादि के कर्तृत्वभाव की बुद्धि छूट गई है,। 'मैं राग करूँ' - ऐसा अभिप्राय छूट गया है। भगवान ज्ञायक के साथ एकत्व हो जाने से ज्ञानी को कर्म करने की उत्सुकता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव में कर्म भी नहीं और कर्म का कर्तापना भी नहीं है। ऐसे ज्ञायक को दृष्टि में लेनेवाले ज्ञानी को कर्म करने के प्रति निरुत्सुकता है अर्थात् वह रागादि के कर्तृत्वभाव से विरक्त है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २४४-२४५
२. वही, पृष्ठ २४७

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है। जहाँ वह अपने स्वसंवेदन ज्ञान में पृथक् ज्ञात हुआ कि राग से तत्काल भेदज्ञान हो जाता है। ज्ञानी राग के साथ अपनी मिलावट नहीं करता। वह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पुण्यभावों के साथ एकमेक नहीं होता, पृथक् ही रहता है। ज्ञान राग को जानता है, किन्तु ज्ञान रागमय नहीं होता, भिन्न-भिन्न ही रहता है।[१]

ज्ञानी के जितना रागरूप परिणमन है, वह उसे केवल जानता ही है, करता नहीं है। हाँ, परिणमन की अपेक्षा ज्ञानी को राग का कर्ता भी कहा जाता है; किन्तु वह उस राग को करने योग्य कर्त्तव्य नहीं मानता। मुनिराज को छठवें गुणस्थान में जो रागांश है, परिणमन की दृष्टि से वे उस राग के कर्ता हैं, किन्तु कर्ताबुद्धि से नहीं; क्योंकि कर्ताबुद्धि से राग करने का जीव का स्वभाव ही नहीं।

सारांश यह है कि स्वभाव से तो प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप भगवान सदा अबन्धस्वभावी ही है; किन्तु रागादि रूप पुण्य-पाप के भावों के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानी को अज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है; वह अज्ञानमयभाव रागादि उत्पन्न होने में प्रेरक होने से बन्धक है, बन्धन का काम करनेवाला है।

राग में एकत्व रहित, राग से भिन्न-पृथक् पड़ा हुआ भाव स्वभाव का प्रकाशक है। पुण्य-पाप से अलिप्त भाव स्वभाव का प्रकाशक है; स्वभाव को प्रगट करनेवाला होने से केवल ज्ञायक ही है, किंचित् भी बंधक नहीं है।

ज्ञानी को भी किंचित् राग होता है, किन्तु वह राग में एकत्व नहीं करता; अतः दृष्टि की अपेक्षा से वह उसका स्वामी नहीं होता। परिणमन की अपेक्षा वह राग का स्वामी है; क्योंकि राग का परिणाम कर्म के कारण नहीं होता। ज्ञानी को छठ्ठे गुणस्थान में जो अल्प राग है, उसका वह पर्याय की अपेक्षा स्वयं कर्ता-भोक्ता है। वह भी इस बात को भलीभाँति जानता है कि पर्याय में हो रहा राग मेरी कमजोरी से हो रहा है और मैं ही इसका कर्ता हूँ व भोक्ता

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २४८

भी मैं ही हूँ; न कर्म ने राग कराया है, न वह कर्म उस राग का भोक्ता भी है। हाँ, जब मुझमें राग हुआ, कर्म उस समय निमित्त के रूप में उपस्थित अवश्य था। बस इसी कारण यह कह दिया जाता है कि कर्म से विकार हुआ।[१]

राग करते-करते लाभ होता है, शुभराग से - पुण्यभाव से धर्म होता है - इसप्रकार अबंध स्वभाव को राग के साथ मिलाना, एकमेक करना ही अज्ञान है और वह अज्ञानमय भाव, मिथ्यादर्शन का भाव बन्धक है, बन्ध का ही कारण है तथा भगवान ज्ञायक को बन्धस्वभावी राग के साथ एकमेक (मिलावट) न करके अर्थात् राग से पृथक् करके, भेदज्ञान करके स्वभाव में रहने से जो ज्ञानभाव प्रगट होता है, वह किंचित् भी बन्धक नहीं है। ज्ञानभाव प्रगट होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का किंचित् भी बन्ध नहीं होता।

बस इसी ज्ञानभाव का नाम धर्म है और इसका धारक भगवान आत्मा धर्मी है।[२]''

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि रागादिभाव ही बंध के कारण हैं, रागादि से रहित जो ज्ञानभाव हैं; वे बंध के कारण नहीं हैं। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २४९
२. वही, पृष्ठ २४९-२५०

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं, और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ११४

समयसार गाथा १६८

१६७वीं गाथा में यह कहा था कि मोह-राग-द्वेष भाव ही आस्रव हैं और १६६वीं गाथा में यह कहा था कि ज्ञानी के इन आस्रव भावों का अभाव है। अब १६८वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि ज्ञानी के रागादि भावों से अमिश्रित भाव ही उत्पन्न होता है और इसी कारण उसे बंध नहीं होता।

गाथा मूलत: इसप्रकार है -

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि ॥ १६८॥

पक्वफल जिसतरह गिरकर नहीं जुड़ता वृक्ष से ।
बस उसतरह ही कर्म खिरकर नहीं जुड़ते जीव से ॥ १६८॥

जिसप्रकार पके हुए फल के गिर जाने पर, वह फल फिर उसी डंठल पर नहीं बंधता; उसीप्रकार जीव के कर्मभाव के झड़ जाने पर फिर वह उदय को प्राप्त नहीं होता।

आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार पका हुआ फल एक बार डंठल से गिर जाने पर फिर उसके साथ संबंध को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एक बार अलग हो जाने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि से न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।"

'जीव के कर्मभाव के झड़ जाने पर फिर वह उदय को प्राप्त नहीं होता' - गाथा के इस कथन का आत्मख्यातिकार ने यह अर्थ किया है कि 'कर्मोदय से उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभाव से एकबार अलग हो जाने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि से न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।'

ग्रन्थकार और टीकाकार - दोनों ही आचार्यों के कथन का मर्म तबतक पूरी तरह ख्याल में नहीं आता; जबतक कि पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के भावार्थ को नहीं देख लेते।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ग्रन्थकार और टीकाकार के भाव को भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भाव से) रागादिक से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूप से रागादि में युक्त होता है, वह निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्प बन्ध होता है, वह भी निश्चयदृष्टि से बन्ध है ही नहीं; क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरन्तर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं है; मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं।"

'यदि ज्ञान एकबार रागादि से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादिभाव से मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव सदा रहता है।'

भावार्थ के उक्त कथन से यह बात स्पष्ट है कि यह बात अप्रतिपाती भाव की बात है, क्षायिक सम्यक्त्व की बात है।

इसके लिये मैंने जब पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की ढूंढारी भाषा में लिखी टीका मूलतः देखी तो उसमें इस सन्दर्भ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में इसप्रकार उल्लेख है -

"ऐसें जब जीव का मिथ्यात्व कर्म अनंतानुबंधी सहित सत्त्व मेंसूं क्षय होय जाय; तब फेरि उदय आवे नहीं; तब ज्ञानी भया संता फेरि कर्म का कर्ता नाहीं।"

उक्त कथन से यह बात एकदम साफ हो गई कि जिसप्रकार वृक्ष से फल के एकबार गिर जाने पर वह दुबारा वृक्ष से नहीं बँधता; उसीप्रकार मिथ्यात्वभाव

के एकबार जड़मूल से नष्ट हो जाने पर उसका उत्पाद दुबारा नहीं होता। इसप्रकार अप्रतिपाती ज्ञानभाव उदय को प्राप्त होता है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"देखो, यहाँ कहते हैं कि जिसतरह पका फल एकबार पेड़ से टूटकर जमीन पर गिरने पर पुनः पेड़ की डाल में नहीं लगाया जा सकता; उसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव जो एकबार जीवभाव से छूट जाता है, वह पुनः जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। उपशम-क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होकर जो छूट जाता है, उसकी यहाँ बात नहीं है। जब राग से भिन्न होकर अर्थात् रागादि से भेदज्ञान करके भगवान आत्मा का ज्ञान कर लिया, तो फिर ज्ञानभाव में भले ही कर्म का उदय जानने में आवे, तो भी आत्मा की राग के साथ एकत्वबुद्धि नहीं होती। उदय में आकर पूर्वबद्ध कर्म खिर जाते हैं तथा नवीन कर्मों का बन्ध भी नहीं होता। यहाँ आचार्यदेव अपना अप्रतिहत स्वभाव दर्शाते हैं।[१]

यहाँ यह कहते हैं कि मिथ्यात्व कर्म का उदय खिर जाने पर ज्ञानी को पुनः राग (मिथ्यात्व) का बन्ध हो और राग से एकत्व हो ऐसा बनाव नहीं बनता। अहाहा.....! जिसने राग की एकता तोड़कर एवं ज्ञायकभाव की एकता करके स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ किया है, आत्मानुभव किया है; वह ज्ञानी जीव कभी गिरता नहीं है।[२]"

इस गाथा की टीका लिखने के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसी भाव का पोषक एक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(शालिनी)

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो,
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौधान्;
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २५२
२. वही, पृष्ठ २५२-२५३

(हरिगीत)

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सद्ज्ञान निर्मित भाव जो ॥
भावास्रवों से रहित वे इस जीव के निजभाव हैं ।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं ॥ ११४॥

जीव का जो राग-द्वेष-मोह से रहित, ज्ञान से ही रचित भाव है और जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को रोकनेवाला है; वह ज्ञानमयभाव सर्व भावास्रवों के अभावस्वरूप है।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"मिथ्यात्वरहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमयभाव राग-द्वेष-मोह रहित है और द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है; इसलिये वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है।

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिये मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का अभाव होने पर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है - यह यहाँ कहा गया है।"

इस कलश का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं -

"अशुद्धभाव के मिटने पर अवश्य ही द्रव्यकर्मरूप आस्रव मिटता हैं; इसलिए शुद्धभाव उपादेय है, अन्य समस्त विकल्प हेय हैं।"

इस कलश का भावानुवाद करते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी द्रव्यास्रव और भावास्रव को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि इन दोनों का अभाव ही आत्मा का सम्यक् स्वरूप है; इस कारण सम्यग्ज्ञान के प्रगट होने पर इन दोनों का अभाव सहज ही हो जाता है।

उनका मूल कथन इसप्रकार है -

(सवैया तेईसा)

दर्वित आस्त्रव सो कहिए जहं, पुग्गल जीवप्रदेस गरासै ।
भावित आस्त्रव सो कहिए जहं, राग विरोध विमोह विकासै ॥
सम्यक् पद्धति सो कहिए जहं, दर्वित भावित आस्त्रव नासै ।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक, अंतर बाहिर और न भासै ॥

कार्मणवर्गणा का कर्मरूप परिणमन होकर आत्मप्रदेशों का ग्रस जाना, उनका आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना, दोनों का एक सुनिश्चित काल के लिए एक क्षेत्रावगाह रूप में संबंधित हो जाना द्रव्यास्त्रव है और आत्मा में मोह-राग-द्वेष रूप विकारी भावों का विकसित होना भावास्त्रव है।

इन द्रव्यास्त्रवों और भावास्त्रवों का नाश होना ही सम्यक्त्व है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निर्मल परिणमन है। जब आत्मा में सम्यक्त्व प्रगट होता है, सम्यग्ज्ञानकला जागृत होती है तो फिर अन्तर और बाह्य दोनों में एक ज्ञान ही प्रतिभासित होता है, आत्मा ही प्रतिभासित होता है; अन्य पदार्थ प्रतिभासित नहीं होते। ●

अविकृत स्वभाव जाने बिना स्वभाव का आश्रय सम्भव नहीं और भूमिकानुसार विकारी पर्याय की सत्ता के ज्ञान के अभाव में हमें ज्ञानियों में इस प्रकार की शंकाएँ होने लगती हैं कि जब ये वीतरागता की बात करते हैं तो फिर इनमें रागात्मक आचरण क्यों देखा जाता है ?

पर्याय के सत्य का ज्ञान होने से ज्ञानियों में व्यर्थ की शंका नहीं होती तथा प्रयत्न करने पर भी नहीं टलने वाले स्वयं के राग भाव से भी आकुलता उत्पन्न नहीं होती।

वस्तु के सहज परिणमन का ध्यान आते ही सहज शांति उत्पन्न होती है। **– सत्य की खोज, पृष्ठ १५२**

समयसार गाथा १६९

अब इस १६९वीं गाथा में ज्ञानी जीवों के द्रव्यास्रवों का अभाव है - यह बतलाते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है -

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ॥ १६९॥
जो बंधे थे भूत में वे कर्म पृथवीपिण्ड सम ।
वे सभी कर्म शरीर से हैं बद्ध सम्यग्ज्ञानि के ॥१६९॥

उस ज्ञानी के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय पृथवी (मिट्टी) के ढेले के समान हैं और वे मात्र कार्मणशरीर के साथ बंधे हुए हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जो पहले अज्ञानावस्था में अज्ञान से बंधे हुये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्य द्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गल परिणामवाले होने से ज्ञानी के लिये पृथवी (मिट्टी) के ढेले के समान हैं। वे समस्त द्रव्यकर्म स्वभावत: मात्र कार्मणशरीर के साथ ही बंधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं; इसलिए ज्ञानी के स्वभाव से ही द्रव्यास्रवों का अभाव सिद्ध है।"

प्रश्न : ज्ञानी के मिथ्यात्व है ही कहाँ, जिसे यहाँ पृथवी के ढेले के समान बताया जा रहा है।

उत्तर : यह औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा बात है; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तो द्रव्यमिथ्यात्व (पौद्गलिक मिथ्यात्व) की सत्ता नहीं हैं; किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के तो द्रव्यमिथ्यात्व की सत्ता रहती ही है।

प्रश्न : पृथवी के ढेले के समान का क्या अर्थ है ?

उत्तर : जिसप्रकार पृथवी का ढेला आत्मा के अहित में निमित्त भी नहीं है; उसीप्रकार सत्ता में पडा हुआ द्रव्यमिथ्यात्व आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाने में निमित्त भी नहीं है।

आचार्य जयसेन इसी गाथा की टीका में सत्ता में पड़े हुए द्रव्यमिथ्यात्वादि कर्मों को पृथवी के पिण्ड के समान **अकिंचित्कर** कहते हैं; मुट्ठी में रखे हुए विष का उदाहरण देकर भी इस बात को स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं -

"यद्यपि उस ज्ञानी जीव के द्रव्यप्रत्यय मुट्ठी में रखे हुए विष के समान कार्मणशरीर के रूप में सत्ता में रहते हैं; तथापि उदय के अभाव में सुख-दु:खरूप विकृति के रूप में बाधा नहीं करते। इसकारण ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता - यह भावार्थ है।"

तात्पर्य यह है कि जहर कितना ही खतरनाक क्यों न हों, जबतक उसे खाया नहीं जायेगा, खतरा नहीं होगा; क्योंकि मुट्ठी में रखा हुआ जहर अपना असर दिखाने में असमर्थ होता है। उसीप्रकार द्रव्यकर्म जबतक उदय में न आवे, तबतक कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि सत्ता में पड़ा हुआ द्रव्यकर्म तो पृथवी के पिण्ड के समान अकिंचित्कर ही होता है, अकार्यकारी ही होता है।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है-

"जिसने अपने ज्ञायक-तत्त्व को राग से भिन्न किया एवं पर्याय में ज्ञान व आनन्द का स्वाद लिया है, उस धर्मी को पूर्व में अज्ञान से बँधे हुए जो जड़कर्म परमाणु अथवा दर्शनमोह का थोड़ा-सा अंश जो कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के होने पर भी रहता है; वह तथा अविरति, कषाय व योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं; किन्तु वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले होने से ज्ञानी की दृष्टि में मिट्टी के ढेले के समान हैं। जिसतरह मिट्टी का ढेला अजीव है, ज्ञेय है; उसीतरह वे कर्मप्रत्यय भी अजीव हैं, ज्ञेय हैं। जिसतरह मिट्टी का ढेला पुद्गल स्कन्ध है; उसीतरह कर्म भी पुद्गल स्कन्ध है।

वे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग के परमाणु जो जड़-अचेतन हैं; वे मात्र कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं। मिथ्यात्वादि जड़प्रत्ययों का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है तथा पर्याय में द्रव्यकर्म के साथ जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ज्ञानियों ने उस सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया है अर्थात् द्रव्यकर्म का पुद्गल कार्मणशरीर के साथ ही कर्ता-कर्म सम्बन्ध है। त्रिकाल चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा का द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। ज्ञानी को वर्तमान पर्याय में जो द्रव्यकर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसने उसे भी तोड़ लिया है। इसकारण सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वप्रकृति कदाचित् सत्ता में होवे; तथापि उस प्रकृति के परमाणुओं का कार्मणशरीर के साथ सम्बन्ध है, जीव के साथ नहीं। ज्ञानी का द्रव्यास्रव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही है।

जिसतरह शरीर, वाणी, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार आदि परपदार्थ पर ही हैं, इनके साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है; उसीतरह ज्ञानी को द्रव्यास्रवों से कोई सम्बन्ध नहीं। परवस्तु अपने-अपने कारण द्रव्य-गुण रूप से कायम रहकर पर्याय में पलट रही है। शरीर अपने द्रव्य-गुणों में अपनी पर्याय पलट कर रह रहा है। शरीर अपने द्रव्य-गुण में अपनी पर्याय कर रहा है। अन्य आत्मा, अन्य शरीर अथवा पुद्गल अपने-अपने द्रव्य-गुण में अपनी-अपनी पर्याय करके रह रहे हैं। कार्मणशरीर भी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहता है। कर्मपरमाणु आत्मा की पर्याय में नहीं आते। भाई! आत्मा का व परपदार्थों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जिसको ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा का आश्रय हुआ है, उस ज्ञानी को द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही सिद्ध है; क्योंकि परमाणुओं का सम्बन्ध जड़ के साथ ही है।[१]

द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय ज्ञानी के द्रव्यस्वभाव में तो हैं ही नहीं, किन्तु उसकी पर्याय में भी इनका अभाव है। जैसा पर्याय में राग-द्वेष का सम्बन्ध है, वैसा पर्याय में कर्म का सम्बन्ध नहीं है। उसका बन्ध व सम्बन्ध पौद्गलिककार्मणशरीर के साथ ही है, चिन्मय जीव के साथ नहीं। भगवान आत्मा तो प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप चैतन्यमय ही है, इसके साथ जड़-अचेतन कर्म का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।[२]

ज्ञानी के भावास्रव का अभाव होने से द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय नवीन कर्म के आस्रव के कारण नहीं होते। जड़कर्म उदय में आते हैं, किन्तु मिथ्यात्व व तत्सम्बन्धी राग-द्वेषरूप भावास्रव नहीं है; अतः पुराना कर्म नवीन बन्ध का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २६२-२६३
२. वही, पृष्ठ २६४

कारण नहीं होता। पहले यह बात आ चुकी है कि जड़कर्म वास्तविक आस्रव हैं तथा नवीन बन्ध के कारण हैं, किन्तु केवल उन्हें, जो मिथ्यात्व व राग-द्वेषरूप परिणमन करते हैं।

यदि मिथ्यात्व व राग नहीं करें तो वह कर्म का उदय नवीन आस्रव का कारण नहीं होता। इसकारण इस अपेक्षा से भी ज्ञानी को द्रव्यास्रव का अभाव है।

एक तो द्रव्यास्रव पुद्गल हैं; इसकारण सम्बन्ध नहीं है तथा दूसरे ज्ञानी के भावास्रव का अभाव है, इसकारण द्रव्यास्रव बन्ध का कारण नहीं होने से ज्ञानी के द्रव्यकर्म नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी को द्रव्यास्रव का अभाव ही है।[१]"

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैक भावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ११५॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव से भिन्न है भावास्रव को नाश ।
सदा ज्ञानमय निरास्रव ज्ञायकभाव प्रकाश ॥ ११५॥

द्रव्यास्रवों से स्वभाव से ही भिन्न और भावास्रवों के अभाव को प्राप्त सदा एक ज्ञानमय भाववाला ज्ञानी निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है।

यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञानी द्रव्यास्रवों से तो स्वभावतः ही भिन्न है और उसने भावास्रवों का अभाव कर लिया है। इसप्रकार द्रव्यास्रवों और भावास्रवों के अभाव से ज्ञानी सदा निरास्रव ही है।

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी अत्यन्त सरल शब्दों में इसप्रकार करते हैं –

(चौपाई)

जो दरवास्रव रूप न होई। जहं भावास्रव भाव न कोई ।
जाकी दसा ग्यानमय लहिये। सो ग्यातार निरास्रव कहिये ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २६४

जो द्रव्यास्रवरूप नहीं होता है, जिसमें कोई भी भावास्रवरूप भाव नहीं होते, जिसकी दशा ज्ञानमय हो गई है; वह ज्ञानी सदा निरास्रव ही कहा जाता है।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं -

"जिसको राग का कर्तृत्व छूटकर निज आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अनुभव हुआ; उस धर्मात्मा ने भावास्रव का अभाव कर दिया है। सम्यग्दृष्टि के भावास्रव का अर्थात् मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का अभाव ही है- यह नास्ति से कहा। यदि अस्ति से कहें तो धर्मी जीव ने अपने त्रिकाल ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा को प्राप्त कर लिया है।

अज्ञानी अनादि से राग-द्वेष-मोहरूप - भावास्रव रूप हो रहा था। ये राग-द्वेष मेरे कर्त्तव्य हैं, अनादि से ऐसा कर्त्तापना मान रहा था। अब कर्त्तापना त्याग करके वही जीव ऐसा मानने लगता है कि मैं तो परमानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यघन प्रभु एकमात्र ज्ञाता-दृष्टास्वभावी हूँ और सारा जगत मात्र ज्ञेय है, दृश्य है, तथा ऐसा विचार करता हुआ अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को ध्येय बनाकर उसमें अन्तर्लीन होता है, तब वह भावास्रव का अभाव करता हुआ ज्ञानी होता है।[१]

यह बात मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव की अपेक्षा से जानना।[२]

इसप्रकार यहाँ ज्ञानी को मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय के अभाववाला होने से एवं समकित व स्वरूपस्थिरतावाला होने से निरास्रव कहा है। कोई एकान्त से ऐसा मान बैठे कि उसे आस्रव का अस्तित्व ही नहीं है, सो ऐसा नहीं है।[३]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा द्रव्यास्रवों से तो भिन्न है ही और भावास्रवों का ज्ञानी ने अभाव कर दिया है। इसप्रकार ज्ञानमयभाव से सम्पन्न ज्ञानी सदा निरास्रव ही है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २६५
२. वही, पृष्ठ २६९
३. वही, पृष्ठ २६९

समयसार गाथा १७०–१७१

विगत गाथा और कलश में कहा था कि ज्ञानी सदा निरास्रव ही है। अत: जिज्ञासुओं के हृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि बंधनबद्ध ज्ञानी निरास्रव कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ही आगामी गाथाओं का जन्म हुआ हैं, जो मूलत: इसप्रकार हैं -

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु ॥ १७०॥
जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१॥

प्रतिसमय विध-विध कर्म को सब ज्ञान-दर्शन गुणों से ।
बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ज्ञानी अबंधक इसलिए ॥ १७०॥
ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में ।
अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा ॥ १७१॥

चार प्रकार के द्रव्यास्रव (द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानदर्शन गुणों के द्वारा समय-समय पर अनेकप्रकार के कर्मों को बाँधते हैं, इसकारण ज्ञानी तो अबंध ही है।

क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर भी अन्यरूप से परिणमन करता है; इसलिए वह ज्ञानगुण कर्मों का बंधक कहा गया है।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण निरास्रव ही हैं, परन्तु उसे भी द्रव्यप्रत्यय प्रतिसमय अनेकप्रकार का पुद्गल कर्म बाँधते हैं; उसमें ज्ञानगुण का परिणमन ही कारण है; क्योंकि जबतक ज्ञानगुण का जघन्यभाव है, क्षायोपशमिक भाव है; तबतक वह ज्ञानगुण अन्तर्मुहूर्त में

विपरिणाम को प्राप्त होता है। इसीलिए पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है। वह ज्ञानगुण का जघन्यभाव से परिणमन यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।''

इन गाथाओं और उनकी टीकाओं का भाव खोलते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''क्षायोपशमिक ज्ञान एक ज्ञेय पर अंतर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य ज्ञेय को अवलम्बता है, स्वरूप में भी वह अंतर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर वह विपरिणाम को प्राप्त होता है; इसलिए ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सविकल्पदशा में हो या निर्विकल्प अनुभवदशा में हो, उसे यथाख्यातचारित्र अवस्था होने से पूर्व में अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है और राग होने से बन्ध भी होता है; इसलिए ज्ञानगुण के जघन्यभाव को बन्ध का हेतु कहा गया है।''

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ १७०वीं गाथा और उसकी टीका में – ज्ञानी जीवों के ७७ प्रकृतियों का जो बंध होता है – उसका कारण ज्ञान-दर्शन गुण या उनके परिणमन को कहा गया है।

यह पढ़कर यह शंका होना अत्यन्त स्वभाविक है कि ज्ञान-दर्शन गुण या उनका परिणमन बंध का कारण कैसे हो सकता है ?

इसका समाधान १७१वीं गाथा में यह कहकर किया गया है कि जबतक ज्ञान-दर्शन गुण का परिणमन जघन्यभाव से होता है, क्षायोपशमिक भाव के रूप में होता है; तबतक यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे राग का सद्भाव अवश्य होता है। वस्तुतः तो वह राग ही बंध का कारण है; पर अविनाभावी संबंध देखकर यहाँ ज्ञान-दर्शन गुण या उसके परिणमन को बंध का कारण कह दिया है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

उक्त प्रकरण का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

''अब यहाँ शिष्य पुनः पूछता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बंध का कारण किसप्रकार है ? इसी के उत्तर में आचार्यदेव ने यह गाथा कही है।

वे कहते हैं कि अभिप्राय की अपेक्षा से ज्ञानी को निरास्रव कहा, परिणति में तो उसे अस्थिरता की कमजोरी का राग - आस्रवभाव है तथा उतना बन्ध भी है। ज्ञानी के ज्ञान की परिणति जबतक केवलज्ञानपने प्रगट नहीं होती है अर्थात् जबतक ज्ञानगुण जघन्यभाव से (अल्पभाव से) परिणमित होता है; तबतक वह विपरिणाम को पाता ही है। आत्मा स्वयं स्वभाव से तो ज्ञानस्वरूप चिदानन्द भगवान परमात्मा है तथा ज्ञानी को ऐसे भानपूर्वक शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव भी हुआ है; किन्तु अन्तर्ध्यान में अर्थात् आत्मा के अनुभव की दशा में तो यह अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है; इसकारण ध्यान में तो विशेष रह नहीं सकता, उस स्थिति में ज्ञानी को भी विकल्प उठते हैं; चाहे वे विकल्प व्रतादि के हों या विषय-कषाय के, राग तो आता ही है। वहाँ ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन होने से अन्तर्मुहूर्त काल में उसका विपरिणमन हो ही जाता है अर्थात् राग का परिणमन आ ही जाता है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो तो भी निर्विकल्प अनुभव में आने के बाद अन्तर्मुहूर्त में अनुभव की परिणति से विपरीत रागभाव आ जाता है अर्थात् पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन हो जाता है।[१]

अहा ! एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी निरास्रव ही है तथा दूसरी ओर कहते हैं कि - यथाख्यातचारित्र होने से पूर्वतक राग है - यह क्या बात है ?

भाई ! अभिप्राय एवं अभिप्राय के विषय की अपेक्षा से ज्ञानी को निरास्रव कहा है; किन्तु परिणमन में तो अति जघन्यपना है, उस अपेक्षा से उसे अल्प रागांश विद्यमान है एवं तत्प्रमाण बन्ध भी है। यहाँ तक कि गणधरदेव को भी तथा तीर्थंकरों को भी जबतक छद्मस्थ दशा है, तबतक रागांश है और वह रागांश उनके लिये भी बन्धन का कारण है।

भाई ! वीतराग की वाणी में जहाँ जो जिस अपेक्षा कथन है, उसे यथार्थ जानना-समझना चाहिए। तीर्थंकर हों या गणधर हों, जबतक चारित्र की पूर्णता न हो, तबतक राग जरूर होता है। साधक दशा में जितना अतीन्द्रिय आनन्द

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २७४

का स्वाद आया, उतनी ज्ञानधारा है - मुक्तिमार्ग है तथा जितना राग है, वह कर्मधारा है, बन्ध का कारण है।[१]

भाई! यह वीतराग का मार्ग है। वीतराग भगवान का उपदेश तो यह है कि तुझे सुखी होना हो तो हमारे सामने खड़े होकर जो बारम्बार हमारे दर्शन-अर्चन-वन्दन करता है - यह सब करना छोड़ दे और अन्तर्मुख होकर अपने त्रिकाली भगवान आत्मा को देख।

भावार्थ यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञान निजस्वरूप में अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में अन्तर्मुहूर्त ही रह सकता है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छद्मस्थ का उपयोग नियम से स्वरूप से विचलित होकर पर का अवलम्बन ले लेता है तथा पर के अवलम्बन लेते ही उससे आत्मा में रागभाव हो जाता है।

अहाहा ! कितना स्पष्ट किया है ? सच्चा संत हो या समकिती ज्ञानी हो; जबतक राग है, तबतक बन्ध है - इस वास्तविकता को जानना चाहिए। दृष्टि की अपेक्षा ज्ञानी निरास्रव होते हुए भी परिणति में जो जघन्य परिणमन है, वह निश्चित ही बन्ध का कारण है।[२]''

प्रश्न : यदि जघन्यभाव से परिणमित ज्ञानगुण के साथ अविनाभावी रूप से रहनेवाले रागादि भावों से ही बंध होता है तो फिर ज्ञानगुण को बंध का कारण कहना क्या अनुचित नहीं लगता ?

उत्तर : अरे भाई ! इसमें उचित-अनुचित का क्या सवाल है; जो वस्तुस्थिति है, उसे समझना चाहिए; जो अपेक्षा हो, उसे अच्छी तरह समझना चाहिए।

इसप्रकार की आशंका आचार्य जयसेन के समक्ष भी उपस्थित हुई होगी और कुछ लोग '**ज्ञान-दर्शन गुणों**' के स्थान पर '**अज्ञान-दर्शन गुणों**' शब्द का उपयोग भी करते होंगे। यही कारण है कि वे लिखते हैं -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २७५
२. वही, पृष्ठ २७६

"ज्ञान-दर्शन गुण बंध के कारण कैसे हो सकते हैं - यदि कोई ऐसा कहे तो उससे कहते हैं कि यहाँ भाव यह है कि जब द्रव्यप्रत्यय उदय में आते हैं; तब जीव के ज्ञान-दर्शन दोनों गुण रागादि रूप अज्ञानभाव से परिणमित होते हैं और तब अज्ञानभाव से परिणमित वे ज्ञान-दर्शन गुण बंध के कारण होते हैं। वास्तव में तो रागादि अज्ञानभाव से परिणमित ज्ञान-दर्शन गुण अज्ञान ही कहे जाते हैं। कुछ लोग तो '**अणाणदंसणगुणेहि**' इसप्रकार का पाठान्तर भी पढ़ते हैं, मानते हैं।"

आचार्य जयसेन १७१वीं गाथा का अर्थ यद्यपि अमृतचन्द्र के समान ही करते हैं; तथापि द्वितीय व्याख्यान के रूप में दूसरा अर्थ भी करते हैं; जो इसप्रकार है -

"मिथ्यादृष्टि के ज्ञानगुण से काललब्धि के वश से सम्यक्त्व प्राप्त होने पर वह ज्ञानगुण मिथ्यापर्याय को छोड़कर अन्यरूप याने सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन करता है। इसलिए वह ज्ञानगुण अथवा ज्ञानगुणरूप परिणत जीव, सम्यग्ज्ञानी जीव अबन्धक कहा जाता है।"

उक्त दोनों अर्थों में मूलभूत अन्तर यह है कि मूल व्याख्यान में तो जघन्यभाव का अर्थ यथाख्यात चारित्र के पूर्व की स्थिति ली है और दूसरे व्याख्यान में मिथ्यात्व अवस्था को लिया है। ●

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों में जोश और प्रौढ़ों में होश की प्रधानता होती है। युवकों में जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है; उतना अनुभव नहीं होता। इसीप्रकार प्रौढ़ों में जितना अनुभव होता है, उतना जोश नहीं।

कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश - दोनों की ही आवश्यकता होती है। अतः देश व समाज को दोनों की ही आवश्यकता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।

- डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित जोश एवं होश नामक निबन्ध से

समयसार गाथा १७२

यहाँ फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ज्ञानगुण का जघन्यभाव बंध का कारण है तो फिर ज्ञानी को निरास्रव कैसे कह सकते हैं ?

इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी गाथा का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार है -

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२॥

ज्ञान-दर्शन-चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे ।
तब विविध पुद्गल कर्म से इसलोक में ज्ञानी बंधे ॥ १७२॥

क्योंकि उक्त ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमित होते हैं; इसलिए ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गलकर्म से बंधता है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रवभावों का अभाव होने से वह निरास्रव ही है; परन्तु वह ज्ञानी जबतक ज्ञान (आत्मा) को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त रहता हुआ जघन्यभाव से ज्ञान (आत्मा) को देखता है, जानता है और आचरण करता है; तबतक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति से जिसका अनुभव हो सकता है - ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विधान का सद्भाव होने से, पुद्गलकर्म का बंध होता है। इसलिए ज्ञान (आत्मा) को तबतक देखना, जानना और आचरण करना चाहिए, जबतक कि ज्ञान का जितना पूर्णभाव है, उतना देखने, जानने और आचरण में भली-भाँति (न) आ जावे।

उसके बाद आत्मा साक्षात् ज्ञानी होता हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है।"

यद्यपि उक्त टीका में सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो गई है; तथापि जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ से और भी अधिक स्पष्टता हो जाती है। वह भावार्थ इसप्रकार है -

"ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है; परन्तु जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तबतक वह ज्ञान ज्ञानी को सर्वोत्कृष्ट भाव से न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्यभाव से देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है; इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी राग-द्वेष) विद्यमान है और इससे उसके बन्ध भी होता है। इसलिए उसे यह उपदेश है कि जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तबतक निरन्तर ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिये, ज्ञान को ही देखना चाहिए, ज्ञान को ही जानना चाहिये और ज्ञान का ही आचरण करना चाहिये। इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है। जब केवलज्ञान प्रगटता है, तबसे आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्वप्रकार से निरास्रव है।

जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है; तबतक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह विवक्षा की विचित्रता है। अपेक्षा से समझने पर यह सर्व कथन यथार्थ है।"

इस गाथा और उसकी टीका का भाव खोलते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"जो वास्तविक ज्ञानी हैं, उनके बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक - इच्छापूर्वक, अज्ञानपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभावों का अभाव होने से वे निरास्रव ही हैं। धर्मी को अभिप्राय में आस्रवभावों का अभाव होने से तथा उनका स्वामीपना नहीं होने से उनको निरास्रव कहा है। जड़ द्रव्यास्रव का तो उनके स्वभाव से ही अभाव है और आस्रवभावों के कर्तापने का भी उसके अभिप्राय में श्रद्धान नहीं है, इसकारण ज्ञानी निरास्रव है। जो आस्रव होता है, उसमें ज्ञानी की जघन्य - हीन परिणति ही कारण है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २८०

अबुद्धिपूर्वक राग के दो अर्थ होते हैं -

(१) अबुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचि (एकत्वबुद्धि) बिना जो राग होता है, उसे अबुद्धिपूर्वक राग कहा जाता है। यहाँ यह पहला अर्थ ही इष्ट है।

(२) पण्डित ब्र. रायमल्ल ने अबुद्धिपूर्वक राग का यह अर्थ किया है कि जो राग जानने में नहीं आता - ज्ञान की पकड़ में नहीं आता - ऐसा सूक्ष्मराग अबुद्धिपूर्वक राग कहलाता है।

ज्ञानी को पाप के परिणाम की तो बात ही क्या, पुण्य के परिणाम की भी रुचि नहीं होती; अत: वह पुण्य के परिणाम की भी भावना नहीं करता। जिसको आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता की ही भावना है एवं रागादि आस्रवभाव बिल्कुल नहीं है। ऐसा ज्ञानी तो निरास्रव ही है।[१]

पिछली गाथाओं में ऐसा कहा गया था कि यथाख्यात चारित्र होने के पूर्वतक ज्ञानी जघन्यभाव से ही परिणमता है; इससे उसके राग भी है और बन्ध भी है। यहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञानी जबतक ज्ञान को अर्थात् शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा को जघन्यभाव से ही देखता, जानता व आचरण करता है तथा सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने व आचरण करने में समर्थ नहीं है; तबतक उसे राग है तथा उस राग से बन्ध भी है।[२]

असमर्थता अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के उदय के जोर से या उसकी बलजोरी से नहीं। शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा कथन मिलता है कि ज्ञानी के कर्म के उदय का जोर है, इसकारण उसको राग-द्वेष होते हैं; किन्तु उसका अर्थ मात्र इतना ही है कि ज्ञानी को राग-द्वेष की रुचि नहीं है। रुचि के बिना ही अथवा उत्साह के बिना ही उसे राग-द्वेष हो जाते हैं। ज्ञानी को राग की रुचि नहीं है - यह दर्शाने के लिये ही कर्म के उदय की बलजोरी

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २८१
२. वही, पृष्ठ २८१

से राग हुआ - ऐसा बताया गया है। जिसप्रकार किसी को स्वयं तो नाटक-सिनेमा देखने में उत्साह नहीं है और रुचि भी नहीं है; तथापि कोई आग्रह करे तो चला भी जाता है और देखता भी है; तब अरुचि दर्शाने के लिये उसके द्वारा यही कहा जाता है कि अमुक नहीं माना, इसलिए मैं चला गया था, मेरी तो इच्छा नहीं थी। इसीतरह ज्ञानी की रुचि नहीं है; अत: कर्म के उदय के जोर से राग हुआ - ऐसा आगम में कहा जाता है।[१]

क्षायिक श्रद्धान में तो सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में पूर्ण आत्मा आ गया है; किन्तु देखने-जानने में और आचरण करने में जैसा पूर्ण आना चाहिए; वैसा अभी वर्तमान में नहीं आया है। यहाँ भगवान आत्मा का सर्वोत्कृष्ट भाव से देखना-जानना अर्थात् परिपूर्ण आश्रय करके देखने-जानने की बात है। यहाँ पर अरहन्तादि भगवान को जानने-देखने की बात नहीं है, किन्तु अपने पूर्ण स्वरूप को देखने की बात है।[२]

इसलिए कहते हैं कि जबतक सर्वोत्कृष्ट रूप से जानना-देखना व आचरण न हो; तबतक अन्तर में जानने-देखने व आचरण करने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। यहाँ दर्शन-ज्ञान व चारित्र तीनों लिये हैं।[३]''

इस गाथा की टीका पूरी करते हुए आचार्यदेव इसी भाव का पोषक एक कलशकाव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
बारंबारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ११६॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ २८१-२८२
२. वही, पृष्ठ २८३
३. वही, पृष्ठ २८४

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से कर दीना परित्याग।
सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग ॥
बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने।
और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने ॥
निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को।
रहे निरास्रव सदा उखाडे परपरिणति को ॥ ११६॥

ज्ञानी आत्मा स्वयं ही अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ और अबुद्धिपूर्वक राग को जीतने के लिये स्वशक्ति को बारंबार स्पर्श करता हुआ तथा समस्त परपरिणति को उखाड़ता हुआ एवं ज्ञान के पूर्णभाव में प्राप्त होता हुआ सदा ही निरास्रव रहता है।

इस कलश में ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को निरास्रव सिद्ध करते हुए यह कहा गया है कि ज्ञानी ने बुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादि को तो छोड़ ही दिया है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिभावों का नाश करने के लिये ज्ञानीजन बार-बार स्वशक्ति का स्पर्श करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे बारंबार निज आत्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाते हैं, उसका ध्यान करते हैं; क्योंकि राग के नाश का एकमात्र यही उपाय है। इसप्रकार वे सम्पूर्ण आस्रवभावों का अभाव करते हुए सदा ही निरास्रव हैं।

प्रश्न : बुद्धिपूर्वक राग और अबुद्धिपूर्वक राग में क्या अन्तर है ?

उत्तर : पाण्डे राजमलजी कलशटीका में इस कलश का अर्थ करते हुए बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का अर्थ इसप्रकार करते हैं -

"भावार्थ इसप्रकार है - मिथ्यात्व रागद्वेषरूप हैं जो जीव के अशुद्धचेतनारूप विभाव परिणाम; वे दो प्रकार के हैं - एक परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं, एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक हैं। विवरण - बुद्धिपूर्वक कहने पर जो सब परिणाम मन के द्वारा प्रवर्तते हैं, बाह्य विषय के आधार से प्रवर्तते हैं। प्रवर्तते हुए वह जीव आप भी जानता है कि मेरा परिणाम इस रूप है। तथा अन्य जीव

भी अनुमान करके जानता है जो इस जीव के ऐसा परिणाम है। ऐसा परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है। सो ऐसे परिणाम को सम्यग्दृष्टि जीव मेट सकता है; क्योंकि ऐसा परिणाम जीव की जानकारी में है। शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर जीव के सहारा का भी है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव पहले ही ऐसा परिणाम मेटता है।

अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहने पर पाँच इन्द्रिय और मन के व्यापार के बिना ही मोहकर्म के उदय का निमित्त कर मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध विभावपरिणामरूप आप स्वयं जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशों में परिणमता है सो ऐसा परिणमन जीव की जानकारी में नहीं है और जीव के सहारा का भी नहीं है; इसलिए जिस किसी प्रकार मेटा जाता नहीं। अतएव ऐसे परिणाम को मेटने के लिये निरन्तरपने शुद्धस्वरूप को अनुभवता है, शुद्धस्वरूप का अनुभव करने पर सहज ही मिटेगा। दूसरा उपाय तो कोई नहीं; इसलिए एक शुद्धस्वरूप का अनुभव उपाय है।

ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध दो प्रकार है - एक तो जानपनामात्र है, राग-द्वेषरूप नहीं है। यथा - केवली सकल ज्ञेयवस्तु को देखते जानते हैं; परन्तु किसी वस्तु में राग-द्वेष नहीं करते। उसका नाम शुद्ध ज्ञानचेतना कहा जाता है। सो सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञानचेतनारूप जानपना है; इसलिए मोक्ष का कारण है, बन्ध का कारण नहीं है।

दूसरा जानपना ऐसा जो कितनी ही विषयरूप वस्तु का जानपना भी है और मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर इष्ट में राग करता है, भोग की अभिलाषा करता है तथा अनिष्ट में द्वेष करता है, अरुचि करता है। सो ऐसे राग-द्वेष से मिला हुआ है जो ज्ञान उसका नाम अशुद्ध चेतनालक्षण कर्मचेतना-कर्मफलचेतनारूप कहा जाता है; इसलिए बन्ध का कारण है। ऐसा परिणमन सम्यग्दृष्टि के नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्वरूप परिणाम गया होने से ऐसा परिणमन नहीं होता है। ऐसा अशुद्ध ज्ञानचेतनारूप परिणाम मिथ्यादृष्टि के होता है।"

इसी भाव को समेटते हुए बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक,
तिह परिनामन की ममता हरतु है ।
मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक भाव,
तिनके विनासिवे कौं उद्दिम धरतु है ॥
याही भाँति पर परनति कौ पतन करै,
मोख कौ जतन करै भौ-जल तरतु है ।
ऐसे ग्यानवंत ते निरास्रव कहावैं सदा,
जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है ॥

जितने रागादिभाव मन के द्वारा जानने योग्य हैं, प्रगट हैं; उन्हें बुद्धिपूर्वक कहते हैं। ज्ञानीजीव उन रागादिभावों में एकत्व-ममत्व नहीं करते। और जो मन के द्वारा जानने में नहीं आते - ऐसे अबुद्धिपूर्वक रागादिभाव हैं, उनका नाश करने के लिए ज्ञानी जीव ने उद्यम आरंभ किया है। इसप्रकार वे ज्ञानी जीव रागादिभावरूप परपरिणति का नाश करते हैं, मोक्ष का पुरुषार्थ करते हैं और संसार-सागर से पार होते हैं। - ऐसे ज्ञानी जीव सदा ही निरास्रव कहे जाते हैं और उनका सुयशगान विचक्षण (चतुर) पुरुष करते हैं।

पाण्डे राजमलजी एवं कविवर पण्डित बनारसीदासजी बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का जो अर्थ करते हैं; उससे पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा सहमत नहीं हैं। उनका कहना यह है कि सविकल्प दशा में होने वाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो होते हैं; तथापि वे अबुद्धिपूर्वक ही हैं। उनके अनुसार ज्ञात होने मात्र से वे बुद्धिपूर्वक नहीं हो जाते।

इस कलश के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक का अर्थ करते समय इस बात को भी स्पष्ट कर देते हैं। वह भावार्थ इसप्रकार है -

"ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिये उद्यम किया करता है, उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिये वह सदा निरास्रव ही कहलाता है।

परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है - अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिये निजशक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार है - जो रागादि परिणाम इच्छा सहित होते हैं, सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छारहित परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं, सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादि परिणाम होते हैं, वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं। सविकल्पदशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं; तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना इच्छा के ही होते हैं।"

इसप्रकार इस कलश में यह कहा गया है कि ज्ञानी आत्मा ने बुद्धिपूर्वक होने वाले रागादि को तो छोड़ ही दिया है और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले रागादिभावों के त्याग के लिये वह बारंबार आत्मा का स्पर्श करता है, आत्मानुभव करता है। इसप्रकार वह पूर्णत: निरास्रव होने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है तथा उसका यह प्रयास यथासमय सफल भी होता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि रागादिभावों का अभाव आत्मा के स्पर्श से होता है, आत्मानुभव से होता है। अत: आत्मा के कल्याण का मार्ग एकमात्र आत्मानुभव ही है। आत्मानुभव ही सच्चा धर्म है।

अब आगामी चार गाथाओं की उत्थानिकारूप कलशकाव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवैति चेन्मतिः ॥ ११७॥

(दोहा)

द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥ ११७॥

ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रवों की संतति विद्यमान होने पर भी यह क्यों कहा गया है कि ज्ञानी सदा ही निरास्रव है - यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है।

इस कलश का भाव एकदम सीधा-सादा है कि जब द्रव्यास्रवों की सम्पूर्ण संतति विद्यमान है तो फिर ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ?

कलश टीका में इसका विस्तार इसप्रकार किया है -

"यहाँ कोई आशंका करता है - सम्यग्दृष्टि जीव सर्वथा निरास्रव कहा और ऐसा ही है; परन्तु ज्ञानावरणादि द्रव्यपिण्ड जैसा था, वैसा ही विद्यमान है। तथा उस कर्म के उदय में नाना प्रकार की भोगसामग्री जैसी थी, वैसी ही है। तथा उस कर्म के उदय में नानाप्रकार के सुख-दुःख को भोगता है, इन्द्रिय-शरीर-सम्बन्धी भोग सामग्री जैसी थी, वैसी ही है। सम्यग्दृष्टि जीव उस सामग्री को भोगता भी है। इतनी सामग्री के रहते हुए निरास्रवपना कैसे घटित होता है? ऐसा कोई प्रश्न करता है।"

कलश टीका के इस भाव को कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार छन्दोबद्ध किया है -

(सवैया तेईसा)

ज्यौं जग मैं विचरै मतिमंद, सुछंद सदा वरतै बुध तैसो ।
चंचल चित्त असंजित वैन, सरीर-सनेह जथावत जैसो ॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह, मोह विलास करै जहं ऐसो ।
पूछत सिष्य आचारज सौं यह, सम्यकवंत निरास्रव कैसो ॥

जिसप्रकार मंदमति मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दता से विचरण करता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी विचरण करता है। जिसप्रकार अज्ञानी का चित्त चंचल होता है, वाणी असंयत होती है, शरीर के प्रति प्रेम होता है, भोगों का संयोग होता है, परिग्रह का संग्रह होता है और मोह का विलास होता है; उसीप्रकार ज्ञानी के भी देखा जाता है। शिष्य आचार्यश्री से पूछता है कि ऐसी स्थिति में आप सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कैसे करते हो ?

यद्यपि इस कलश में मात्र प्रश्न ही खड़ा किया गया है, आशंका ही प्रस्तुत की गई है; तथापि इस प्रश्न के समर्थन में, इस आशंका के समर्थन में समर्थ तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। कहा गया है कि आपने तो कह दिया कि सम्यग्दृष्टि निरास्रव होते हैं; पर हमें तो उनका सम्पूर्ण आचरण मिथ्यादृष्टियों जैसा ही दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में उन्हें निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ?

इस सशक्त आशंका का सोदाहरण एवं सयुक्ति निराकरण आगामी चार गाथाओं में किया जा रहा है। ●

जिसप्रकार साबुन लगाये बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगे रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो ?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५५

समयसार गाथा १७३ से १७६

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७४॥
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६॥

सद्दृष्टियों के पूर्वबद्ध जो कर्मप्रत्यय सत्त्व में ।
उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें ॥ १७३॥
अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह ।
ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म बाँधे उसतरह ॥ १७४॥
बालवनिता की तरह वे सत्त्व में अनभोग्य हैं ।
पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते ॥ १७५॥
बस इसलिए सद्दृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा ।
क्योंकि आस्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सकें ॥ १७६॥

सम्यग्दृष्टिजीव के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (रागादि) के द्वारा नवीन बंध करते हैं। निरुपभोग्य होकर भी वे प्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य होते हैं, उसीप्रकार सात-आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधते हैं।

जिसप्रकार जगत में बाल स्त्री पुरुष के लिये निरुपभोग्य है और तरुणस्त्री (युवती) पुरुष को बाँध लेती है; उसीप्रकार सत्ता में पड़े हुए वे कर्म निरुपभोग्य हैं और उपभोग्य होने पर, उदय में आने पर बंधन करते हैं। इसकारण से सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है; क्योंकि आस्रवभाव के अभाव में प्रत्ययों को बंधक नहीं कहा है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जिसप्रकार तत्काल की विवाहित बालस्त्री अनुपभोग्य है, भोगने योग्य नहीं; किन्तु वही पहले की परिणीत बालस्त्री यथासमय यौवनावस्था को प्राप्त होने पर उपभोग्य हो जाती है, भोगने योग्य हो जाती है। वह यौवनावस्था को प्राप्त युवती स्त्री जिसप्रकार उपभोग्य हो, तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बंधन में डालती है, वश में करती है।

उसीप्रकार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय पूर्व में सत्तावस्था में होने से अनुपभोग्य थे; किन्तु जब विपाक अवस्था में, उदय में आने पर उपभोग के योग्य होते हैं, तब उपयोग के प्रयोगानुसार अर्थात् जिसरूप में उपभोग्य हों, तदनुसार कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बंधन करते हैं।

इसलिए यदि ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं तो भले रहें; तथापि वह ज्ञानी निरास्रव ही है; क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव है, उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बंध के कारण नहीं हैं।"

यहाँ उदाहरण में तत्काल की विवाहित बालस्त्री ली है। यद्यपि लोक में कानूनी और सामाजिक दृष्टि से विवाहित स्त्री को उसके पति द्वारा भोगने योग्य माना जाता है; तथापि यदि वह विवाहित स्त्री बालिका हो, कच्ची उम्र की हो, तो विवाहित होने पर भी बाल्यावस्था के कारण भोगने योग्य नहीं होती। किन्तु जब वही विवाहित बालिका जवान हो जाती है तो सहज ही पुरुष (पति) के द्वारा भोगने योग्य हो जाती है।

इस उदाहरण के माध्यम से आचार्यदेव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि स्वयं के द्वारा पूर्व में बाँधे गये और जो अभी सत्ता में विद्यमान हैं, वे कर्म जीव के द्वारा अभी बालिका स्त्री के समान भोगने योग्य नहीं हैं; किन्तु जब उनका उदयकाल आयेगा, तब वे जवान स्त्री की भाँति भोगनेयोग्य हो जावेंगे।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार पूर्व में विवाहित वह बालस्त्री जवान हो जाने पर भी पुरुष (पति) को पुरुष के रागभाव के कारण ही वश में करती है, बंधन में डालती है। यदि पुरुष (पति) के हृदय में रागभाव न हो तो वह

जवान स्त्री (पत्नी) भी उसे नहीं बाँध सकती; उसीप्रकार पूर्व में बद्ध कर्म उदय में आने पर भी जीव को उसके रागभाव के कारण ही बंध के कारण बनते हैं। यदि जीव की पर्याय में रागभाव न हो तो मात्र द्रव्यकर्मों का उदय कर्मबंध करने में समर्थ नहीं होता।

यहाँ इसी बात पर विशेष वजन दिया गया है कि आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मूलत: बंध के कारण हैं। यदि मोह-राग-द्वेष न हो तो पूर्वबद्ध कर्म का उदय भी बंधन करने में समर्थ नहीं है।

इसप्रकार न तो बंधावस्था को प्राप्त कर्म बंधन के कारण हैं, न सत्ता में पड़े हुए कर्म बंधन के कारण हैं और न रागादि के बिना उदय में आये कर्म बंधन के कारण हैं। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि कर्म का बंध, सत्त्व और उदय जीव को बंधन में नहीं डालते, आगामी कर्मों का बंध नहीं करते; अपितु आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभाव ही कर्मबंध के मूलकारण हैं। अत: कर्मों के बंध, सत्त्व और उदय के विचार से आकुलित होने की आवश्यकता नहीं है।

इन गाथाओं और टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

''द्रव्यास्रवों के उदय और जीव के राग-द्वेष-मोहभाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुए बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिए बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो; उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से उसे उसप्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता।

(क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होने के पहले ही अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन हो जाता है; अत: तत्संबंधी अविरति

और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है; इसलिए उसे उसप्रकार का बन्ध नहीं होता। औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशम में - सत्ता में ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य उदय में आये बिना उसप्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को भी सम्यक्त्वमोहनीय के अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाक में (उदय में) नहीं आती; इसलिए उसप्रकार का बन्ध नहीं होता।)

अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के जो चारित्रमोह का उदय विद्यमान है, उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है; उसीप्रकार उसे नवीन बन्ध होता है। इसलिए गुणस्थानों के वर्णन में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में अमुक-अमुक प्रकृतियों का बन्ध कहा है; किन्तु यह बन्ध अल्प है,; इसलिए उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बन्ध में नहीं गिना जाता।

सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय में स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता; वह मात्र अस्थिरतारूप से युक्त होता है और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टि में युक्तता ही नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा गया है। जबतक जीव कर्म का स्वामित्व रखकर कर्मोदय में परिणमित होता है, तबतक ही वह कर्म का कर्त्ता कहलाता है। उदय का ज्ञाता-दृष्टा होकर पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है; तब कर्ता नहीं, किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह के उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जबतक मिथ्यात्व का उदय है और उसमें युक्त होकर जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमित होता है; तबतक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है।

इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना और शुद्ध स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास द्वारा केवलज्ञान प्रगट होने से जब जीव साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी होता है; तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है - यह पहले कहा जा चुका है।''

इसप्रकार यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि बंध का मूलकारण क्या है और ज्ञानी को अबंधक कहने की अपेक्षा क्या है।

इस सम्बन्ध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"यहाँ इस बात पर विशेष वजन है कि जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार पुरुष स्त्री के प्रति जितना राग करता है, उतने प्रमाण में ही वह स्त्री उसे वश में करती है।[१] यहाँ यह ज्ञानी की बात है। ज्ञानी को जो आठ कर्म सत्ता में पड़े हैं, वे बाल स्त्री की भाँति अनुपभोग्य हैं, परन्तु वे ही कर्म विपाक अवस्था में उपभोग्य होते हैं; भोगने के योग्य हो जाते हैं। वे द्रव्यप्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य हों, तदनुसार अर्थात् जितनी मात्रा में उपयोग उनमें जुड़े उस प्रमाण, कर्मोदय के कार्यभूत जितना रागादि भाव हो, उस प्रमाण में बन्धन करते हैं। कर्म के उदय में वर्तमान जितना उपयोग जुड़े उतना बन्धन होता है।[२]

कर्मोदय के कार्यभूत जीव के भावों को अर्थात् जीव की पर्याय में होनेवाले रागादि परिणामों को यदि जीव करे तो द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण बने, किन्तु ज्ञानी जीव को तो राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं, इसलिए उसके अभाव में ज्ञानी के द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं होते। यहाँ यह बात मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा से कही गई है। अपने आत्मा के आनन्द के स्वाद के आस्वादी ज्ञानीजनों को बन्धन के कारणभूत मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं हैं। उनकी दृष्टि आत्मा पर है और उनके स्वरूपाचरण भी है, इसकारण ज्ञानी को निरास्रव कहा है।

ज्ञानी को अस्थिरता का अल्पराग है तथा उसके द्रव्यकर्मों में भी अल्प बन्ध व अल्प स्थिति पड़ती है, किन्तु ज्ञानी को संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करना पड़े – ऐसा कर्म बन्धन नहीं होता।[३]

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरनाथ – ये तीनों तीर्थंकर, कामदेव और चक्रवर्ती थे। उन्होंने सांसारिक राग में कर्तृत्व एवं कर्तव्यबुद्धि का तो त्याग कर ही दिया था, उससे लाभ होने की मान्यता का भी त्याग कर दिया था।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३०१
२. वही, पृष्ठ ३०२
३. वही, पृष्ठ ३०२-३

उन्हें राग होता तो अवश्य था, परन्तु उससे लाभ मानने की बुद्धि (मान्यता) का नाश हो गया था। उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का अभाव हो गया था। इस अपेक्षा से उन्हें गृहस्थ दशा में भी निरास्रव कहा है। अस्थिरता का जो अल्पराग होता है, वह यहाँ गौण है।[१]''

अब आचार्य अमृतचन्द्र इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा –
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥ ११८॥

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी ।
काल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी ॥
यद्यपि वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से ।
अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥ ११८॥

यद्यपि अपने समय का अनुसरण करने वाले, अपने-अपने समय में उदय में आने वाले पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते; तथापि सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से ज्ञानी के कर्मबंध कदापि नहीं होता।

उक्त कलश का भाव खोलते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

''ज्ञानी के भी पहले अज्ञान अवस्था में बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता अवस्था में विद्यमान हैं और वे अपने उदयकाल में उदय में आते रहते हैं; किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नहीं होते; क्योंकि ज्ञानी के समस्त राग-

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३०३

द्वेष-मोहभावों का अभाव है। यहाँ समस्त राग-द्वेष-मोह का अभाव बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा से समझना चाहिये।''

पाण्डे राजमलजी कलश टीका में इसी बात को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''भावार्थ इसप्रकार है – कोई अनादिकाल का मिथ्यादृष्टि जीव काललब्धि को प्राप्त करता हुआ सम्यक्त्व गुणरूप परिणमा; चारित्रमोह कर्म की सत्ता विद्यमान है, उदय भी विद्यमान है, पंचेन्द्रिय विषयसंस्कार विद्यमान है; भोगता भी है, भोगता हुआ ज्ञानगुण के द्वारा वेदक भी है; तथापि जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आत्मस्वरूप को नहीं जानता है, कर्म के उदय को आप कर जानता है; इससे इष्ट-अनिष्ट विषय सामग्री को भोगता हुआ राग-द्वेष करता है; इससे कर्म का बंधक होता है; उसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को शुद्धस्वरूप अनुभवता है, शरीर आदि समस्त सामग्री को कर्म का उदय जानता है, आये उदय को खपाता है; परन्तु अन्तरंग में परम उदासीन है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मबन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था सम्यग्दृष्टि जीव के सर्वकाल नहीं। जबतक सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाणपदवी को प्राप्त करता है; तबतक ऐसी अवस्था है। जब निर्वाणपद प्राप्त करेगा, उस काल का तो कुछ कहना ही नहीं – साक्षात् परमात्मा है।''

कलश टीका के भाव को छन्दोबद्ध करते हुए बनारसीदासजी नाटक समयसार में लिखते हैं –

(सवैया इकतीसा)

पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भाँति रस देत हैं ।
केई सुभ साता केई असुभ असातारूप,
दुहूं सौं न राग न विरोध समचेत हैं ॥
जथाजोग क्रिया करैं फल की न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकति कौ बिरद गहि लेत हैं ।
यातें ग्यानवंत कौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धता सौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं ॥

ज्ञानी जीव ने पहले अज्ञान अवस्था में जिन कर्मों का बंध किया था; अब वे ही उदय में आकर अनेक प्रकार से फल देते हैं। उनमें कोई कर्म सातारूप शुभ और कोई कर्म असातारूप अशुभ होते हैं; ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों ही प्रकार के कर्मों से राग-द्वेष नहीं करते, हर्ष-विषाद नहीं करते; समताभाव धारण करते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी वे ज्ञानीजीव अपनी भूमिका के योग्य क्रिया तो करते हैं; पर फल की वांच्छा नहीं करते। यही कारण है कि वे जीवनमुक्त कहलाते हैं और उन ज्ञानियों को आस्रव नहीं होता – यह कहा जाता है। वे ज्ञानी जीव मुद्धता (मिथ्यात्व) से जुदे होते हैं और शुद्धता से सहित होते हैं।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"देखो, ज्ञानी के भी अज्ञान अवस्था में बँधे हुए तथा वर्तमान में सत्ता में विद्यमान पूर्व के जड़कर्म अपने स्व-समय में उदय में आते रहते हैं; परन्तु वे द्रव्यास्रव उदयकाल में ज्ञानी को नवीन कर्मबन्ध के कारण नहीं होते; क्योंकि श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञानी के सम्पूर्ण राग-द्वेष-मोह का अभाव है। जिसे अन्तर में विराजमान सच्चिदानन्दमय भगवान आत्मा का अवलम्बन लेने से सम्यग्दर्शन हुआ, उसे मिथ्यात्व व तदनुसार होनेवाले राग-द्वेष का नाश हो गया है; इसकारण उसे पूर्व द्रव्यास्रव का उदय नवीन कर्मबन्ध का कारण नहीं होता।

यहाँ जो सकल राग-द्वेष-मोह के अभाव की बात कही है, उसका अर्थ केवल मिथ्यात्व व तदविनाभावी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष-मोह का अभाव समझना; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय ही है। जिस अपेक्षा जो बात कही जाती है, उसे यथार्थ समझना चाहिए।[१]

यहाँ जो यह कहा कि समकिती को राग-द्वेष-मोह है ही नहीं; उसका तात्पर्य यही लेना कि यहाँ अस्थिरताजनित अल्पराग को गिना नहीं है – गौण कर दिया है। वस्तुतः देखा जावे तो समकिती को अस्थिरताजनित शुभाशुभभाव होते हैं तथा तज्जनित बंध भी होता है; परन्तु विशेषता यह है कि जबतक उसके अशुभभाव रहता है, तबतक उसे भविष्य की आयु का बन्ध नहीं पड़ता। जब

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३१५

वह शुभभाव में आता है, तभी भविष्य की आयु बंधती है। भरत चक्रवर्ती तो उसी भव में मोक्ष गये, इसकारण उनके भविष्य की आयु के बन्ध का प्रश्न ही नहीं था; किन्तु अन्य चक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि जो स्वर्ग में वैमानिक देवों में जाते हैं, उनके जबतक अशुभभाव का काल है, तबतक भविष्य का आयुबंध नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में धर्मी को आर्त व रौद्र - दोनों ध्यान होते हैं। बहुत शुभभाव भी आते हैं और बहुत अशुभभाव भी होते हैं। स्त्रीसेवन का अशुभ राग भी आता है; परन्तु उस काल में उसे भविष्य की आयु का बन्ध नहीं होता, सम्यग्दर्शन का ऐसा कोई गजब का प्रभाव है, जोर है। अहो! सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कोई अचिन्त्य-अलौकिक महिमा है।[१]

अब यहाँ और भी विशेष स्पष्टीकरण करते हैं कि ज्ञानी को जो सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है, वह बुद्धिपूर्वक या रुचिपूर्वक राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा समझना। पण्डित राजमलजी ने बुद्धिपूर्वक का दूसरा अर्थ किया है कि जो जानने में आवे, वह बुद्धिपूर्वक है तथा जो ज्ञान में न आवे, वह अबुद्धिपूर्वक है; परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा है कि अभिप्राय में ज्ञानी को सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव है।

लोग पूछते हैं कि राग कैसे टले? उनसे कहते हैं कि हे भाई! आत्मा स्वयं चिदानंदस्वरूप परमात्मा है, उसे स्पर्श करते हुए अर्थात् एकाग्र होकर परिणमन करते हुए राग का नाश हो जाता है। इसके सिवाय राग के नाश का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अरे! सांसारिक कार्यों के आगे इसे इस तत्त्व को समझने की फुरसत ही कहाँ है? घर में स्वयं के पुत्र-पुत्रियाँ न होंगी तो दूसरे के पुत्र-पुत्रियों को गोद लेगा, किन्तु संसार के काम तो करेगा ही। इन संसारी प्राणियों की कैसी मति मारी गई है? यदि यही पैसा धर्मकार्य में खर्च करे तो शुभभाव हो तथा अपनी दैनिक चर्या से बचे समय को नई-नई कमाई में लगाने के बजाय स्वाध्याय-मनन-चिन्तन में लगावे तो आत्मकल्याण भी हो जावे; परन्तु मोह की महिमा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३१६

कोई गजब की है। गोद लेकर वंश बढ़ाना चाहता है। अरे भाई! किसका वंश? क्या जड़ देह के वंश को बढ़ाना है? कैसी विडम्बना है? भाई! इस देह के वंश को बढ़ाने की रुचि अनन्त जन्म-मरण के दु:ख में डालनेवाली है। इन सब उलझनों को छोड़कर शास्त्र क्या कहते हैं – इसका श्रवण करने का, मनन व चिन्तन करने का समय निकालना चाहिए।[१]''

इसप्रकार इन १७३ से १७६ तक की गाथाओं में तथा उनके बाद समागत ११८वें कलश में यही कहा गया है कि द्रव्यकर्मों के सत्ता में विद्यमान रहने पर भी ज्ञानी के भूमिकानुसार राग-द्वेष-मोह के अभाव में तत्संबंधी बंध नहीं होता। इसीकारण उसे अबंधक कहा जाता है।

इसके बाद आगामी दो गाथाओं की उत्थानिका रूप कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम् ॥ ११९॥

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव ।
ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव ॥ ११९॥

ज्ञानियों के राग-द्वेष-मोह भावों का होना असंभव है; इसीलिए उनके बंध भी नहीं होता; क्योंकि वे राग-द्वेष-मोह ही बंध के कारण हैं।

इस कलश का भाव कलशटीका में इसप्रकार खोला गया है –

''भावार्थ इसप्रकार है – कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्रमोह का उदय तो है; वह उदयमात्र होने पर आगामी ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता होगा ?

समाधान इसप्रकार है – चारित्रमोह का उदयमात्र होने पर बन्ध नहीं है। उदय के होने पर जो जीव के राग, द्वेष, मोह परिणाम हों तो कर्मबन्ध होता है, अन्यथा सहस्र कारण हों तो भी कर्मबन्ध नहीं होता। राग, द्वेष, मोह परिणाम

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३१७-३१८

भी मिथ्यात्व कर्म के उदय के सहारा हैं, मिथ्यात्व के जाने पर अकेले चारित्रमोह के उदय के सहारा का राग, द्वेष, मोह परिणाम नहीं है। इसकारण सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोह परिणाम होता नहीं; इसलिए कर्मबन्ध का कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता।''

इस छोटे से छन्द का भाव स्पष्ट करने के लिए बनारसीदासजी ने तीन दोहे लिखे हैं; जो इसप्रकार है –

(दोहा)

जो हितभाव सु राग है, अनहितभाव विरोध।
भ्रामिक भाव विमोह है, निरमल भाव सुबोध॥
राग विरोध विमोह मल, एई आस्रवमूल।
एई करम बढ़ाईकैं, करैं धरम की भूल॥
जहाँ न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम।
यातें सम्यकवंत कौ, कह्यो निरास्रव नाम॥

परपदार्थों में हित का भाव राग है, अनहित का भाव द्वेष है और परपदार्थों में अपनेपन का भ्रम उत्पन्न करने वाला भाव मोह है तथा इन तीनों विकारों से रहित निर्मलभाव सम्यग्ज्ञान है।

राग, द्वेष और मोह – ये तीनों आत्मा के मैल हैं और आस्रव के कारण हैं। ये भाव कर्मों को बढ़ाने वाले और धर्म को भुलाने वाले हैं।

जहाँ मोह-राग-द्वेष नहीं है, वहीं सम्यक्त्व है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि को निरास्रव कहा गया है।

इस छन्द का भाव खोलते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

''देखो, यहाँ आचार्य कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में समकिती को राग-द्वेष-मोह अर्थात् दुःख नहीं है। वास्तव में तो यहाँ मिथ्यात्व का नाश हुआ है, इसकारण तत्संबंधी राग-द्वेष-मोह नहीं है – ऐसा कहा है।

इससे कोई ऐसा न समझ ले कि सर्वथा राग-द्वेष या दुःख नहीं रहा; बल्कि मिथ्यात्व के अभाव से अनन्त दुःख व अनन्त संसार का अभाव हुआ है, अल्प संसार व अल्प दुःख रहा है। वैसे देखा जावे तो सच्चे भावलिंगी संतों को

छट्ठे-सातवें गुणस्थान में जहाँ आत्मज्ञानसहित प्रचुर स्वसंवेदन है, वहाँ भी किंचित् राग, अशुद्धता व दुःख है; किन्तु यहाँ इस कलश में तो बुद्धिपूर्वक अर्थात् रुचिपूर्वक होनेवाले आस्रव की अपेक्षा कथन है।

ढाईद्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य तिर्यंच समकिती पंचम गुणस्थानवर्ती हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी असंख्य हैं। वे सब ज्ञानी हैं; इसकारण उन सबको यहाँ जिस अपेक्षा से राग-द्वेष-मोह का व बंध का अभाव कहा जाता है, उस अपेक्षा से स्पष्ट समझना चाहिये।

ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; इसकारण उसके बंध नहीं है। इस कथन से कोई ऐसा नहीं समझ ले कि ज्ञानी करोड़ों पूर्व तक बड़े भारी राजपाट में तथा हजारों स्त्रियों के साथ भोग-विलास में रहता है; तथापि उसे बन्ध नहीं है। उसके अल्प-अस्थिरता का जितना राग है, उतना बन्ध भी है।

'सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के हेतु हैं' - ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसे सर्वथा बन्ध का अभाव नहीं है। सर्वथा निर्जरा हो जाती हो - ऐसा नहीं है, बल्कि उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय नहीं है तथा उसे संसार का कारणभूत बन्ध का अभाव होने से निर्जरा है - ऐसा कहा गया है।

दृष्टिपूर्वक स्वभाव की रुचि में राग का अभिप्राय छूट जाता है। इसकारण दृष्टि की महिमा दिखाने के लिये ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं - ऐसा आगम में कहा गया है। उसी आगम में यह भी कहा है कि पंचमहाव्रत के शुभ परिणाम बंध के कारण हैं। एक ओर महाव्रत के परिणाम को बन्ध का कारण और दूसरी ओर भोग के भाव को निर्जरा का कारण कहा है। इसकी अपेक्षा को नहीं जानेगा तो शास्त्रों का मर्म कभी समझ में नहीं आ सकता।[१]"

इसप्रकार १७७-१७८वीं गाथाओं की उत्थानिका के रूप में समागत इस कलश में यह कहा गया है कि बंध के कारणभूत मोह-राग-द्वेष भाव ज्ञानियों के नहीं होते; इसीकारण उन्हें बंध भी नहीं होता।

अब इसी बात को गाथाओं के माध्यम से कहते हैं। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३१८-३१९

समयसार गाथा १७७–१७८

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥ १७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥ १७८॥

रागादि आस्रवभाव जो सद्दृष्टियों के वे नहीं ।
इसलिए आस्रवभाव बिन प्रत्यय न हेतु बंध के ॥ १७७॥
अष्टविध कर्मों के कारण चार प्रत्यय ही कहे ।
रागादि उनके हेतु हैं उनके बिना बंधन नहीं ॥ १७८॥

राग-द्वेष-मोह रूप आस्रवभाव सम्यग्दृष्टियों के नहीं होते; इसलिए उन्हें आस्रवभाव के बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंध के कारण नहीं होते।

मिथ्यात्वादि चार प्रकार के हेतु आठ प्रकार के कर्मों के बंध के कारण कहे गये हैं और उनके भी कारण जीव के रागादि भाव हैं।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टित्व की अन्यथा अनुपपत्ति है। तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति ही संभव नहीं है। राग-द्वेष-मोह के अभाव में सम्यग्दृष्टियों को द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म के बंधन का हेतु नहीं बनते; क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्गलकर्म के हेतुत्व के हेतु के अभाव में हेतुमान का अभाव प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि कारण के कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है। अतः ज्ञानी के बंध नहीं है।"

ध्यान रहे यहाँ जो सम्यग्दृष्टियों के मोह-राग-द्वेष का अभाव बताया गया है, उसमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ही लेना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के इनका ही अभाव होता है।

इस बात को पंडित जयचंदजी छाबड़ा इन्हीं गाथाओं के भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यहाँ राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता - ऐसा अविनाभावी नियम बताया है। सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि का ही अभाव समझना चाहिये। यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादि को ही रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद जो कुछ चारित्रमोहसम्बन्धी राग रह जाता है, उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावास्रव का अर्थात् राग-द्वेष-मोह का अभाव है।

द्रव्यास्रवों को बन्ध का हेतु होने में हेतुभूत जो राग-द्वेष-मोह हैं, उनका सम्यग्दृष्टि के अभाव होने से द्रव्यास्रव बंध के हेतु नहीं होते और द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते; इसलिये सम्यग्दृष्टि के - ज्ञानी के बन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है; वह योग्य ही है। 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है -

(१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो, वह ज्ञानी कहलाता है। इसप्रकार सामान्यज्ञान की अपेक्षा से सभी जीव ज्ञानी हैं।

(२) यदि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है; इसलिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

(३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं; क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।

इसप्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा विधि-निषेध निर्बाधरूप से सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता।"

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी लिखते हैं -

"यहाँ सब कथन मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय की अपेक्षा से समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को रागादि नहीं हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि उसके

अनंतानुबंधी राग-द्वेष-मोह नहीं है। जो अनन्त संसार का कारण है - उस मिथ्यात्व व राग-द्वेष को ही यहाँ आस्रव कहा है। वह आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं है। इस कथन को सुनकर या पढ़कर कोई अपनी स्वच्छंदता का बचाव करे कि हममें जितनी अस्थिरता है, उतना राग होता है, इससे हमें क्या ? तो उसकी यह बात चलने जैसी नहीं है। ऐसा बचाव करने वाला वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि को जो किंचित् अस्थिरता है, वह चारित्र का दोष है तथा उसका उसे अल्पबंध भी है। ठेठ दसवें गुणस्थान तक जहाँ अबुद्धिपूर्वक राग है, वहाँ भी मोह व आयु कर्म के सिवाय छः कर्मों का बन्धन पड़ता है। समकिती को जहाँ तक शुभराग है, वहाँ तक यह दोष है; परन्तु यह मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी राग-द्वेष जैसा महादोष नहीं है[१]

जहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं होता, वहाँ सम्यग्दर्शन की उत्पति होती है अर्थात् जहाँ मिथ्यात्वरूप मोह व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष नहीं होते, वहीं सम्यग्दृष्टिपना संभव है। सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह नहीं है - इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि को जो किंचित् रागादि हैं, उनका भी उसके स्वामित्व नहीं है। उसने तो रागरहित सम्पूर्ण भगवान आत्मा को पर्याय में प्रसिद्ध कर लिया है। उसके अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागादि तो हैं ही नहीं तथा क्षणिक कृत्रिम अवस्था से अपना सहज त्रिकाली चैतन्यतत्त्व भिन्न है - ऐसा उसके परिचय में व वेदन में आ गया है तथा मिथ्यादृष्टि को राग के स्वामित्व का ही अनादि से परिचय है; क्योंकि उसी का उसे निरन्तर वेदन है।[२]''

आचार्य जयसेन इन्हीं गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में 'सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं होते' - का अर्थ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती सम्यग्दृष्टि, छठे गुणस्थानवर्ती महाव्रती सम्यग्दृष्टि एवं सप्तमादि गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा लेकर चार प्रकार से करते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

आचार्य जयसेन के सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानों में जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकार के अनन्तानुबंधी आदि राग-द्वेष का अभाव

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३२३
२. वही, पृष्ठ ३२६

है; वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकार के कर्मों के बंधन का भी अभाव होता है। करणानुयोग के बंधव्युच्छुत्ति प्रकरण के अनुसार चारों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों के प्रत्येक के जो यथायोग्य बंध का अभाव होता है; उसी के अनुसार यहाँ भी बंध के अभाव की बात घटित कर लेनी चाहिए।

शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय का ही यह परिणाम है कि सम्यग्दृष्टियों के आस्रव नहीं होता, बंध नहीं होता।

यही कारण है कि आस्रव अधिकार के समापन की ओर कदम बढ़ाते हुए आचार्यदेव आगामी गाथाओं में शुद्धनय की महिमा व्यक्त करते हैं। उक्त गाथाओं की उत्थानिका रूप जो कलश लिखते हैं; उनमें भी वे शुद्धनय के ही गीत गाते हैं।

शुद्धनय की महिमा बतानेवाले इन कलशों में प्रथम में शुद्धनय के आश्रय के लाभ से और दूसरे में शुद्धनय से च्युत होने से होनेवाली हानि से परिचित कराते हैं। वे दोनों कलश इसप्रकार हैं –

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिन्ह–
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध–
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिन्ह वाले शुद्धनय अभ्यास से ।
निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से ॥
रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन ।
बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते ॥ १२०॥

च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे ।
पहले बंधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो ॥
अरे विचित्र विकल्प वाले और विविध प्रकार के ।
विपरीतता से भरे विध-विध कर्म का बंधन करें ॥ १२१॥

उद्धत ज्ञान है चिन्ह जिसका, ऐसे शुद्धनय का आश्रय लेकर जो जीव सदा ही एकाग्रता का अभ्यास करते हैं; वे निरन्तर रागादि से मुक्त चित्तवाले ज्ञानीजन बंध से रहित समय के सार को, शुद्धात्मा को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

तथा इस जगत में जो जीव शुद्धनय से च्युत होकर रागादि के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं; आत्मज्ञान से रहित वे जीव पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवों के द्वारा अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं।

इन दोनों कलशों का सार यह है कि शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय करनेवाले कर्मबंधनों से मुक्त हो जाते हैं और शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को न जाननेवाले लोग विविध प्रकार के कर्म बंधनों से बंधते हैं।

इन छन्दों का भावानुवाद कलशटीका के आधार पर कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यानभाव परिनए हैं ।
जिन्हि की सुदृष्टि मैं न राग द्वेष मोह कहूं,
विमल विलोकनि मैं तीनौं जीति लए हैं ॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोग की दसा मैं मिलि गए हैं ।
तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि
आप मैं मगन ह्वै के आपरूप भए हैं ॥
जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्ह की अवस्था ज्यौं लुहार की संडासी है ।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ,
खिन मैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है ॥

जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरन मोह,
जैसैं कीले नाग की सकति गति नासी है ।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करैं,
ज्यौं उकीले नाग की सकति परगासी है ॥

जो निकटभव्य संसारी जीव मिथ्यात्व को भेदकर सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित हुए हैं, जिनकी सम्यक् दृष्टि में राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; जिन्होंने अपने निर्मल आत्मावलोकन से इन तीनों को ही जीत लिया है और जो प्रमाद को हटाकर, चित्त को शुद्ध करके, योगों का निरोधकर, शुद्धोपयोग में लीन हो जाते हैं; वे ज्ञानी धर्मात्मा जीव बंधपद्धति का विदारणकर, परपदार्थों का संग छोड़कर स्वयं में मग्न होकर आपरूप हो जाते हैं, निज स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, सिद्ध हो जाते हैं।

जितने जीव औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि पंडित हैं; उनकी अवस्था (दशा) तो लुहार की संडासी (संसी) के समान होती है। जिसप्रकार लुहार की संडासी एक क्षण में अग्नि में होती है तो दूसरे क्षण में पानी में होती है; उसीप्रकार औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव भी प्रथम क्षण में मिथ्यादृष्टि हैं तो दूसरे क्षण में सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं तथा फिर तीसरे क्षण मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार लुहार की संडासी क्षण-क्षण में गर्म-ठंडी, ठंडी-गर्म होती रहती है; उसीप्रकार औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं।

जिसप्रकार नाग (सर्प) को मंत्रशक्ति द्वारा कीलित कर देने पर, कील देने पर; उस की शक्ति नष्ट हो जाती है और गति (चलना-फिरना) रुक जाती है; किन्तु जब उसी कीलित नाग को उकील देते हैं तो शक्ति प्रकाशित हो जाती है और वह गति (चलना-फिरना) करने लगता है; उसीप्रकार जबतक सम्यग्ज्ञान रहता है, तबतक चारित्रमोह भी शिथिल रहता है; किन्तु जब वही ज्ञानी जीव मिथ्यात्वदशा में आ जाता है, तब अनेकप्रकार के कर्मों का बंध करने लगता है।

प्रश्न : शास्त्रों में औपशमिक सम्यग्दर्शन का काल उत्कृष्ट व जघन्य दोनों अन्तर्मुहूर्त कहा गया है और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छियासठ सागर है। यदि दोनों ही सम्यक्त्वों में जघन्यकाल की भी मुख्यता होवे तो भी अन्तर्मुहूर्त से कम काल तो होता ही नहीं। तात्पर्य यह है कि अन्तर्मुहूर्त से कम काल तो दोनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन का नहीं होता; फिर यहाँ क्षण-क्षण में सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि होना कैसे बताया जा रहा है?

उत्तर : यहाँ क्षण का आशय अन्तर्मुहूर्त ही लेना है। अन्तर्मुहूर्त भी छोटे-बड़े अनेक प्रकार के होते हैं। अत: हम जिसे क्षण कहते हैं; कोई अन्तर्मुहूर्त उतना भी हो सकता है।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि इस पंचमकाल में यहाँ भरत क्षेत्र में क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो कोई होता नहीं और औपशमिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन क्षणस्थाई भी होते हैं। ऐसी स्थिति में यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस जीवन में अनेकों बार मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि हो सकता है; क्योंकि औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, देशव्रत और अनन्तानुबंधी की विसंयोजना - ये चारों असंख्य बार होते हैं और छूट जाते हैं।

अत: विचारने की बात यह है कि अपने क्षायोपशमिक ज्ञान के आधार पर किसी को सम्यग्दृष्टि और किसी को मिथ्यादृष्टि घोषित करने में क्या दम है; क्योंकि जो अभी मिथ्यादृष्टि है, वह क्षण में सम्यग्दृष्टि और जो अभी सम्यग्दृष्टि है, वह क्षण में मिथ्यादृष्टि हो सकता है।

अरे भाई ! सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन तो पर्यायें हैं और तू तो पर्यायों से पार स्वयं भगवान आत्मा है। अत: व्यर्थ के विकल्पों से विराम लेकर तू तो उसमें ही अपनापन कर, उसमें ही जम-रम और उसमें ही समा जा। भव का अभाव करने की यही विधि है। ●

समयसार गाथा १७९-१८०

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८०॥

जगजन ग्रसित आहार ज्यों जठराग्नि के संयोग से ।
परिणमित होता बसा में मज्जा-रुधिर-मांसादि में ॥ १७९॥
शुद्धनय परिहीन ज्ञानी के बंधे जो पूर्व में ।
वे कर्म प्रत्यय ही जगत में बांधते हैं कर्म को ॥ १८०॥

जिसप्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्नि के संयोग से अनेक प्रकार माँस, चर्बी, रुधिर आदि रूप परिणमित होता है; उसीप्रकार शुद्धनय से च्युत ज्ञानी जीवों के पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव अनेकप्रकार के कर्म बाँधते हैं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जब ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत होता है, तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होने से पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय अपने (द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबंध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमान भाव (कार्य) का अनिवार्यत्व होने से ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बंधरूप परिणमित करते हैं और यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है; क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादि रूप में परिणमित करती देखी जाती है।"

पुरुष द्वारा किये गये आहार के उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह बताया गया है कि जिसप्रकार गृहीत आहार को जठराग्नि ही खून-माँसादि रूप परिणमित करती है; उसीप्रकार पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय (पूर्वकाल में बाँधे गये द्रव्यकर्म) ही कार्मणवर्गणाओं को ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित करते हैं।

यहाँ पर शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ ज्ञानी धर्मात्मा का शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आ जाना मात्र नहीं है; अपितु शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा की श्रद्धा से च्युत हो जाना है, मिथ्यात्व की भूमिका में आ जाना है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होता है, तब उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी सम्बन्धी रागादिभाव का सद्भाव होता है। अहा! जहाँ स्वभाव की रुचि छूटी व राग की रुचि हुई, वहाँ फिर उसे मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष होने लगता है। रागादिभाव के सद्भाव का अर्थ यहाँ मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी राग-द्वेष का उत्पन्न होना है, केवल अस्थिरता के राग की बात यहाँ नहीं है।[१]

यहाँ तो 'मैं चैतन्यमय हूँ' – ऐसे अभिप्राय से च्युत होकर 'मैं राग हूँ' – ऐसा अभिप्राय हुआ, वहाँ शुद्धनय से भ्रष्ट हो गया। भले व्यवहार में कठोर क्रियाकाण्ड करता दिखाई दे; किन्तु यदि अन्तर में भ्रष्ट हो गया तो उसे नवीन कर्मबंध अवश्य होता है।[२]

आत्मा सदा ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। उसके स्वभाव की दृष्टि में रहना ही शुद्धनय में रहना है तथा उससे छूटकर दया, दान आदि पर्याय की रुचि हो जाना शुद्धनय से भ्रष्ट होना है।[३]''

प्रश्न : गाथा में तो ऐसा लिखा है कि ज्ञानी जीवों के पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय (द्रव्यास्रव) अनेकप्रकार के कर्म बाँधते हैं और आप यह कह रहे हैं, यह मिथ्यात्व की भूमिका की बात है, अज्ञानावस्था की बात है। – इसका क्या कारण है?

उत्तर : यद्यपि गाथा में '**णाणिस्स**' पद पड़ा है, तथापि साथ में '**णय परिहीणा**' पद भी पाया जाता है। चूंकि ज्ञानी तो नयों से परिहीन (रहित) होते नहीं हैं। अत: यहाँ 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ सामान्य जीव ही लेना चाहिए।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३४७
२. वही, पृष्ठ ३४९
३. वही, पृष्ठ ३४९

ज्ञानी शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। 'जिसमें सम्यग्ज्ञान हो वे ज्ञानी' - एक अर्थ तो यह और दूसरा यह कि जिसमें ज्ञान हो, चेतनता हो; वह ज्ञानी जीव।

यद्यपि यहाँ ज्ञानी का अर्थ सम्यग्ज्ञानी नहीं, सामान्य ज्ञानी अर्थात् जीव लिया जा सकता है; तथापि ऐसा जीव लेना अभीष्ट है कि जो पहले सम्यग्ज्ञानी था और बाद में सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हो गया; क्योंकि आत्मख्याति में स्पष्ट लिखा है कि जब ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत होता है; तब उसके रागादिभाव का सद्भाव होने से पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधते हैं।

प्रश्न : जब यहाँ अज्ञानी जीव ही अपेक्षित है तो फिर 'ज्ञानी' पद का प्रयोग ही क्यों किया गया ?

उत्तर : क्योंकि यहाँ ऐसा अज्ञानी लेना है कि जो पहले ज्ञानी था और बाद में शुद्धनय से च्युत होकर अज्ञानी हुआ है।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तो एकदम स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यहाँ 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ चैतन्यलक्षणवाला अज्ञानी जीव लेना, विवेकी (ज्ञानी) जीव नहीं।

इन गाथाओं का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि यहाँ तात्पर्य यह है कि जिसमें अपना शुद्धात्मा ही ध्यान का ध्येय बनता है और जो सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर डालने में समर्थ है; ऐसा शुद्धनय विवेकियों को त्याग करने योग्य नहीं है।

इसी भाव का पोषक कलश आत्मख्याति के इस प्रकरण में लिखा गया है, जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बधं एव हि ॥ १२२॥

(हरिगीत)

इस कथन का सार यह कि शुद्धनय उपादेय है ।
शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है ॥
क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है ।
इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है ॥ १२२॥

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके त्याग से बंध होता है और उसके अत्याग से बंध नहीं होता।

इस कलश में न केवल इस प्रकरण का निचोड़ दिया गया है, अपितु सम्पूर्ण समयसार का निचोड़ दिया गया है। यही कारण है कि कविवर बनारसीदासजी इस छन्द का भावानुवाद करते हुए जो छन्द लिखते हैं; उसमें वे यही लिखते हैं कि यह तो सम्पूर्ण समयसार का निचोड़ है।

उनका कथन मूलत: इसप्रकार है –

(दोहा)

यह निचोर या ग्रन्थ कौ, यहै परमरसपोख ।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख ॥

इस समयसार ग्रंथ का निचोड़ यही है और यही बात परमतत्त्व के रस की पोषक है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के त्याग से बंध होता है और उसके ग्रहण से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है।

अरे भाई! यह बात अकेले समयसार के निचोड़ की ही बात नहीं है; सम्पूर्ण जिनागम का निचोड़ भी यही है, भगवान की दिव्यध्वनि का सार भी यही है।

इस कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी आत्मविभोर होकर कहते हैं –

''भाई! इस कलश में तो मक्खन ही मक्खन भरा है। यहाँ सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय अर्थात् शुद्धनय का विषयभूत शुद्धतत्त्व त्यागने योग्य नहीं है। परमानन्दमय शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा त्रिकाली उपादेय है, वही तेरी असली सम्पत्ति है। किसी के पास दो-पाँच करोड़ की लौकिक सम्पत्ति इकट्ठी हो भी जावे तो उससे क्या? उसमें कुछ तथ्य नहीं है। जिसे तू अपनी सम्पत्ति समझता है, वह तो विपत्ति है। यह शरीर भी धूलधानी ही है, इसमें भी तेरा चैतन्यस्वरूप नहीं है। अन्तर में विद्यमान पुण्य-पाप का भाव भी तेरी वस्तु नहीं है; क्योंकि ये आस्रवभाव हैं। इसमें चैतन्य का अंश नहीं है; अत: ये भी जड़ ही हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि का सार यह है कि शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप भगवान आत्मा ही एकमात्र उपादेय है। यह किसी भी कारण से छोड़ने योग्य नहीं है तथा जिस राग को अनादि से पर्याय में उपादेय मान रखा है, वह एक क्षण को भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।[१]''

छहढाला में इसी बात को इसप्रकार कहा गया है -

लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद-फंद नित आतम ध्याओ॥[२]

अरे भाई! अधिक कहने से क्या लाभ है? लाखों बातों की यह एक ही बात है कि तुम शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत आत्मा को ही हृदय में धारण करो, उसी में अपनापन स्थापित करो; जगत के और सभी दंद-फंदों को तोड़कर, क्रियाकलापों को छोड़कर एकमात्र निजआत्मा का ध्यान करो; क्योंकि वास्तविक धर्म तो यही है।

अरे भाई! शुद्धात्मा के विषयभूत इस आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धान के अतिरिक्त जो भी क्रियाकाण्ड है, धर्म के नाम पर होनेवाला आडम्बर है; वह सभी दंद-फंद ही है।

यह बात मात्र इस प्रकरण का ही सार नहीं है, इस ग्रंथ का ही सार नहीं है, मात्र लाख बात की ही बात नहीं है; अपितु करोड़ ग्रन्थों का सार है, दिव्यध्वनि का सार है, जिनवाणी का सार है।

छहढालाकार दौलतरामजी ही एक भजन के अन्तिम पद में लिखते हैं -

कोटि ग्रंथ को सार यही है ये ही जिनवाणी उचरो है।
'दौल' ध्याय अपने आतम को मुक्तिरमा तोय वेग वरे है॥

दौलतरामजी कहते हैं कि भाई यह बात करोड़ ग्रन्थों का सार है और यही जिनवाणी में भी कहा गया है कि तुम अपने आत्मा का ध्यान करो। ऐसा करने से तुम्हें मुक्तिरूपी रमा शीघ्र ही वरण कर लेगी।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३५१-३५२
२. छहढाला, ढाल-४, छन्द-६

अरे भाई ! तुम्हें मुक्तिरूपी कन्या की चाह या आराधना करने की आवश्यकता नहीं है; वह ही स्वयं आकर तुम्हारे गले में वरमाला डालेगी, तुम्हारा वरण करेगी।

ध्यान रहे मुक्ति को चाहने वालों को मुक्ति नहीं मिलती; अपितु शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा का आश्रय करने वालों को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार इस कलश में शुद्धनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा का आश्रय लेने की परमपावन एवं सशक्त प्रेरणा दी गई है।

अब इसी बात को दृढ़ता प्रदान करनेवाला कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ॥१२३॥

(हरिगीत)

धीर और उदार महिमायुत अनादि-अनंत जो ।
उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भाव जो ॥
सद्ज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है ।
विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥ १२३॥

धीर और उदार महिमावाले अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता करता हुआ समस्त कर्मों के समूह को नष्ट करनेवाला शुद्धनय धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि शुद्धनय में स्थित पुरुष बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को अल्पकाल में ही समेटकर पूर्ण ज्ञानघन के पुंजरूप, एक अचल शान्त तेजपुंज को देखते हैं, अनुभव करते हैं।

इस कलश पर प्रवचन करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"देखो, भगवान आत्मा धीर एवं उदार है। धीर यानी शाश्वत्, स्थिर एवं चलाचलता रहित तथा उदार अर्थात् विश्व के समस्त ज्ञेयों को एक साथ जानने

की सामर्थ्य से सहित है तथा विशेष बात यह है कि वह सबको एक साथ जाने तो; किन्तु उनका करे कुछ भी नहीं-ऐसी गजब की उदारता उस ज्ञानस्वभाव में है। यहाँ उदार का अर्थ लौकिक अर्थ से भिन्न है। लोक में उदार उसे कहते हैं; जो दानादि द्वारा लोकोपकार के काम करता है, किन्तु यहाँ लोकोत्तर मार्ग में आत्मा की उदारता ज्ञान-स्वभाव से लोकालोक को जानने एवं अकर्तृत्व की अपेक्षा कही गई है। **ज्ञान-स्वभाव से आत्मा में ऐसी उदारता है कि वह जानता तो सबको है, किन्तु किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं करता।**[१]

अहो ! ज्ञान की ऐसी उदारता है कि वह तीन लोक व तीन काल को केवल जान सकता है। अरे ! इसके श्रुतज्ञान में भी परोक्षरूप से लोकालोक को जानने की ताकत है। शक्तिरूप से तो उदार है ही, ज्ञान की निर्मल पर्याय की भी ऐसी उदारता है कि उसमें लोकालोक ज्ञात हो।[२]

यहाँ कहते हैं कि धीर व उदार जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता कराने वाला तथा कर्मों का नाश करने वाला शुद्धनय धर्मात्मा पुरुषों के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है। अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक स्वरूप आत्मा का आश्रय करानेवाला एवं उसी में स्थिर करानेवाला शुद्धनय धर्मी पुरुषों के द्वारा कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में भी यही कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा का आश्रय करने वाला शुद्धनय किसी भी स्थिति में छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, सिद्धदशा की प्राप्ति होती है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए छाबड़ाजी भावार्थ में लिखते हैं -

''शुद्धनय, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके तथा परनिमित्त से होनेवाले समस्त भावों को गौण करके, आत्मा को शुद्ध, नित्य, अभेदरूप एक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३५६
२. वही, पृष्ठ ३५६-३५७
३. वही, पृष्ठ ३५७

चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिए परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र-स्थिर होती जाती है। इसप्रकार शुद्धनय का आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओं को अल्पकाल में ही समेटकर, शुद्धनय में (आत्मा की शुद्धता के अनुभव में) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर अपने आत्मा को सर्व कर्मों से भिन्न, केवलज्ञान स्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है। इसलिए श्रीगुरुओं का यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनय के अवलम्बन से केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तबतक सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय का त्याग नहीं करना चाहिए।''

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर बनारसीदासजी द्वारा इसप्रकार किया गया है –

(सवैया इकतीसा)

करम के चक्र मैं फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता ।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्गल सौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥
सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांडि दीनौ भीनौ चित्त समता ।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता ॥

यह जगवासी संसारी जीव कर्म के चक्करों में उलझकर बहिर्मुख हो रहा था, विषमता से व्याप्त हो रहा था; किन्तु जब अन्तर में सुमति जाग्रत हुई तो निर्मल बड़प्पन प्राप्त हुआ, पौद्गलिक पदार्थों से प्रीति टूट गई तथा माया और ममता छूट गई, शुद्धनय में निवास हुआ, आत्मानुभव का अभ्यास किया, भ्रमभाव को छोड़ दिया और चित्त समताभाव से भीग गया।

इसप्रकार शुद्धनय के विषयभूत अनादि-अनंत, निर्विकल्प, अचल आत्मपद का अवलम्बन लेकर यह आत्मा आत्माराम को देखता-जानता है और उसी में रम जाता है।

इसप्रकार शुद्धनय की महिमा बताकर, उसे ग्रहण करने की प्रेरणा देकर, उसे नहीं छोड़ने की चेतावनी देकर, अब आचार्य अमृतचंद्र आस्रव अधिकार के अन्त में आस्रव का अभाव करके प्रगट होनेवाले ज्ञान की महिमा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४॥

(हरिगीत)

निज आतमा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते ।
उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते ॥
वे आस्रवों का नाश कर नित रहें आतम ध्यान में ।
वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में ॥ १२४॥

सदा ही उदित परमात्मवस्तु को अंतरंग में देखनेवाले पुरुष को रागादि आस्रवभावों का शीघ्र ही सर्वप्रकार से नाश होने से सर्व लोकालोक को जाननेवाला अनन्तानन्त विस्तार को प्राप्त ज्ञान सदा अचल रहता है, प्रगट होने के बाद ज्यों का त्यों बना रहता है, चलायमान नहीं होता। उसके समान अन्य कोई न होने से वह ज्ञान अतुल कहा जाता है।

इस कलश का भावार्थ पंडित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार लिखते हैं –

"जो पुरुष अंतरंग में चैतन्यमात्र परमवस्तु को देखता है और शुद्धनय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है, उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथा अभाव होकर सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों

को जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान् है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।''

कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जाकै परगास मैं न दीसैं राग द्वेष मोह,
आस्रव मिटत नहिं बंध कौ तरस है ।
तिहूंकाल जा मैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,
आपहूँ अनंत सत्ता नंत तै सरस है ॥
भावश्रुत ग्यान परवान विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहाँ वानी कौ परस है ।
अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,
चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक् दरस है ॥

जिस ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के प्रकाश में मोह-राग-द्वेष दिखाई नहीं देते अर्थात् जो ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष से भिन्न है; जिस भगवान आत्मा के आश्रय से आस्रव का अभाव हो जाता है और बंध का त्रास मिट जाता है; जो स्वयं अनंत है, अनंत गुणपर्यायों सहित है और जिसमें सदा ही अनन्तानन्त पदार्थ अपने गुण-पर्यायों सहित झलकते हैं; यदि भाव-श्रुतज्ञान प्रमाण से विचार करें तो जो अनुभवगम्य है; किन्तु यदि द्रव्यश्रुत से विचार करें तो जो वचनातीत है, वाणी की पकड़ में आनेवाला नहीं है; ऐसा अतुलनीय, अखण्ड, अविचल, अविनाशी, परमधाम चिदानन्दभगवान आत्मा है। उसका दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, उसमें अपनापन ही सम्यग्दर्शन है अथवा वही सम्यग्दर्शन है।

जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मख्याति के कलशों में आदि मंगलाचरण या अंत मंगलाचरण के रूप में लगभग सर्वत्र ही ज्ञान का ही स्मरण किया गया है। वह ज्ञान त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के अर्थ में भी हो सकता है, केवलज्ञान के अर्थ में भी हो सकता है और सम्यग्ज्ञान के

अर्थ में भी हो सकता है। उक्त तीनों अर्थों के प्रतिपादक विशेषण सर्वत्र ही सहज प्राप्त हो जाते हैं। वही स्थिति इस कलश की भी है।

ज्ञानज्योति की महिमावाचक इस कलश पर व्याख्यान करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"ऐसे केवलज्ञान का स्वरूप व महिमा सुनकर कोई पूछ सकता है कि केवलज्ञान के अनुसार तो जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस समय होनी होगी, वह तभी होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है, क्या ऐसी श्रद्धा से पुरुषार्थ का अभाव नहीं हो जायेगा ? जब सबकुछ निश्चित हो तो उसमें किसी को करने का अवसर ही कहाँ रहा ?

समाधान यह है कि यद्यपि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है तथा जिस समय जो पर्याय होनी हो, उस समय वही होती है; तथापि पुरुषार्थ का लोप नहीं होता; क्योंकि ऐसी क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त का जिसे निर्णय हुआ है, उसे तो स्वभाव की अन्तर्दृष्टिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है और आत्मा का दर्शन हो जाना ही यथार्थ पुरुषार्थ है।

जिसे पर्यायबुद्धि या पर्यायदृष्टि दूर होकर अन्तर्दृष्टि या द्रव्यदृष्टि प्राप्त हो, उसे ही क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है तथा क्रमबद्ध का निर्णय ही अपने आप में यथार्थ पुरुषार्थ है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में जीव का अज्ञानजनित समस्त कर्तृत्व एवं कर्तृत्व का अहंकार छूट जाता है एवं अकर्तृत्व एवं ज्ञाता-दृष्टापना प्रगट हो जाता है।[१]"

इस अधिकार को समाप्त करते हुए आत्मख्यातिकार अन्तिम वाक्य के रूप में लिखते हैं -

"**इति आस्रवो निष्क्रान्तः** - इसप्रकार आस्रव रंगभूमि से बाहर निकल गया।"

इस अधिकार की टीका को समाप्त करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा जो छन्द लिखते हैं, वह इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ५, पृष्ठ ३६७

(सवैया तेईसा)

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करै इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चित लाय कहूं जय पाय लहूँ मन भाये ।

आगम में ऐसा कहा है कि द्रव्यास्रव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप होते हैं और भावास्रव मोह-राग-द्वेषरूप, अज्ञानरूप भाव होते हैं। जिन मुनिराजों ने इन आस्रवभावों का अभाव करके अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त की और अन्त में सिद्धदशा को भी प्राप्त किया; सिद्धदशा को प्राप्त उन मुनिराजों को चित्त लगाकर और काया नवाकर मैं नमस्कार करता हूँ, वाणी से उनकी जय बोलता हूँ और वैसा ही बनने की भावना भाता हूँ।

इस छन्द की प्रथम पंक्ति में द्रव्यास्रवों और दूसरी पंक्ति में भावास्रवों की चर्चा है। तीसरी व चौथी पंक्ति में सिद्धदशा को प्राप्त उन मुनिराजों को मन-वचन-काय से नमस्कार किया गया और उन जैसा बनने की भावना व्यक्त की गई है; जिन्होंने इन दोनों प्रकार के आस्रवभावों का अभाव कर अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर अन्त में सिद्धदशा को प्राप्त कर लिया है।

इसप्रकार यह आस्रव अधिकार समाप्त होता है। ●

रागी वन में जाएगा तो कुटिया बनायेगा, वहाँ भी घर बसायेगा, ग्राम और नगर बसायेगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो वह घर ही। रागी वन में भी मन्दिर के नाम पर महल बसायेगा, महलों में भी उपवन बसाएगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं। .....

..... मित्र रागियों के होते हैं और शत्रु द्वेषियों के – वीतरागियों का कौन मित्र और कौन शत्रु ? कोई उनसे शत्रुता करो तो करो, मित्रता करो तो करो, उन पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ६७

संवराधिकार

ग्रन्थाधिराज समयसार में सर्वप्रथम जीवाजीवाधिकार में दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा को वर्णादि व रागादिभावों से भिन्न बताकर उनसे एकत्व-ममत्व छुड़ाया गया है। उसके बाद कर्त्ताकर्माधिकार में उन्हीं वर्णादि व रागादिभावों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व से इन्कार किया गया है। उसके बाद पुण्यपापाधिकार में पाप के समान ही पुण्यभाव को भी बंध का कारण बताकर हेय बताया है, भगवान आत्मा से भिन्न बताया गया है। उसके बाद आस्रवाधिकार में भी उसी बात को आगे बढ़ाते हुए पाप और पुण्य दोनों ही भाव आस्रव हैं, बंध के कारण हैं; इसकारण हेय हैं – यह बताया गया है।

अब इस संवराधिकार में उन सभी भावों से भेदविज्ञान कराया जा रहा है। यद्यपि विगत अधिकारों में भी उक्त भावों से भेदविज्ञान ही कराया गया था; क्योंकि सम्पूर्ण समयसार ही भेदविज्ञान के लिये समर्पित है; तथापि इस संवराधिकार में भेदविज्ञान की विशेष महिमा बताई गई है।

इस अधिकार की आरंभिक गाथाओं की जो उत्थानिका आत्मख्याति टीका में दी गई है, उसमें कहा गया है कि अब सबसे पहले सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है; उसका अभिनन्दन करते हैं।

एकप्रकार से यह अधिकार भेदविज्ञान के अभिनन्दन का ही अधिकार है।

समयसार नाटक के रंगमंच पर अब संवर नामक पात्र प्रवेश करता है।

आत्मख्याति टीका में अन्य अधिकारों के समान ही इस अधिकार का आरंभ भी मंगलाचरण के रूप में ज्ञानज्योति के स्मरणपूर्वक होता है।

मंगलाचरण का वह छन्द इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारविरोधिसंवरजयैकातांवलिप्तास्रव –
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर–
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥ १२५॥

(हरिगीत)

संवरजयी मदमत्त आस्रवभाव का अपलाप कर ।
व्यावृत्य हो पररूप से सद्बोध संवर भास्कर ॥
प्रगटा परम आनन्दमय निज आत्म के आधार से ।
सद्ज्ञानमय उज्ज्वल धवल परिपूर्ण निजरसभार से ॥ १२५॥

अनादि संसार से अपने विरोधी संवर को जीतने से अत्यन्त मदोन्मत्त आस्रवभाव का तिरस्कार कर नित्यविजय प्राप्त करनेवाले संवर को उत्पन्न करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान हो रही है। निजरस के भार से भरित वह चिन्मय उज्ज्वल ज्ञानज्योति परभावों से भिन्न अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चलता से प्रसारित हो रही है, स्फुरायमान हो रही है।

इस अज्ञानी आत्मा पर अनादिकाल से आस्रव ही छाया हुआ है, संवर तो आजतक प्रगट ही नहीं हुआ। अपने जन्मजात विरोधी संवर को प्रगट नहीं होने देने के कारण आस्रवरूपी योद्धा अत्यन्त मदोन्मत्त हो रहा था। ऐसे आस्रवरूपी योद्धा को जड़मूल से बर्बाद कर नित्यविजय प्राप्त करनेवाले संवर को उत्पन्न करनेवाली ज्ञानज्योति के ही गीत यहाँ गाये गये हैं।

यहाँ 'नित्यविजय' शब्द का प्रयोग किया है; जिसका तात्पर्य यह है कि जिस मिथ्यात्वरूप आस्रवभाव का अभाव करता हुआ जो संवरभाव प्रगट हुआ है; उस संवरभाव का अब कभी भी अभाव नहीं होगा और उस मिथ्यात्वरूप आस्रवभाव का अब कभी भी उदय नहीं होगा। निष्कर्ष यह है कि यह क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात है या फिर जिस औपशमिक सम्यग्दर्शन से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर नियम से क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है – उसकी बात है।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''यहाँ यह कहते हैं कि आस्रव का नाश करके जो संवर प्रगट हुआ है, वह मोक्षदशा प्रगट होने तक साथ रहेगा, वह उसके पहले पीछे हटने वाला नहीं है। राग से पृथक् होकर जो इसने आस्रव को जीत लिया है, उसकी यह जीत सदा रहेगी। आनन्द के नाथ भगवान आत्मा ने जो निजस्वरूप का अनुभव करके संवर प्रगट कर लिया है, वह छूटेगा नहीं; क्योंकि द्रव्य स्वयं अविनाशी है; अत: उसके आश्रय से प्रगट हुआ संवर भी अविनाशी हो गया। अत: अब पुन: आस्रव का जन्म नहीं होगा।

वैसे औपशमिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के छूटने की चर्चा तो आस्रव अधिकार में कर ही आये हैं। यहाँ तो अप्रतिहत पुरुषार्थ की अपेक्षा यह कथन किया है; अत: इसमें कोई विरोध नहीं समझना। यद्यपि वर्तमान में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं है, पर कोई-कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसा भी होता है, जो छूटने के बजाय सीधा क्षायिक में जा मिलता है। यहाँ वही अपेक्षा समझें तो आगम में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को जोड़नू क्षायिक सम्यग्दर्शन भी कहा जा सकता है। यह छूटकर पुन: मिथ्यात्वरूप नहीं होता, बल्कि क्षायिकरूप ही होता है।[१]

जिसतरह बड़े व्यक्ति या महापुरुष अपने वचन से पीछे नहीं हटते; उसीतरह भेदज्ञान के बल से यह आत्मा महान हुआ है। अत: यह भी संवर से पुन: आस्रवभाव को प्राप्त नहीं होगा।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव से हजार वर्ष बाद हुए आचार्य अमृतचंद्रदेव ने गजब की बात कही है। भले ही अवधि, मन:पर्यय व केवलज्ञान का वर्तमान में विरह हो; पर अपने अन्तर के चिदानन्द भगवान का अब विरह नहीं रहा। इसके विरह का अब अंत हो गया है। अब तो हमारी सच्चिदानंद प्रभु आत्मा से भेंट हो चुकी है और उसकी सही श्रद्धापूर्वक अब हम उसमें ही ठहरने के लिये

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ३

प्रयत्नशील हैं। इसकारण हम गर्व से कह सकते हैं कि हमने आस्रव पर शाश्वत विजय प्राप्त करली है।[१]

भगवान महावीर स्वामी के लगभग १५०० वर्ष बाद आचार्य अमृतचंद्र हुए। वे कहते हैं कि हमारी पूर्णानंद के नाथ भगवान आत्मा से भेंट हुई है और हमें संवर प्रगट हुआ है। हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं आत्मिक शान्ति की अद्भुत दशा प्रगट की है, हमें आस्रव पर विजय मिली है। हमने राग से भिन्न होकर जो भेदज्ञान प्रगट किया है, वह सदैव यथावत् रहेगा। अब कभी भी राग से एकत्व नहीं होगा। अनन्तकालतक विजय का डंका बजता ही रहेगा और आस्रव सदैव हारता ही रहेगा। अब तो हम केवलज्ञान प्राप्त करके ही रहेंगे।[२]"

मंगलाचरण के इस छन्द का भावानुवाद कविवर पंडित बनारसीदासजी समयसार नाटक में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

आतम कौ अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्रव महातम अखंड अंडवत है।
ता कौ विसतार गिलिबे कौ परगट भयौ,
ब्रहमंड कौ विकासी ब्रहमंडवत है॥
जामैं सब रूप जो सब मैं सबरूप सौ पै,
सबनि सौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवर कौ भेष धरै,
ताकी रुचिरेख कौं हमारी दंडवत है॥

आत्मा का अहित करनेवाला और अध्यात्म (आत्मज्ञान) से रहित महा अंधकार रूप यह आस्रवभाव अंडे के समान अखण्डरूप से जगत के अज्ञानी आत्माओं को अनादिकाल से सता रहा है। उस आस्रवभाव के विस्तार को रोकने के लिये शुद्ध संवरभाव का वेष धारणकर ज्ञानरूपी सूर्य उदय होकर शोभायमान हो रहा है। वह ज्ञानरूपी सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्मांड (जगत) को विकसित करनेवाला है और ब्रह्माण्ड के ही समान है। यद्यपि वह ज्ञान सर्व पदार्थगत

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ४

है और सर्व पदार्थ ज्ञानगत हैं; तथापि वह ज्ञान आकाश के समान सभी पदार्थों से अलिप्त रहता है। ऐसे उस ज्ञानरूपी सूर्य को, उसके प्रकाश को हमारा बारंबार नमस्कार हो।

इस छन्द में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ ज्ञान को सर्व पदार्थगत और सर्व पदार्थों को ज्ञानगत कहा गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा होने पर भी वह ज्ञान आकाश के समान सर्व पदार्थों से अलिप्त ही रहता है।

जिसप्रकार आकाश में अनन्तानन्त पदार्थ रहते हैं; किन्तु आकाश उन से अलिप्त ही रहता है, भिन्न ही रहता है, अप्रभावित ही रहता है; उनसे किसी प्रकार से जुड़ता नहीं है। उसीप्रकार ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात होते हैं; किन्तु ज्ञान उन्हें जानकर भी उनसे अलिप्त ही रहता है, भिन्न ही रहता है, अप्रभावित ही रहता है; उनसे किसी प्रकार से जुड़ता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वह ज्ञेयाकार होकर भी ज्ञेयाकार नहीं होता, ज्ञानाकार ही रहता है; क्योंकि ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है।

कलशटीका में इसी कलश की टीका में इस बात को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''वह ज्ञानज्योति ज्ञेयाकार परिणमन से परान्मुख है। भावार्थ इसप्रकार है कि सकल ज्ञेयवस्तु को जानती है; परन्तु तद्रूप नहीं होती, अपने स्वरूप ही रहती है।''

ध्यान रहे उक्त कथन में ज्ञान का परज्ञेयों को जानने का निषेध नहीं है, अपितु तद्रूप होने का निषेध है।

इस संबंध में विशेष जानकारी के लिये प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक अधिकार का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मंगलाचरण के इस कलश में उस ज्ञानज्योति का स्मरण किया गया है कि जिसने अनादिकाल से संवर का उद्भव न होने देनेवाले आस्रवभाव का पराभव करके संवर का ऐसा उदय किया है कि जो कभी भी अस्त नहीं होगा। ●

समयसार गाथा १८१ से १८३

अब इस संवर अधिकार की मूल गाथाएँ आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचंद्र उत्थानिका में लिखते हैं कि अब कुन्दकुन्दाचार्यदेव सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है, उसका अभिनन्दन करते हैं। वे मूलगाथायें इसप्रकार हैं –

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥ १८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥ १८२॥
एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा ॥ १८३॥

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना।
बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना ॥ १८१॥
अष्टविध द्रवकर्म में नोकर्म में उपयोग ना।
इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना ॥ १८२॥
विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आतमा ॥ १८३॥

उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में क्रोध नहीं है।

इसीप्रकार आठ प्रकार के कर्मों में और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म व नोकर्म नहीं हैं।

जब जीव को इसप्रकार का अविपरीत ज्ञान होता है, तब यह उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।

इन गाथाओं में क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से उपयोग स्वरूप भगवान आत्मा को भिन्न बताया गया है और कहा गया है कि उपयोग स्वरूप भगवान आत्मा एकमात्र उपयोग का ही कर्ता-

भोक्ता है। वह इन भावकर्मों, द्रव्यकर्मों और नोकर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं। इसप्रकार का भेदज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मों का संवर करने का उपाय है, कर्मबंध का निरोधक है।

ये गाथायें ही वे महत्त्वपूर्ण बहुचर्चित गाथायें हैं, जिनकी आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उपयोग स्वरूप ज्ञान एवं क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों तथा शरीरादि नोकर्मों के बीच प्रदेशभेद की चर्चा करते हैं।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"उपयोग में तो चैतन्य का परिणमन होने से वह उपयोग ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म - सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है। इसलिए उपयोग में क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है। इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना आधाराधेयत्व अपने-अपने में ही है। इसलिए उपयोग, उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोध में ही है। इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया।"

इन गाथाओं का मर्म आत्मख्याति में इसप्रकार उद्घाटित किया गया है -

"वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है; क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं; इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है। जब एक वस्तु की दूसरी वस्तु है ही नहीं; तब उनमें परस्पर आधाराधेय संबंध भी हो ही नहीं सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहने रूप) ही आधाराधेय संबंध होता है।

जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से जाननक्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित वह ज्ञान, ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण क्रोधादि क्रियारूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित वे क्रोधादि क्रोधादिक में ही हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है; इसलिए ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जाननक्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है; क्योंकि जाननक्रिया और ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि ज्ञान, ज्ञान में ही है।

इसीप्रकार क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं – इसको भी घटित कर लेना चाहिए।

क्रोधादि भावकर्मों में, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों में और शरीरादि नोकर्मों में ज्ञान नहीं है; क्योंकि ज्ञान में और उनमें परस्पर अत्यन्त स्वरूप विपरीतता होने से ज्ञान में और उनमें परस्पर आधाराधेय संबंध नहीं है।

जिसप्रकार ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है, उसीप्रकार क्रोधादिक्रिया भी ज्ञान का स्वरूप हो; अथवा जिसप्रकार क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादिक्रिया है, उसीप्रकार जाननक्रिया भी हो – ऐसा किसी भी विधि से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं। इसप्रकार स्वभावों के भिन्न-भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न ही हैं। इसप्रकार ज्ञान और अज्ञान (क्रोधादि) में आधाराधेयत्व नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जब एक आकाश को ही अपनी बुद्धि में स्थापित करके उसके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाता है तो आकाश को अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध होने से, आकाश को अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य होने से बुद्धि में अन्य आधार की अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती; इसकारण यह भली-भाँति समझ लिया जाता है कि एक आकाश ही आकाश में प्रतिष्ठित है। ऐसा समझ लेने पर आकाश का पर के साथ आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता।

इसीप्रकार जब एक ज्ञान को ही अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधार-आधेयभाव का विचार किया जाये तो ज्ञान को अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध होने से, ज्ञान को अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य होने से बुद्धि में अन्य आधार की अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती; इसकारण यह भली-भाँति समझ लिया जाता है कि एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित है। ऐसा समझ लेने पर ज्ञान का पर के साथ आधार-आधेयत्व भासित नहीं होता।

इसलिए ज्ञान, ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं।

इसप्रकार ज्ञान और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्म में भेदविज्ञान भली-भाँति सिद्ध हुआ।''

उक्त सम्पूर्ण कथन पर ध्यान देने पर एक बात स्पष्ट ही भासित होती है कि इन गाथाओं में उन्हीं बातों को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है, जिनकी चर्चा आचार्यदेव आरंभ से करते आ रहे हैं। आत्मा से भिन्न जिन वस्तुओं को जीवाजीवाधिकार में २९ भेदों में विभाजित किया था; यहाँ उन सभी को भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म में विभाजित करके भेदविज्ञान कराया गया है। ज्ञानक्रिया को कर्त्ताकर्माधिकार में भी स्वभावभूत बताकर अनिषिद्ध बताया था और यहाँ भी जाननक्रिया को ज्ञान से अभिन्न ही बताया गया है।

इन गाथाओं की टीका में जो प्रदेशभेद की चर्चा है, वह भी इस सामान्य नियम के अन्तर्गत ही है कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होती; क्योंकि दो वस्तुओं के बीच प्रदेशभेद होता है। कर्म, नोकर्म और भावकर्म को उपयोगस्वरूप आत्मवस्तु से भिन्न सिद्ध करते हुए सामान्यरूप से ही प्रदेशभिन्नत्व का हेतु प्रस्तुत किया गया है।

इस बात को जिस रूप में आत्मख्याति में प्रस्तुत किया गया है, भावार्थ में पंडित जयचंदजी छाबड़ा ने भी उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया है। यद्यपि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने इस ओर सभी का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया है; तथापि वे भी अपने भाव को उसी भाषा में व्यक्त करते हैं कि जिस भाषा में आचार्य अमृतचंद्र और जयचंदजी छाबड़ा ने व्यक्त किया है।

आचार्य अमृतचंद्र की आत्मख्याति और छाबड़ाजी का भावार्थ तो हम देख ही चुके हैं; अब स्वामीजी के प्रतिपादन पर भी दृष्टि डालते हैं; जो इसप्रकार है -

''यहाँ संवर अधिकार में विकाररूप भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से भिन्न अर्थात् भेदज्ञान कराके 'जाननक्रिया' लक्षण द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाया गया है; अत: यहाँ जाननक्रिया को आधार व आत्मा को आधेय कहा गया है।

वस्तुत: तो त्रैकालिक आत्मा के आश्रय से होनेवालें भेदज्ञान के कारण जाननक्रिया का आधार आत्मा को ही कहना चाहिए; पर ज्ञान कराने की अपेक्षा

यहाँ 'जाननक्रिया' के आधार से आत्मा की पहचान कराई गई है, इस कारण जाननक्रिया को आधार व आत्मा को आधेय कहा गया है। अधिकार अतिसूक्ष्म है। कथन की अपेक्षा को न समझे तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। अत: ध्यान से सुनने-समझने की जरूरत है।

उपयोग में उपयोग है अर्थात् राग से भिन्न होकर जो भेदज्ञान किया, उस जाननक्रिया में आत्मा है अर्थात् उस जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात होता है। जाननक्रिया में आत्मा है, उसमें राग नहीं है अर्थात् जाननक्रियास्वरूप आत्मा में राग नहीं है।[१]

पुण्यरूप व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आत्मा में नहीं है और आत्मा व्यवहाररत्नत्रयरूप पुण्यभावों में नहीं है। भाई! आत्मवस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है कि जो पुण्य से जाना-पहचाना जा सके। राग से या पुण्य से भेदज्ञान करके ज्ञान की परिणति द्वारा आत्मा को लक्ष्य में लेने पर ही उसकी जाननक्रिया में आत्मा ज्ञात होता है।[२]

यहाँ शिष्य पूछता है कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है; इसका क्या कारण है?

उत्तर में कहते हैं कि दोनों में प्रदेशभेद होने से उनके एक सत्ता की अनुपपत्ति है। अर्थात् दोनों की सत्ता जुदी-जुदी है। शुद्ध आत्मा के प्रदेश व आस्रव के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। हैं तो असंख्यप्रदेश ही, पर जितने अंश में आस्रव उत्पन्न होता है, उन प्रदेशों को भिन्न कहा है।[३]

जिसतरह एक आत्मा दूसरे आत्मा का नहीं है, जिसतरह आत्मा शरीर में नहीं है और शरीर आत्मा में नहीं है; उसीप्रकार दया, दान, व्रत आदि के विकल्प राग हैं तथा उनका क्षेत्र – प्रदेश भिन्न है और आत्मा का प्रदेश भिन्न है; दोनों वस्तुयें ही भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में विकार होता है; परन्तु जितने अंश में विकार उत्पन्न होता है; उन प्रदेशों को भिन्न कहा गया है। इसतरह आस्रव व आत्मा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ११-१२
२. वही, पृष्ठ १२
३. वही, पृष्ठ १३

के प्रदेश भिन्न-भिन्न होने से उन दोनों के एक सत्ता की अनुपपत्ति है। आत्मा के असंख्यप्रदेशों में दो भाग पड़ते हैं। जो द्रव्य है, वह पर्याय नहीं और जो पर्याय है, वह द्रव्य नहीं।

वस्तुतः देखा जाये तो निर्मलपर्याय के प्रदेश (अंश) भी ध्रुव आत्मा से जुदे हैं, पर यहाँ निर्मलपर्याय की बात नहीं है; यहाँ तो मलिन पर्याय की बात है। जितने अंश में आस्रव होता है तथा जितने अंश में संवर (निर्मलता) होता है - इन दोनों (आस्रव व संवर) के प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं। गजब बात है भाई! देखो, ये माथे के बाल हैं न ? इनमें कोई-कोई बाल ऐसा होता है, जिसकी जड़ एक व फनगा (सिरे) दो होते हैं; किन्तु वे फनगे चिरते नहीं हैं; उन्हें चीरकर दो बाल नहीं बनाये जा सकते; परन्तु ज्ञान में ऐसी विशेषता है कि अखण्ड में भी अंशभेद किये जा सकते हैं। यह कोई अलौकिक बात है, जो दिगम्बर संतों के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है। अहो! दिगम्बर संत तो केवली के आड़तिया हैं।[१]

यहाँ कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं तथा अपने से भिन्न वस्तुयें हैं। इन्हें अपना मानना मिथ्यात्व तो है ही, आत्मघातक होने से हिंसा भी है। इसीतरह पर की दया पालने का भाव भी स्वभावभाव न होने से हिंसा ही है और इसे अपना मानना महामिथ्यात्व है। राग से भिन्न होकर भगवान ज्ञायक के आश्रय से जो ज्ञानक्रियारूप वीतरागी अवस्था होती है, वह अहिंसा है और ऐसे अहिंसक भाव से आत्मा ज्ञात होता है। यदि यह बात समझ में आ जावे, तब तो बेड़ा पार ही हो जावे, महाकल्याण हो जावे।[२]

यहाँ तक दो बातों का स्पष्टीकरण हुआ। एक तो यह है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है और दूसरी यह कि आस्रव व आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

अब तीसरी बात यह है कि इसप्रकार जब एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, तो उसमें परस्पर आधार-आधेयसम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठारूप-दृढ़तापूर्वक रहने रूप आधार-आधेयसम्बन्ध होता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १३-१४
२. वही, पृष्ठ १४-१५

देखो, यहाँ यह कह रहे हैं कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं होने से अथवा आस्रव आत्मवस्तु का नहीं होने से आत्मा के साथ आस्रव का आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है। व्यवहाररत्नत्रयरूप राग के आधार से आत्मा जाना जाये अथवा आत्मा के आधार से व्यवहाररत्नत्रयरूप राग होता हो – ऐसा आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है। जाननक्रिया जो कि आत्मा का स्वरूप है, उसमें आत्मा ज्ञात होता है; इसलिए आत्मा की अपने स्वरूपभूत जो जाननक्रिया है, उसमें प्रतिष्ठारूप-दृढ़पने रहनेरूप आधार-आधेयसम्बन्ध है; परन्तु राग में रहनेरूप आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं है।

राग और आत्मा भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। जो आत्मा से भिन्न है, उस राग से आत्मा का लाभ मानना और उसमें अपना कर्तव्य मानना मिथ्याभाव है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को छोड़कर यदि कोई शुभराग का कर्ता होता है तो उसका वह मिथ्याभाव है। अहाहा! शुद्ध चैतन्य के भानपूर्वक जिसने राग से भेदविज्ञान किया है – ऐसा ज्ञानी रागवाला होकर भी राग का कर्ता नहीं होता। राग में आत्मा नहीं और आत्मा में राग नहीं – ऐसा शुद्ध आत्मा सदा सर्वज्ञस्वरूप है। **जाने सबको, पर करे कुछ नहीं** – ऐसा आत्मवस्तु का स्वरूप है।[१]

शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के लक्ष्य से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान व आनन्दरूप परिणति होती है, उसमें आत्मा जानने में आ जाता है। इसलिए उसे आधार कहा और आत्मा को आधेय कहा है। यह जाननक्रिया स्वभावभूत होने से आत्मा से अभिन्न है। इसलिए कहा है कि ज्ञान आत्मा में ही है।[२]

पहले कह आये हैं कि ज्ञान ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं। अब कहते हैं कि क्रोधादि में, कर्म में अथवा नोकर्म में ज्ञान (आत्मा) नहीं है तथा आत्मा में क्रोधादि, कर्म व नोकर्म नहीं हैं। देखो, ज्ञान-श्रद्धान व रमणतारूप आत्मा का परिणमन राग के कारण, कर्म के कारण या नोकर्म के कारण नहीं है। आत्मा को कर्म की ऐसी भी कोई पराधीनता नहीं है कि जब कर्म रास्ता

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १५-१६
२. वही, पृष्ठ १९

देंगे, तभी आत्मा में ज्ञान व श्रद्धान का सम्यक् परिणमन होगा, अन्यथा नहीं। यह शरीर-मन-वाणी, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार इत्यादि में आत्मा नहीं है। इसके कारण आत्मा को कुछ लाभ-हानि हो - ऐसा भी नहीं है।[१]

आचार्य कहते हैं कि आत्मा शुद्ध पवित्र चिदानंदघनस्वरूप है; सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा ही आत्मा देखा है। इसका जो राग से भिन्न होकर सम्यक्श्रद्धा, निराकुल शान्ति एवं अतीन्द्रिय आनंद की क्रियारूप शुद्ध परिणमन है; उसे ही जाननक्रियारूप परिणमन कहा गया है। तथा दया, दान, व्रतादि राग की रुचिरूप परिणमन है, उसे क्रोधादिक्रिया कहते हैं। इन दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। जाननक्रिया से क्रोधादिक्रियायें विरुद्ध हैं। जाननक्रियारूप परिणमना मोक्षमार्ग है और इसका फल मोक्ष है, अनंत सुख है तथा क्रोधादिरूप परिणमना बन्धमार्ग है और इसका फल संसार है, अनंत दुःख है।

जाननक्रिया धर्म की क्रिया है तथा राग की रुचिरूप क्रोधादि क्रियायें स्वभाव से विरुद्ध होने से अधर्म की क्रियायें हैं। जो अनादि से रागादि के साथ एकत्व की क्रियायें हैं, वो क्रोधादि की क्रियायें हैं तथा जो स्वभाव के साथ एकत्व हुआ, वह जाननक्रिया है। उसे ही सम्यग्दर्शन की क्रिया, आनंद की क्रिया, शुद्धता की क्रिया, स्वरूप की क्रिया और वीर्य की क्रिया इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है। यही एकमात्र यथार्थ धर्म की क्रिया है। बापू! एक बार ऐसा निर्णय कर कि इसके बिना धर्म का लाभ नहीं होता।[२]"

उक्त मंथन पर गहराई से दृष्टि डालने पर सभी बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। यहाँ जाननक्रिया को आधार कहने का आशय यह है कि जाननक्रिया के आधार से ही भगवान आत्मा की पहिचान हो सकती है; राग की क्रिया या जड़ की क्रिया के आधार से भगवान आत्मा को नहीं जाना जा सकता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ २४-२५

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीका में – ज्ञानक्रिया से अभिन्न आत्मा और रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म के बीच सशक्त भेदविज्ञान कराकर अब भेदज्ञान से प्राप्त आत्मोपलब्धि प्राप्त होने पर मुदित होने की प्रेरणा आगामी कलश में इसप्रकार देते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो–
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

(हरिगीत)

यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जड़रूप है ।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है ॥
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ ॥ १२६॥

अन्तरंग में चैतन्यस्वरूप को धारण करनेवाले ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाले राग – इन दोनों के दारुणविदारण द्वारा अर्थात् भेद करने के उग्र अभ्यास के द्वारा सभी ओर से विभाग करके यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिए अब हे सत्पुरुषों ! अन्य रागादि से रहित एक शुद्धविज्ञानघन के पुंज आत्मा में स्थित होकर मुदित होओ, प्रसन्न होओ।

इस कलश में यह बताया जा रहा है कि ज्ञान और राग में अत्यधिक अन्तर है; क्योंकि ज्ञान चैतन्यस्वरूप है और राग जड़रूप है। उक्त तथ्य का अन्तर में मंथन करने से, उग्र अभ्यास करने से ज्ञान और राग की भिन्नता भली-भाँति ख्याल में आ जाती है और दृष्टि राग पर से हटकर ज्ञानस्वभाव पर स्थिर हो जाती है। यही भेदविज्ञान है। इसके अभ्यास से ही आत्मा, आत्मा में स्थिर होकर अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है। सच्चा सुख प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

उक्त छन्द का भावानुवाद समयसार नाटक में इसप्रकार किया गया है –

(सवैया तेईसा)

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित, भेद-विग्यान सुतीछन आरा ।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ, करै जड़-चेतनरूप दुफारा ॥
सो जिन्ह के उर मैं उपज्यौ, न रुचै तिन्ह को परसंग-सहारा ।
आतम को अनुभौ करि ते, हरखैं परखैं परमातम-धारा ॥

शुद्ध, स्वाधीन, अभेद और सर्वबाधाओं से रहित भेदविज्ञानरूपी अत्यन्त तीक्ष्णधारवाले आरे (करोंत) ने अन्तर में स्वभाव व विभाव का भेद करके जड़स्वभाव और चेतनस्वभाव के बीच दो फाड़ कर दिया है। तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञान के बल से आत्मा ने राग और ज्ञान को भिन्न-भिन्न जान लिया है। ऐसा भेदविज्ञान जिनके अन्तर में उत्पन्न हो गया है; उन्हें परपदार्थों की संगति और उनका सहारा लेने की बात रुचती ही नहीं है। वे भेदविज्ञानी जीव आत्म-अनुभव करके परमात्मा का स्वरूप पहिचान लेते हैं और परमानन्द को प्राप्त होते हैं।

आत्मख्याति टीका में कलश लगभग सर्वत्र ही गद्यटीका के बाद ही आते हैं; किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी हैं कि जहाँ टीका के बीच में भी कलश आ गये हैं। यह कलश भी उन्हीं में से एक है, जो टीका के बीच में आया है। इस कलश के बाद जो टीका है, उसका भाव इसप्रकार है –

"इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी रागादिरूप विपरीतता को प्राप्त न कराता हुआ अविचलरूप से रहता है तब ज्ञान शुद्धोपयोगमयात्मकता के द्वारा ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी मोह-राग-द्वेषरूप भाव को नहीं करता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव का अभाव है लक्षण जिसका, ऐसा संवर होता है।"

टीका के इस अंश में मात्र यही कहा गया है कि स्वभाव और विभाव के बीच हुए भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है, आत्मानुभूति होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से, आत्मानुभूति से आस्रव का निरोध है लक्षण जिसका, ऐसा संवर होता है। अत: यह सहज ही सिद्ध हुआ कि संवर का मूलकारण भेदविज्ञान ही है। ●

समयसार गाथा १८४-१८५

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥

ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे ।
त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे ॥१८४॥
जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो ।
वे आतमा जाने न माने राग को ही आतमा ॥१८५॥

जिसप्रकार सुवर्ण अग्नि से तप्त होता हुआ भी अपने सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार ज्ञानी कर्मोदय से तप्त होता हुआ भी ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता – ज्ञानी ऐसा जानता है और अज्ञानी अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने से आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसे उपर्युक्त भेदविज्ञान है, वह उस भेदविज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है कि जिसप्रकार प्रचण्ड अग्नि से तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार प्रचण्ड कर्मोदय से घिरा हुआ होने पर भी ज्ञानी ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता; क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है। स्वभाव को छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा। चूंकि वस्तु का नाश होता नहीं; क्योंकि सत् का नाश होना असंभव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रान्त होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता और मोही नहीं होता; अपितु वह शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है।

जिसे उपर्युक्त भेदविज्ञान नहीं है; वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ अज्ञानांधकार से आच्छादित होने से चैतन्यचमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को न

जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है और मोही होता है; किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।''

इस टीका में आचार्य अमृतचंद्र हमारा ध्यान इस महासत्य की ओर आकर्षित कर रहे हैं कि हजारों कारणों के एकत्रित हो जाने पर भी स्वभाव का नाश नहीं होता।

यहाँ हजारों का आशय हजारों ही नहीं है; अपितु लाखों, करोड़ों, असंख्य, अनन्त है; क्योंकि ऐसा नहीं है कि हजारों कारण मिलने पर तो वस्तु अपने स्वभाव को न छोड़े; किन्तु यदि लाखों कारण मिल जायें तो छोड़ दे।

अरे भाई। वस्तु अपने स्वभाव को अनन्तों कारण मिलने पर भी नहीं छोड़ती – यहाँ यह बताना ही अभीष्ट है। अतः हजारों का अर्थ मात्र हजारों ही नहीं लेना; अपितु अनन्त लेना। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति में वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती।

दूसरी बात यह है कि यहाँ द्रव्यस्वभाव की बात नहीं है, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित पर्याय की बात है। जिसको भेदविज्ञान हो गया, जिसने अपने आत्मा को परपदार्थों और रागदि विकारी भावों से भिन्न जान लिया, जिसने क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से भिन्न और जाननक्रिया से अभिन्न अपने आत्मा को जान लिया, मान लिया; उस ज्ञानी आत्मा की बात यहाँ है। यहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा की नहीं; अपितु सम्यग्ज्ञानरूप परिणत आत्मा की बात है। ज्ञानी माने ज्ञानस्वभावी नहीं; अपितु ज्ञानी माने सम्यग्ज्ञानपरिणति से परिणत ज्ञानी – यह बात है यहाँ।

हजारों कारण मिलने पर भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ता का आशय यह है कि वह पर को निज जानने-मानने रूप परिणमित नहीं होता। इसीप्रकार वह रागी, द्वेषी और मोही नहीं होता का आशय भी यह है कि वह अनन्तानुबंधी राग-द्वेष रूप परिणमित नहीं होता, पर को निज माननेरूप मिथ्यात्व नामक मोहरूप परिणमित नहीं होता।

यह बात चौथे गुणस्थान वाले ज्ञानी की अपेक्षा है। यदि हम पंचमगुणस्थान वाले ज्ञानी की अपेक्षा बात करें तो फिर वह अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण राग-द्वेषरूप और मिथ्यात्वरूप परिणत नहीं होता - ऐसा अर्थ करना होगा। इसीप्रकार छठे-सातवें गुणस्थान वाले मुनिराजों की अपेक्षा बात करें तो फिर वे अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण राग-द्वेषरूप और मिथ्यात्वरूप परिणमित नहीं होते - ऐसा अर्थ करना होगा और यदि केवलज्ञानी की बात करें तो फिर यह कहा जा सकता है कि वे किसी भी प्रकार के राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित नहीं होते।

ज्ञानी जीव जिस भूमिका में हो, उसे उस भूमिका में नहीं होनेवाले राग-द्वेष-मोह नहीं होते। - यहाँ यह अर्थ करना ही शास्त्रसम्मत और युक्तिसंगत है।

इस संबंध में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"भाई ! यह वर्तमान परिणति की बात है, त्रिकाली स्वभाव की बात नहीं है। त्रिकाली स्वभाव तो अज्ञानी का भी ऐसा का ऐसा ही है। यहाँ तो उस ज्ञानी की बात है, जिसने इस त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के आश्रय से राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव का अनुभव किया है, ऐसे भेदज्ञानी जीव का ज्ञान (परिणमन) प्रचण्ड कर्मोदय से घिर जाये तो भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता। उसका कारण बताते हुए आगे कहते हैं कि हजारों कारण मिलने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है; उसके छोड़ते ही स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा और वस्तु का नाश तो होता नहीं है; क्योंकि सत् का नाश असंभव है।

यहाँ हजारों कारण कहकर तो संख्या की अपरिमितता बताई है। हजारों का तात्पर्य हजारों से ही नहीं है, बल्कि असंख्य कारणों के मिलने पर भी वस्तु का अपने स्वभाव को छोड़ना अशक्य है, असंभव है।[१]

सच्चिदानन्दरूप भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान व आनन्द के स्वभाव से भरा है। यद्यपि समकिती की पर्याय में आत्मा के आनन्दस्वभाव का अंश ही प्रगट

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ४६

हुआ है, पर है वह सिद्ध के आनन्द की जाति का ही। तथा मुनि के आनन्द की तो बात ही क्या कहें, उनके तो प्रचुर मात्रा में आनन्द का फव्वारा फूटता है। जिसप्रकार फव्वारे में से पानी छूटता है; उसीप्रकार ज्ञानी के अन्दर में से अतीन्द्रिय आनन्द की प्रचण्ड धारा फूट पड़ती है। ऐसे ज्ञानी का, कर्म के बन्धन क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं। भले ही वह असाता के उदय से घिरा हो, तो भी आंशिक वीतरागता एवं आनंदपना नहीं छूटता; क्योंकि अनंत कारण मिलने पर भी वीतराग परिणति नहीं छूटती, यदि छूट जावे तो वस्तु का ही नाश हो जायेगा।

वीतरागभाव का रंग चढ़ा है न ? जिस पर वीतरागता का रंग चढ़ जाता है, उस पर फिर राग का रंग नहीं चढ़ता।[१]

धर्मी रागी-द्वेषी नहीं होता। यहाँ मिथ्यात्व के साथ होनेवाले राग-द्वेष की बात है। चारित्रमोहोदयजन्य राग-द्वेष भी नहीं होते - ऐसे नहीं समझना।[२]

जयसेनाचार्य ने इस बात को समझाने के लिये पांच पाण्डवों का दृष्टान्त दिया है। वहाँ कहा है कि पांच पाण्डव जो अपनी सुकोमल शरीरवाले राजकुमार की अवस्था में अत्यन्त सुन्दर व सुकुमार थे, जब वे विरागी होकर मुनि हो गये और शत्रुंजय पर्वत पर ध्यानस्थ हो कर अतीन्द्रिय प्रचुर आनन्द का वेदन कर रहेथे, तब उन्हीं के भाई दुर्योधन के भानजे ने अपने पूर्व के बैर को याद करके लोह के धगधगाते कड़े उनके हाथ-पैरों में पहना दिये। अहा! ऐसे प्रचण्ड कर्मोदय से घिरे हुए होने पर भी वे महामुनि भावलिंगी संत आनन्द में ही मग्न रहे। उस काल में भी उनके ज्ञान ने अपना ज्ञानत्व नहीं छोड़ा।

तीन पांडवों ने तो केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर लिया; पर नकुल व सहदेव अपने साधर्मी भाइयों की पीड़ा देख स्थिर न रह सके, उन्हें किंचित् धर्मस्नेह का शुभ विकल्प आ गया तो उसके फल में उन्हें सर्वार्थसिद्धि की आयु बंध गई।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ४७
२. वही, पृष्ठ ४८

अहा ! इतने से अपराध से केवलज्ञान ३३ सागर से भी अधिक काल के लिये दूर हो गया; क्योंकि पुनः मनुष्यभव में आने के बाद आठ वर्ष तक केवलज्ञान की पात्रता नहीं आती।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह बात एकदम स्पष्ट है कि भूमिका के योग्य चारित्रमोह संबंधी राग-द्वेष होने पर भी भूमिका के अयोग्य राग-द्वेष नहीं होते – इसी बात को यहाँ ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह नहीं होते – इस भाषा में व्यक्त किया जाता है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ४५

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होती तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता। अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थाई न होकर स्थाई होते तो फिर मोक्ष कैसे होता ? अतः संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है।

परिवर्तन का स्वरूप भी तो हमारे पक्ष में ही है। अनन्तदुःखरूप संसार का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष तो प्रकट होता है, पर मोक्ष का अभाव होकर फिर संसार-अवस्था प्रकट नहीं होती। अनन्तदुःख विनाशीक है और अनन्तसुख अविनाशी है – इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी?

पर्यायों और संयोगों को स्थिर रखने का विकल्प निरर्थक तो है ही, अविचारितरमणीय भी है। यदि लौकिकदृष्टि से विचार करें, तब भी मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जबकि अमरता एक काल्पनिक उड़ान के अतिरिक्त कुछ नहीं है; क्योंकि भूतकाल में हुए अगणित वीरों में से आज कोई भी तो दिखाई नहीं देता। यदि किसी को सशरीर अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे बीच अवश्य होते।

– बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ २८

समयसार गाथा १८६

यह बात पहले कही जा चुकी है कि भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है। १८४-१८५ वीं गाथाओं में इस बात को समझाया गया है कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि किसप्रकार होती है और अब इस १८६ वीं गाथा में यह समझाया जा रहा है कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर किसप्रकार होता है। यही कारण है कि इस गाथा की उत्थानिका आ. अमृतचंद्र आत्मख्याति में इसप्रकार लिखते हैं –

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत् – शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर किसप्रकार होता है ? – यदि ऐसा पूछे तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि –

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १८६ ॥

जो जानता मैं शुद्ध हूँ, वह शुद्धता को प्राप्त हो ।
जो जानता अविशुद्ध वह, अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥ १८६ ॥

शुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जो अविछिन्नधारावाही ज्ञान से सदा शुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह '**ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है**' – इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध होने से शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और जो अज्ञान से सदा ही अशुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह '**अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होता है**' – इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत मोह-राग-द्वेष

की संतति का निरोध न होने से अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) से ही संवर होता है।''

आचार्य जयसेन ने भी इस गाथा की टीका में इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है। अन्तर मात्र इतना है कि जहाँ आत्मख्याति में **'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होता है'** – यह न्याय प्रस्तुत किया है; वहाँ तात्पर्यवृत्ति में **'उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है'** – यह न्याय प्रस्तुत किया गया है। दोनों का भाव एक ही है; क्योंकि ज्ञानमय भाव का उपादान ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञानमय भाव का उपादान अज्ञानमय भाव ही होता है।

देखो, यहाँ आचार्य जयसेन अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि कार्य तो उपादान के सदृश ही होता है।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो, गाथा में **'शुद्धं वियाणंतो'** वाक्य आया है, उसका यह अर्थ किया है कि जिसको ऐसा अटूट धारावाही ज्ञानमय परिणमन हुआ कि मैं तो सदा ही आनन्दस्वभावमय हूँ। तथा ऐसे ज्ञानमय परिणमन से जो सदा शुद्धात्मा का अनुभवन किया करता है, उसे राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्धता की संतति का निरोध होने से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है। 'ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है' – इस न्याय से ज्ञानी जीवों को ज्ञानमय भावों में से ज्ञान, आनन्द व शान्तिमय भाव ही उत्पन्न होता है, उन्हें अशुद्धता नहीं होती, रागादि विकार नहीं होता।[१]

रागी को राग में एकता होने से राग की अविच्छिन्नधारा ही प्रवाहित होती है तथा समकिती ज्ञानी के राग से भिन्नता हो जाने से अविच्छिन्न ज्ञानधारा प्रवाहित होती है। ज्ञानी सदा ही अविच्छिन्नधारावाही आत्मा की शुद्धदृष्टि से परिणमित होने से, अविच्छिन्नरूप से शुद्ध ज्ञानमय परिणमन को प्राप्त हो जाते हैं। उनके ज्ञान व आनन्द के वेदनरूप परिणमन में भंग नहीं पड़ता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ५५

'ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है।' – इस न्याय से ज्ञानी के नये कर्म आने में निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध हो जाता है। बस, वस्तुतः इसी संततिनिरोध का नाम संवर है। ज्ञान की धारावाही एकाग्रता की प्रगटता और रागमयभाव का निरोध होना ही तो वास्तविक संवर है। जहाँ अविच्छिन्नधारा से ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ, वहीं राग-द्वेष-मोह की संतति टूट जाती है। यही संवर है, यही धर्म है। संवर होने पर शुद्धात्मा से भेंट हो जाती है।[१]

प्रश्न : कार्य कभी उपादान से हो जाता है और कभी निमित्त से – ऐसा देखने में आता है। – अतः ऐसा अनेकान्त क्यों न मान लिया जाये ?

उत्तर : भाई ! अनेकान्त ऐसा नहीं होता। अनेकान्त का स्वरूप तो ऐसा है कि शुद्धात्मा के अनुभव से संवर होता है तथा दया, दान आदि शुभ परिणाम से संवर कभी नहीं होता; क्योंकि वह शुभ परिणाम आस्रव है। कार्य हमेशा उपादान से ही होता है तथा निमित्त से नहीं होता, यही सम्यक् अनेकान्त है।[२]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि जो जीव अपने आत्मा को परपदार्थों और उनके लक्ष्य से होनेवाले रागादि से भिन्न अनुभव करते हैं, उसे निज जानते-मानते हैं; उसी में अपनापन स्थापित कर जहाँ तक संभव हो, उसी में रमण करते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं; वे जीव स्वयं शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो जाते हैं, अनन्तसुखी हो जाते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त हो जाते हैं; किन्तु जो जीव आत्मा को अशुद्ध अनुभव करते हैं, उसे रागी-द्वेषी-मोही मानते हैं, जानते हैं; गोरा-भूरा मानते हैं, जानते हैं; वे जीव अशुद्धता को प्राप्त होते हैं, राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होते रहते हैं। अतः आत्मार्थी भाई-बहिनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपने आत्मा को सही रूप में, शुद्धरूप में जाने-पहिचाने, उसी में अपनापन स्थापित करें, जिससे शुद्धात्मा को प्राप्त कर शुद्धतारूप परिणमित होकर अनन्त सुख-शान्ति प्राप्त कर सकें।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ५६
२. वही, पृष्ठ ५८

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य कहते हैं –

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामामात्मानमात्मा;
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाह से ।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धातम को ॥
और निरंतर उसमें ही थिर होता जावे ।
पर परिणति को त्याग निरंतर शुध हो जावे ॥ १२७॥

यदि किसी भी प्रकार से अर्थात् काललब्धि आने पर तीव्र पुरुषार्थ करके धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा परपरिणति के निरोध होने से नित्य वृद्धिंगत आनन्दवाले आत्मा को शुद्ध ही प्राप्त करता है।

इस कलश में आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि निरंतर धारावाहिक रूप से प्रवर्तित ज्ञान ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का एक मात्र अमोघ उपाय है। देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र पुरुषार्थ ज्ञान की यह धारावाहिक प्रवृत्ति ही है।

सर्वप्रथम जब यह आत्मा देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से देशनालब्धि को प्राप्त होता है; उनकी वाणी में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को विशेषकर आत्मवस्तु को विकल्पात्मक ज्ञान में समझपूर्वक सम्यक्निर्णय करता है और अपने ज्ञानोपयोग को उसी में लगाता है; तब इसी पुरुषार्थ के बल से काललब्धि आने पर प्रायोग्यलब्धि से गुजरता हुआ करणलब्धि को प्राप्त होता है, तदुपरांत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है, सम्यक्ताचरणचारित्ररूप परिणमित होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पूर्व जो धारावाहिकज्ञान देशनाधारित था, आगमानुसार था, विकल्पात्मक था; सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद वह अनुभवजन्य हो जाता है,

साक्षात् हो जाता है, प्रत्यक्ष हो जाता है, सम्यक् हो जाता है। यह सम्यग्ज्ञान जब धारावाहीरूप से विद्यमान रहता है तो चारित्रमोह को शिथिल करता हुआ आगे बढ़ता है और नित्य वृद्धिंगत यह धारावाही ज्ञान ही एक दिन केवलज्ञान के रूप में परिणमित हो जाता है।

अत: यह कहना अनुचित नहीं है कि देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ ज्ञान की यह धारावाहिकता ही है। सम्यग्दर्शन के पूर्व यह धारा देशनाधारित होती है और सम्यग्दर्शन के बाद आत्मानुभवाधारित हो जाती है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद की यह ज्ञानधारा लब्धिरूप भी हो सकती है और उपयोगरूप भी। लब्धिरूप ज्ञानधारा तो सम्यग्दर्शन होने के बाद अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से आगे जबतक क्षायोपशमिकज्ञान है, तबतक निरंतर ही बनी रहती है और उसके बल से साधक आत्मा निरंतर आगे बढ़ता रहता है; किन्तु उपयोगरूप ज्ञानधारा नीचे के गुणस्थानों में भूमिकानुसार कभी-कभी ही होती है और श्रेणी में निरंतर बनी रहती है।

इस बात को समझने के लिये पंडित जयचंदजी छाबड़ा का भावार्थ द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से राग-द्वेष-मोहरूप परपरिणति का (भावास्रवों का) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञान का अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान – अखण्ड रहनेवाला ज्ञान। वह दो प्रकार से कहा जाता है। – एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये, ऐसा सम्यकज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है अर्थात् जहाँतक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँतक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है।

इन दो अर्थों से जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिये। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली

अपेक्षा लागू होगी और श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी; क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''जहाँ अन्तर में राग से ज्ञान भिन्न हो जाता है, वहीं से शुद्धतारूप ज्ञानमय परिणमन की धारा का अखण्ड प्रवाह चलने लगता है; भले ही साथ में किंचित् अशुद्धता का परिणमना हो; तथापि शुद्धता की धारा तो निरंतर चलती ही रहती है। जो ज्ञानानन्द स्वभाव की निर्मल परिणति प्रगट हो गई, उसकी अखण्ड धारा तो अटूट ही रहती है।[१]

भले उपयोग पर में हो; परन्तु जिसमें मिथ्यादृष्टिपना नहीं आता और सम्यग्दर्शन कायम रहता है – ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। राग से भिन्न हुआ ज्ञान धारावाही अखण्ड रहता है। आत्मा राग से भिन्न है – जिसे ऐसी अन्तर्दृष्टि के द्वारा आत्मभान हो गया है, उसे भले ही किंचित् राग उत्पन्न हो रहा हो; पर उसे जो शुद्धता प्रगट हो गई है, वह अखण्डधारावाही है। जबतक मिथ्याज्ञान नहीं आता, तबतक धारावाही ज्ञान है। जबतक मिथ्यात्व नहीं आता, तबतक सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की धारा निरन्तर चलती रहती है। यह तो प्रथमप्रकार का धारावाही अखण्ड प्रवाह है।

दूसरा धारावाही ज्ञान का अखण्ड प्रवाह वह है, जिसमें एक ही ज्ञेय में उपयोग उपयुक्त रहा करता है। अपना एकरूप ज्ञायकभाव अपने ही ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय भी कहा जाता है। उसी अपने ज्ञेय में ही उपयोग का स्थिर होना ज्ञान का धारावाहीपना है।

पहले प्रकार में उपयोग में स्थिर रहने की बात नहीं है। वहाँ तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होने से केवल भेदज्ञान की या ज्ञानमय परिणमन की धारा ही अखण्ड रहती है। तथा दूसरे प्रकार में आत्मा अपने ध्यान में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद से रहित एक उपयोग में स्थिर होता है, एक आत्मा में ही लीन होता है, उसे धारावाही ज्ञान कहते हैं। यह दूसरे प्रकार के धारावाही ज्ञान की बात उपयोग की स्थिरता की बात है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ६१

इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही है। छद्मस्थ का उपयोग तो अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है, अधिक नहीं; इसलिए इतने काल तक का धारावाही कहलाता है। जब उपयोग अन्दर नहीं ठहर पाता तो वह बाहर आ जाता है और उपयोग खण्डित हो जाता है। इसीकारण जबतक उपयोग अन्दर में लवलीन रहता है, तबतक धारावाही ज्ञान कहलाता है।

इन दोनों अर्थों में जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, वैसा अर्थ ग्रहण कर लेना चाहिए।

अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह नीचे के गुणस्थानवाले अर्थात् चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थानवाले जीवों के धारावाही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहा है, वह पहले कथन की अपेक्षा समझना। यहाँ उपयोग यदा-कदा ही अन्तर सन्मुख होता है; अतः यहाँ उपयोग की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती।

श्रेणी चढ़नेवाले जीवों के ही मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू पड़ती है। यद्यपि उनके भी (दसवें गुणस्थान तक) अबुद्धिपूर्वक होनेवाला राग तो होता है, पर उसे गौण करके उपयोग की एकाग्रता की मुख्यता से ऐसा कहा गया है। आठवें गुणस्थान से उपयोग की धारा स्थिर होती है, उस गुणस्थान में जहाँ उपयोग लगाते हैं, वही स्थिर रहता है, वहाँ से हटता नहीं है। अतः वहाँ उपयोग की स्थिरता की अपेक्षा धारावाही ज्ञान कहा है।[१]

इसप्रकार धर्म की धारा दो प्रकार हुई – एक तो चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थान वालों को जो निर्मल सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वह धारावाही है। भले उपयोग राग में, पर में जाये; परन्तु अन्तर में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है, वह अब छूटता नहीं है। दूसरे – आठवें गुणस्थान से जो उपयोग अन्तरात्मा में आया, वह वहाँ से नीचे न गिरकर ऊपर चढ़कर केवलज्ञान पा लेता है। आठवें में क्षपकश्रेणी से उपयोग धारावाहिक रहता है और केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

भाई! तेरा यथार्थ स्वरूप नित्यानंद-चिदानंदमय है। उसमें एकबार भी उपयोग लग जावे तो बस सब काम हुआ ही समझ। बाद में भले तेरा उपयोग

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ६१-६२

थोड़ी बहुत देर को वहाँ से हट भी जावे तो भी सम्यग्ज्ञान हो गया और यदि वह उपयोग उग्र पुरुषार्थ से अन्तर्मुहूर्त तक अखंड धारावाही रहता है तो केवलज्ञान को प्राप्त हो जायेगा।[१]''

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है –

(सवैया तेइसा)

जो कबहूं यह जीव पदारथ, औसर पाइ मिथ्यात मिटावै ।
सम्यक धार प्रवाह बहै गुन, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै ॥
तो अभिअंतर दर्वित भावित कर्म कलेस प्रवेस न पावै ।
आतम साधि अध्यात्म के पथ, पूरन ह्वै परबह्म कहावै ॥ ४॥

जब कभी यह जीव नामक पदार्थ अवसर पाकर मिथ्यात्व का नाश करता है और इसकी परिणति में सम्यग्दर्शन धाराप्रवाह रूप से बहने लगता है तथा ज्ञान आत्मसन्मुख होकर उर्ध्वमुखी हो जाता है, आत्मस्थिरता की ओर तेजी से बढ़ने लगता है; तब उसके अंतरंग में द्रव्यकर्म और भावकर्म प्रवेश नहीं पाते हैं अर्थात् उनका संवर हो जाता है। इसप्रकार वह जीव आत्मा की साधना करके अध्यात्म के पथ पर आगे बढ़ता हुआ परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाने लगता है।

यदि हम गहराई से ध्यान दें तो इस कलश में आत्मा से परमात्मा बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी गई है। इस एक ही कलश में – छन्द में आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास सम्पूर्णत: दर्शा दिया गया है।

यदि अति संक्षेप में कहें तो हम कह सकते हैं कि परभावों से भिन्न निजस्वभाव को जानना और उसी में जम जाना, रम जाना ही धर्म है, संवर है, निर्जरा है और मोक्ष भी यही है। ●

ऐसा कौन-सा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो। – **आप कुछ भी कहो, पृष्ठ १७**

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ६२-६३

समयसार गाथा १८७ से १८९

विगत गाथा में कहा था कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है और अब इन गाथाओं की उत्थानिका में कहा जा रहा है कि संवर किसप्रकार होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने वाली वे गाथायें इसप्रकार हैं –

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥ १८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९॥

पुण्य एवं पाप से निज आतमा को रोककर ।
अन्य आशा से विरत हो ज्ञान-दर्शन में रहें ॥ १८७॥
विरहित करम नोकरम से निज आत्म के एकत्व को ।
निज आतमा को स्वयं ध्यावें सर्व संग विमुक्त हो ॥ १८८॥
ज्ञान दर्शन मय निजातम को सदा जो ध्यावते ।
अत्यल्पकाल स्वकाल में वे सर्व कर्म विमुक्त हों ॥ १८९॥

आत्मा को आत्मा के ही द्वारा पुण्य-पाप इन दोनों योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुओं की इच्छा से विरत होता हुआ जो आत्मा सर्वसंग से रहित होता हुआ, अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता एवं स्वयं चेतयितापन होने से एकत्व का चिन्तवन करता है, अनुभव करता है; वह आत्मा, आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और आनन्दमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

इन गाथाओं में यही गया है कि जो आत्मा स्वयं के ही पुरुषार्थ से अपने उपयोग को पुण्य-पाप भावों और उनके फल से विरत कर ज्ञानदर्शनस्वभावी अपने आत्मा में लगाता है, अपने आत्मा को ही ध्याता है, उसमें ही अपनापन स्थापित करता है; मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और शरीरादि नोकर्मों से एकत्व-ममत्व तोड़कर उनसे विरत होता है; वह आत्मा अल्पकाल में ही आत्मा को ध्याता हुआ सर्वकर्मों से रहित आत्मा को पाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

"राग-द्वेष-मोहमूलक शुभाशुभयोग में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा को आत्मा के ही द्वारा रोककर स्वयं को शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भली-भाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्वसंग रहित होकर निरन्तर अतिनिष्कम्प वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्म का किंचित् मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्मा को ही अपने आत्मा द्वारा ध्याता हुआ, स्वयं सहज चेतयितापन होने से स्वयं के एकत्व को ही चेतता है, अनुभव करता है, ज्ञान चेतनारूप ही रहता है; वह जीव वास्तव में एकत्व में किये गये संचेतन के द्वारा, एकत्व के अनुभवन के द्वारा, परद्रव्यों से अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कार मात्र निज आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ, अल्पकाल में ही सर्वकर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। – यह संवर का प्रकार है, संवर करने की विधि है।"

आत्मख्याति में व्यक्त उक्त भाव को पंण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में सरल भाषा और सीधे-सादे शब्दों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जो जीव पहले तो राग-द्वेष-मोह के साथ मिले हुए मन-वचन-काय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने दे और फिर उसी को शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे तथा

समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहे, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्पकाल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह संवर होने की रीति है।''

संवर होने की इस रीति में भी यही बताया गया है कि पहले भेदविज्ञान द्वारा परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न अपने आत्मा को जाने, उसमें ही अपनापन स्थापित करे और फिर भेदाभ्यास के द्वारा अपने आत्मा में ही स्थिर हो जाये। कर्मों से मुक्त होने का यही एकमात्र उपाय है।

अब इसी भाव को पुष्ट करनेवाला कलश काव्य कहते हैं -

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां;
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ १२८॥

(रोला)

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके ।
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे ॥ १२८॥

जो भेदज्ञान की शक्ति से अपनी महिमा में लीन रहते हैं; उन्हें नियम से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होती है। शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होनेपर अचलितरूप से समस्त अन्य द्रव्यों से दूर रहनेवाले जीवों के कर्मों का अक्षय नाश होता है। तात्पर्य यह है कि उन्हें पुनः कर्मबंध नहीं होता।

इस कलश में यह कहा जारहा है कि भेदविज्ञान के बल से आत्मा को प्राप्त करनेवाले आत्मा की महिमा में लीन पुरुषों के कर्मों का ऐसा नाश होता

है कि वे दुबारा बंधन को प्राप्त नहीं होते। यथापदवी कर्मों का न बंधना ही संवर है। इसप्रकार उन जीवों को संवरपूर्वक मोक्ष हो जाता है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है-

(सवैया तेईसा)

भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस, भेद-विज्ञान कला जिन्ह पाई ।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करैं उर सौंज पराई ॥
उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट, होत निरंतर जोति सवाई ।
ते मतिमान सुवर्न समान, लगै तिन्ह कौ न सुभासुभ काई ॥

जिन जीवों ने मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन करके आत्मानुभव के महारस का पान किया है और भेदविज्ञान की परमकला को प्राप्त कर लिया है; जो अपनी महिमा से भलीभाँति परिचित हो गये हैं और जिन्होंने परद्रव्यों से सांझेपन का भाव छोड़ दिया है, जिनके हृदय में उत्तरोत्तर निरंतर पुरुषार्थ स्फुरायमान हो रहा है और जिनकी ज्ञानज्योति सवाये क्रम से बढ़ रही है; ऐसे बुद्धिमान पुरुष सुवर्ण के समान स्वभाव वाले होते हैं और उन्हें शुभाशुभ कर्मों का बंध नहीं होता।

जिसप्रकार कीचड़ में पड़े होने पर भी सोने को काई नहीं लगती; उसीप्रकार संसार में रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवों को कर्मों का बंध नहीं होता, संवर हो जाता है।

प्रश्न : संवर तो चौथे गुणस्थान में ही हो जाता है, पर यहाँ मोक्ष होने तक की बात कही जा रही है। - इसका क्या कारण है ?

उत्तर : आस्रव के निरोध से संवर होता है और बंध आस्रवपूर्वक ही होता है। जब सभी प्रकार के कर्मों का आस्रव रुक जायेगा तो सभी कर्मों का संवर हो जाने से सभी कर्मों के बंध का भी अभाव हो जायेगा। बंध के अभाव का नाम ही मोक्ष है। अतः यहाँ मोक्ष होने तक की बात करना अनुचित नहीं है। रही बात संवर के चौथे गुणस्थान से होने की बात; सो चौथे गुणस्थान से तो

संवर का आरंभ होता है, पूर्णता नहीं। संवर की पूर्णता तो सभीप्रकार के आस्रवभावों के अभाव होने पर ही होती है।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो फिर यहाँ कौन से गुणस्थान का संवर लेना चाहिए ?

उत्तर : संवर की चर्चा में कौन से गुणस्थान की क्या बात है ? जिस गुणस्थान में जिन-जिन कर्मों का आस्रव रुक जाता है, बंध नहीं होता है, बंधव्युच्छुति हो जाती है; उस गुणस्थान में उन्हीं-उन्हीं कर्मों का संवर लेना चाहिए।

दूसरी बात यह भी तो है कि इस कलश में कर्मों के अक्षय मोक्ष की बात कही गई है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ऐसा संवर अपेक्षित है कि जिसके बाद दुबारा बंध की प्रक्रिया आरंभ ही न हो।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में ऐसी दो गाथाएँ हैं, जो आत्मख्याति में नहीं हैं। वे गाथाएँ इसप्रकार हैं -

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥
को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥

जिसप्रकार किसी परोक्ष पदार्थ को उपदेश से सुनकर या देखकर (पढ़कर) जाना जाता है; उसीप्रकार जीव को भी उपदेश से सुनकर या देखकर (शास्त्रों से पढ़कर) ग्रहण किया जाता है। इसी को 'आत्मा को देखा - आत्मा को जाना' - ऐसा कहा जाता है।

वर्तमानकाल में परोक्षज्ञान में प्रवर्तित होने पर भी कौन बुद्धिमान साधु यह कहेगा कि मैंने आत्मा को केवलीभगवान के समान प्रत्यक्ष जान लिया है ?

तात्पर्य यह है कि मति-श्रुत ज्ञान के परोक्ष होने से पंचमकाल के मति-श्रुतज्ञानधारी मुनिराज ऐसा कैसे कह सकते हैं कि उन्होंने आत्मा को केवलीभगवान के समान प्रत्यक्ष जान लिया है।

मति-श्रुतज्ञान में आत्मा को जानने की प्रक्रिया यह है कि सबसे पहले देशनालब्धि के माध्यम से आत्मा जाना जाता है, गुरुमुख से सुनकर या परमागम को पढ़कर आत्मा का स्वरूप समझा जाता है। उसके बाद अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। यह अनुभव प्रत्यक्ष केवली भगवान के समान प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि मति-श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं और यह अनुभव भी मति-श्रुतज्ञान में ही हुआ है। जिसप्रकार केवलज्ञान में आत्मप्रदेशों का साक्षात्कार होता है, उसप्रकार अनुभवज्ञान में आत्मप्रदेशों का साक्षात्कार नहीं होता।

आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अनन्तगुणवाला है; मति-श्रुतज्ञान में यह तो गुरु के उपदेश या फिर शास्त्रों को पढ़कर ही जाना जाता है। अनुभवप्रत्यक्ष में आत्मानंद का निर्विकल्प वेदन ही होता है, अनन्तगुण या असंख्यप्रदेश गिनने में नहीं आते। इसीकारण मति-श्रुतज्ञानवाले ज्ञानियों का आत्मा को जानना अनुभवप्रत्यक्ष कहा जाता है।

आत्माश्रित होने से और आनन्द का निर्विकल्प विशद (निर्मल) वेदन होने से इसे अनुभवप्रत्यक्ष कहा जाता है; किन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा अविशद (अनिर्मल) होने से परोक्ष भी कहा जाता है। दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ समझना ही समझदारी है।

भगवान आत्मा को जानने की जो प्रक्रिया इन गाथाओं में बताई गई है, उसके समर्थन में आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में, आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि के इष्टोपदेश का एक श्लोक प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है -

"गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं ॥[१]

जो गुरु के उपदेश से, शास्त्रों के अभ्यास से और स्वानुभूति से स्व और पर का भेद जानता है; वह निरन्तर मोक्षसुख को जानता है, अनुभवता है।"

इस श्लोक में मुक्ति की प्राप्ति के उपाय में सर्वप्रथम गुरूपदेश और शास्त्राभ्यास को उपयोगी बताया है, आवश्यक बताया है; देशनालब्धि की

१. आचार्य पूज्यपाद देवनंदि : इष्टोपदेश, श्लोक ३३

उपयोगिता स्वीकार की है और गुरूपदेशपूर्वक संवित्ति की बात कहकर देशनालब्धिपूर्वक करणलब्धि की ही बात कही है।

इन गाथाओं में से दूसरी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन **'किंच विस्तरः'** लिखकर जो बात लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है –

"यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा रागादिविकल्परहित भावश्रुतज्ञान को शुद्धनिश्चयनय से परोक्ष कहा जाता है; तथापि इन्द्रियमनोजनित सविकल्पज्ञान की अपेक्षा उसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

इसकारण आत्मा स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष भी है। स्वसंवेदनज्ञान सर्वथा परोक्ष ही है – यह नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि **चतुर्थकाल में केवलीभगवान क्या आत्मा को हाथ में ग्रहण कर के दिखाते हैं ? वे भी दिव्यध्वनि के द्वारा कहकर ही जाते हैं। दिव्यध्वनि सुनने के काल में श्रोताओं को आत्मा परोक्ष ही होता है; किन्तु बाद में परमसमाधि के काल में प्रत्यक्ष होता है। इसीप्रकार वर्तमानकाल में भी समझना चाहिए।**[१]

इसप्रकार 'परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे करें' – इस शंका के समाधान के रूप में ये दो गाथायें लिखी गई हैं।"

उक्त सम्पूर्ण कथन पर गहरी दृष्टि डालने पर इस शंका का समाधान सहज ही हो जाता है कि अनुभूति में आत्मा प्रत्यक्ष है या परोक्ष ? अथवा यों कहिए कि अनुभूति में आत्मा को प्रत्यक्ष या परोक्ष कहने की अपेक्षायें भली-भाँति ख्याल में आ जाती हैं।

देखो, यहाँ आचार्यदेव प्रेरणा दे रहे हैं कि भगवान के समोशरण में भी तो आत्मा की बात सुनने को ही मिलती है; यदि तुम्हें यहाँ भी वही आत्मा की बात उसी रूप में सुनने को मिल रही है तो फिर तुम आत्मकल्याण में प्रवृत्त क्यों नहीं होते?

---

१. किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति? तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव; पश्चात् परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः।

'यह तो पंचमकाल है, भगवान का सत्समागम नहीं है; ऐसी स्थिति में धर्म कैसे किया जा सकता है' – पुरुषार्थ हीनता की ऐसी बातें करने से क्या लाभ है ? अरे भई ! आत्मा का अनुभव तो तुझे ही करना है; ज्ञानीजन तो मात्र समझा ही सकते हैं, अरिहंत भगवान भी समोशरण में दिव्यध्वनि के माध्यम से मात्र समझाते ही हैं। समोशरण में भी देशना ही प्राप्त होती है और देशना तो यहाँ भी मिल रही है, अभी भी मिल रही है। हमें उसका लाभ लेकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

ध्यान रहे यहाँ ज्ञानी की वाणी की तुलना अरिहंत भगवान की दिव्यध्वनि से करके भगवान की महिमा घटाई नहीं जा रही है; अपितु यह कहा जा रहा है कि ज्ञानियों के वचन भी तो उसी दिव्यध्वनि का अनुसरण करते हैं। यद्यपि दुर्भाग्य से अभी हमें अरिहंत भगवान का सत्समागम प्राप्त नहीं है; तथापि हमारा इतना सद्भाग्योदय अभी भी है कि हमें उनकी वाणी प्राप्त है, जिनवाणी प्राप्त है; उसके प्रतिपादक प्रवक्ता भी उपलब्ध हैं। अत: हमें उनका लाभ लेकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना ही चाहिए।

आत्मानुभव प्रत्यक्ष है या परोक्ष – इस सन्दर्भ में 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में समागत पंडित टोडरमलजी का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है–

"वहाँ इस स्वानुभवदशा में जो आत्मा को जाना जाता है, सो श्रुतज्ञान द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान है वह मतिज्ञानपूर्वक ही है, वे मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष कहे हैं; इसलिए यहाँ आत्मा का जानना प्रत्यक्ष नहीं है। तथा अवधि-मन:पर्यय का विषय रूपी पदार्थ ही हैं और केवलज्ञान छद्मस्थ के है नहीं; इसलिए अनुभव में अवधि-मन:पर्यय-केवल द्वारा आत्मा का जानना नहीं है।

तथा यहाँ आत्मा को स्पष्ट भली-भाँति नहीं जानता है; इसलिए पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो सम्भव नहीं है।

तथा जैसे नेत्रादिक से वर्णादिक जानते हैं, वैसे एकदेश निर्मलता सहित भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशादिक नहीं जानते हैं; इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपना भी सम्भव नहीं है।

यहाँ पर तो आगम-अनुमानादिक परोक्षज्ञान से आत्मा का अनुभव होता है। जैनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है; उसे वैसा जानकर उसमें परिणामों को मग्न करता है। इसलिए आगम परोक्षप्रमाण कहते हैं। अथवा 'मैं आत्मा ही हूँ; क्योंकि मुझ में ज्ञान है; जहाँ-जहाँ ज्ञान है; वहाँ-वहाँ आत्मा है – जैसे सिद्धादिक हैं तथा जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है – जैसे मृतक कलेवरादिक हैं।' – इसप्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए अनुमान परोक्ष प्रमाण कहा जाता है। अथवा आगम-अनुमानादिक द्वारा जो वस्तु जानने में आयी; उसी को याद रखकर उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए स्मृति कही जाती है; – इत्यादिक प्रकार से स्वानुभव में परोक्षप्रमाण द्वारा ही आत्मा का जानना होता है। वहाँ पहले जानना होता है, पश्चात् जो स्वरूप जाना, उसी में परिणाम मग्न होते हैं; परिणाम मग्न होने पर कुछ विशेष जानपना होता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न – **यदि सविकल्प-निर्विकल्प में जानने का विशेष नहीं है तो अधिक आनन्द कैसे होता है ?**

उसका समाधान – सविकल्प दशा में ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप प्रवर्त्तता था, निर्विकल्प दशा में केवल आत्मा का ही जानना है; एक तो यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम नाना विकल्पों में परिणमित होता था, वह केवल स्वरूप ही से तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ; दूसरी यह विशेषता हुई।

ऐसी विशेषताएँ होने पर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है जो कि विषय-सेवन में उसकी जाति का अंश भी नहीं है; इसलिए उस आनन्द को अतीन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ फिर प्रश्न – **अनुभव में भी आत्मा परोक्ष ही है, तो ग्रन्थों में अनुभव को प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं ? ऊपर की गाथा में ही कहा है 'पच्चखो अणुहवो जम्हा' सो कैसे है ?**

उसका समाधान – अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्मा के प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं हैं। परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो

स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभवप्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम-अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानता है, आप ही अनुभव के रसस्वाद को वेदता है। जैसे कोई अंध-पुरुष मिश्री को आस्वादता है; वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं; जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद प्रत्यक्ष है – वैसे स्वानुभव में आत्मा परोक्ष है, जो परिणाम से स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है; – ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्ष की ही भाँति हो उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोक में कहते हैं कि हमने स्वप्न में अथवा ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा; वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है; परन्तु प्रत्यक्ष की ही भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा; इसलिए उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसीप्रकार अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है; इसलिए इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता है – ऐसा कहें तो दोष नहीं है। कथन तो अनेक प्रकार हैं, वह सर्व आगम-अध्यात्म शास्त्रों से जैसे विरोध न हो वैसे विवक्षा भेद से कथन जानना।

यहाँ प्रश्न – **ऐसा अनुभव कौन से गुणस्थान में होता है ?**

उसका समाधान – चौथे ही से होता है; परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है।

फिर यहाँ प्रश्न – **अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानों में भेद क्या ?**

उसका समाधान – परिणामों की मग्नता में विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनों ही के परिणाम नाम में हैं; वहाँ एक को तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है – उसीप्रकार जानना।

फिर प्रश्न – **यदि निर्विकल्प अनुभव में कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्क वीचार कहा। वहाँ 'पृथक्त्ववितर्क' – नाना प्रकार के श्रुत का 'वीचार' – अर्थ-व्यंजन-योगसंक्रमण – ऐसा क्यों कहा ?**

समाधान – कथन दो प्रकार है – एक स्थूलरूप है, एक सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलता से तो छठवें ही गुणस्थान में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा और सूक्ष्मता से नववें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा कही; उसीप्रकार यहाँ अनुभव में निर्विकल्पता स्थूलरूप से कहते हैं। तथा सूक्ष्मता से पृथक्त्ववितर्क वीचारादिक भेद व कषायादिक दसवें गुणस्थान तक कहे हैं। वहाँ अपने जानने में व अन्य के जानने में आये ऐसे भाव का कथन स्थूल जानना तथा जो आप भी न जाने और केवली भगवान ही जानें – ऐसे भाव का कथन सूक्ष्म जानना।

चरणानुयोगादिक में स्थूल कथन की मुख्यता है और करणानुयोग में सूक्ष्म कथन की मुख्यता है; ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना। इसप्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।[१]

वहाँ तुमने प्रश्न लिखा कि **एक जाति है तो जिसप्रकार केवली सर्वज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानते हैं; उसीप्रकार चौथे गुणस्थानवाला भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानता होगा ?**

उत्तर – भाईजी, प्रत्यक्षता की अपेक्षा एक जाति नहीं है, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा एक जाति है। चौथे गुणस्थानवाले को मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थानवाले को केवलरूप सम्यग्ज्ञान है।

तथा एकदेश सर्वदेश का अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञानवाला अमूर्तिक वस्तु को अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष किंचित् अनुक्रम से जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तु को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है। वह परोक्ष जानता है, यह प्रत्यक्ष जानता है–इतना ही विशेष है और सर्वप्रकार एक ही जाति कहें तो जिसप्रकार केवली युगपत् प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप ज्ञेय को निर्विकल्परूप जानते हैं ; उसीप्रकार यह भी जाने – ऐसा तो है नहीं; इसलिए प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष जानना। उक्तं च अष्टसहस्री मध्ये –

---

१. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के अन्त में प्रकाशित रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ ३४५ से ३४७ तक

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥*

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान – यह दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं । विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है; परन्तु वस्तु है सो और नहीं है।

तथा तुमने निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप लिखा है सो सत्य है; परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्वी के व्यवहार सम्यक्त्व में व अन्यकाल में अन्तरंग निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप रहता है।

तथा तुमने लिखा – कोई साधर्मी कहता है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जाने तो कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष क्यों न जाने ?

सो कहते हैं कि आत्मा को तो प्रत्यक्ष केवली ही जानते हैं, कर्मवर्गणा को अवधिज्ञानी भी जानते हैं।

तथा तुमने लिखा – द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति आत्मा के प्रदेश थोड़े से खुले कहो ?

उत्तर – यह दृष्टान्त प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है, यह दृष्टान्त गुण की अपेक्षा है। जो सम्यक्त्व सम्बन्धी और अनुभव सम्बन्धी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षादिक के प्रश्न तुमने लिखे थे, उनका उतर अपनी बुद्धि अनुसार लिखा है, तुम भी जिनवाणी से तथा अपनी परिणति से मिलान कर लेना।

अरे भाईजी, विशेष कहाँ तक लिखें, जो बात जानते हैं, वह लिखने में नहीं आती। मिलने पर कुछ कहा भी जाय; परन्तु मिलना कर्माधीन है; इसलिये भला यह है कि चैतन्यस्वरूप के अनुभव का उद्यमी रहना।

वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति – समयसारग्रंथ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृतटीका – में है और आगम की चर्चा गोम्टसार में है तथा और अन्य ग्रन्थों में है।

जो जानते हैं, वह सब लिखने में आवे नहीं, इसलिये तुम भी अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना आ॰ स्वरूपानन्द में मग्न रहना।

---

* अष्टसहस्री, दशमः परिच्छेदः १०५

और तुमने कोई विशेष ग्रन्थ जाने हों सो मुझको लिख भेजना। साधर्मियों को तो परस्पर चर्चा ही चाहिये।[१]''

पंडित टोडरमलजी के उक्त कथन में आत्मानुभव और उसके प्रत्यक्ष व परोक्षपने की बात तो पूरी तरह स्पष्ट हो ही गई है, साथ में यह मार्गदर्शन भी प्राप्त हो गया है कि आध्यात्मिक रुचिवालों को समयसार की आत्मख्याति टीका का गहराई से अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि वर्तमान उपलब्ध साहित्य में आत्मख्याति में जैसा अध्यात्मतत्त्व प्रस्फुटित हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं है। आगम की जानकारी के लिए वे गोम्मटसार के अध्ययन की प्रेरणा देते हुए निर्देश देते हैं कि तुम अध्यात्म और आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और विषयानंद में मग्न न रहकर स्वरूपानंद में मग्न रहना।

निरन्तर वाद-विवाद में ही उलझे रहने वाले साधर्मियों को भी वे सलाह देते हैं कि भाई ! साधर्मियों को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए, यह वाद-विवाद उचित नहीं है।

आशा है हम सब उनकी इस नेक सलाह पर ध्यान देकर अपनी परिणति में अपेक्षित सुधार करेंगे।

इसप्रकार आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में विशेषरूप से समागत इन दो गाथाओं में यह बताया गया कि आत्मा पहले गुरूपदेश से सुनकर या परमागम में पढ़कर परोक्षरूप से जाना जाता है और फिर अनुभूति में प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। यद्यपि यह अनुभव केवलज्ञान के समान प्रत्यक्ष तो नहीं है; तथापि स्वानुभवप्रत्यक्ष तो है ही। ●

महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। 'मन में हो और मूँढ हिलावे' वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

– पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ३७

१. पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक के अन्त में प्रकाशित रहस्यपूर्ण चिट्ठी का पृष्ठ ३४८-३४९

समयसार गाथा १९० से १९२

संवर की विधि बताने के बाद अब आगामी गाथाओं में संवर होने का क्रम बताते हैं। संवर का क्रम बतानेवाली गाथायें इसप्रकार हैं–

तेसिं हेदु भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥ १९०॥
हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥ १९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥ १९२॥

बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही ।
मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरत–भाव एवं योग भी ॥ १९०॥
इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के ।
अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है ॥ १९१॥
कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो ।
नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो ॥ १९२ ॥

पूर्वकथित मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभावों के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग – ये चार अध्यवसान हैं। – ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है।

हेतुओं का अभाव होने से ज्ञानियों के नियम से आस्रवभावों का निरोध होता है और आस्रवभावों के अभाव से कर्मों का भी निरोध होता है।

कर्म के निरोध से नोकर्मों का निरोध होता है और नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध होता है।

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग – ये चार अध्यवसान मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावों के हेतु हैं। चूंकि ये अध्यवसान ज्ञानियों के होते नहीं; इसकारण ज्ञानियों के

रागादिभावरूप आस्रवभावों का निरोध होता है। रागादिरूप भावास्रवों के निरोध से कर्मरूप द्रव्यास्रवों का निरोध हो जाता है। जब द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं होते तो फिर शरीरादि नोकर्म कैसे रह सकते हैं? जब शरीरादि का संयोग ही नहीं रहा तो संसार का भी अभाव हो जाता है।

आस्रवों के निरोध का यही क्रम है। आस्रवों का निरोध ही संवर है। इसप्रकार संवर संसार के अभाव का कारण है, मोक्ष का कारण है।

आचार्य अमृतचंद्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

"प्रथम तो इस जीव के विद्यमान आत्मा और कर्म के एकत्वमूलक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ही मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव के कारण हैं; आस्रवभाव कर्म का कारण है; कर्म नोकर्म का कारण है और नोकर्म संसार का कारण है।

इसकारण यह आत्मा सदा ही आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से आत्मा को मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगमय मानता है अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है। इसलिए मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव को भाता है; उससे कर्मास्रव होता है, कर्मास्रव से नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार उत्पन्न होता है।

किन्तु जब यह आत्मा, आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है, आत्मा का अनुभव करता है; तब आस्रवभाव के कारणभूत मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान का अभाव होता है; अध्यवसान के अभाव होने पर मोह- राग-द्वेषरूप आस्रवभावों का अभाव होता है; आस्रवभावों का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है; कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इसप्रकार यह संवर का क्रम है।"

मूल गाथाओं और उनकी इस टीका में मात्र इतना ही अन्तर है कि गाथाओं में तो अकेले आस्रव के निरोध का ही क्रम बताया था; पर टीका में आस्रव का भी क्रम बता दिया गया है।

टीका के भाव को ही सरल भाषा में पण्डित जयचंदजी ने भावार्थ में प्रस्तुत कर दिया है; जो इसप्रकार है-

"जीव के जबतक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है - भेदविज्ञान नहीं है; तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसान से मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बँधता है, कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म से संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है, तब शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है और उससे मोह-राग-द्वेषरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधता, कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है। - इसप्रकार संवर का क्रम जानना चाहिये।"

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में आत्मख्याति का ही अनुसरण करते हैं; तथापि उन्होंने कुछ नया प्रमेय भी प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है-

"शंका - अध्यवसान तो भावकर्मरूप होते हैं, वे तो जीवगत ही होते हैं। उन्हें आप यहाँ उदयप्राप्त पुद्गल द्रव्यप्रत्ययगत क्यों बता रहे हैं ?

समाधान - ऐसा नहीं है; क्योंकि भावकर्म दो प्रकार के होते हैं - जीवगत भावकर्म और पुद्गलकर्मगत भावकर्म ।

भावक्रोधादि जीवरूप को जीवभावगत भावकर्म कहते हैं और पुद्गलपिण्डशक्तिरूप को पुद्गलद्रव्यगतभावकर्म कहते हैं। कहा भी है -

पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादि भावदव्वं तु - इसे जीवभावगत कहते हैं और **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मंतु** - इसे पुद्गलद्रव्यगत कहते हैं।

उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि मधुर या कड़वे पदार्थ को खाते समय उसके मधुर या कड़वे स्वाद को चखने रूप जो जीव का विकल्प होता है, उसे जीव भावगत कहते हैं और उसकी अभिव्यक्ति के कारणभूत मधुर या कड़वे पदार्थ में रहनेवाले शक्ति के अंशविशेष को पुद्गलगत कहते हैं।

इसप्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत दो प्रकार का है - ऐसा भावकर्म के व्याख्यान के समय सर्वत्र समझना चाहिए।''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यहाँ बार-बार यह कहा जा रहा है कि ज्ञानियों के मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और योग का अभाव है; किन्तु यह बात चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ज्ञानियों पर किस प्रकार घटित होगी; क्योंकि उनके अविरति और योग विद्यमान हैं।

इस प्रश्न का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

''चौथे गुणस्थान में जब सम्यग्दर्शन व आत्मानुभव प्रगट होता है, तब अनन्त गुणों की आंशिक निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है, आंशिकरूप से अव्रतपना टल जाता है। निष्क्रियत्व गुण की भी आंशिक निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है। अर्थात् आंशिकरूप से आत्मा में अकम्पभाव प्रगट हो जाता है । सर्वथा योग का अभाव तो चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है; परन्तु चौथे गुणस्थान में अंशरूप से योग का अभाव हो जाता है।

श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा भी है कि 'सर्वगुणांश ते सम्यक्त्व'। पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने भी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि 'चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा के ज्ञानादि गुण एकदेश प्रगट हुए हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानादि सर्वगुणों का एकदेश प्रगट होना सम्यग्दर्शन है तथा सर्वदेश प्रगट होना केवलज्ञान है। इसका अर्थ ही यह हुआ कि सर्वगुणों में चौथे गुणस्थान से ही आंशिक निर्मलता प्रगट होती है। जिसे अनन्त गुणों के एक पिण्डरूप आत्मद्रव्य का अनुभव हुआ, उसका यथार्थ ज्ञान होकर प्रतीति हुई, उसे सर्व अनन्त गुणों का अंश तो निर्मल प्रगट होता ही है। ज्ञानी समकिती जीव भेदज्ञान के बल से क्रमशः अंतःस्थिरता करके स्वरूप में ठहरकर सर्वसंग से रहित हो कर्मों से मुक्त हो जाता है।[१]''

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जब चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तो अकेले श्रद्धागुण में ही निर्मलता प्रगट नहीं होती; किन्तु सभी गुणों में आंशिक निर्मलता-शुद्धता प्रगट हो जाती है, ज्ञान गुण भी सम्यग्ज्ञानरूप

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ७७

परिणमित हो जाता है, आनन्दगुण में अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जाग्रत हो जाती है, चारित्रगुण में अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप शान्ति प्रगट हो जाती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय का नाम है; तथापि सम्यग्दर्शन होने पर अकेला श्रद्धागुण ही सम्यक् नहीं होता; अपितु सम्पूर्ण आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है। एक गुण का रूप दूसरे गुण में विद्यमान रहने से सभी में सहज शुद्धता प्रगट हो जाती है। एक गुण का रूप दूसरे गुणों में किसप्रकार रहता है ? इसका विशेष स्पष्टीकरण इसी ग्रन्थ के अन्त में 47 शक्तियों के प्रकरण में विशेष विस्तार से किया जायेगा।

अब भेदविज्ञान की महिमा का निरूपक संवर अधिकार समाप्त हो रहा है। अत: अब भेदविज्ञान की भावना भाने की प्रेरणा देने के लिये आचार्य अमृतचन्द्र तीन कलश काव्य लिखते हैं और उसके बाद अधिकार की समाप्ति पर जिसप्रकार प्रत्येक अधिकार के आदि व अन्त में ज्ञानज्योति को स्मरण करते आ रहे हैं; उसीप्रकार इस अधिकार के अंत में भी ज्ञानज्योति का स्मरण करेंगे।

उक्त कलशों में से भेदविज्ञान की भावना भाने की प्रेरणा देनेवाला प्रथम कलश इसप्रकार है-

(उपजाति)

संपद्यते संवर एष साक्षा-
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्;
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ १२९॥

(रोला)

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से ।
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना ।
अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ॥ १२९॥

वस्तुत: बात यह है कि इस संवर का साक्षात्कार अथवा साक्षात् संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही होता है और शुद्धात्मतत्त्व की वह उपलब्धि एकमात्र भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

यह अत्यन्त सरल, सहज एवं प्रेरक छन्द है। इसमें दो टूक शब्दों में यह कहा गया है कि भवदु:खों से छूटने रूप संवर शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही होता; धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य क्रियाकाण्डों या शुभभावरूप व्यवहारधर्म से नहीं होता। शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि भी बाह्यक्रियाकाण्डों या दया, दानादि के शुभभावों से नहीं होती। शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि एकमात्र भेदविज्ञान से ही होती है। इसलिए भेदविज्ञान की भावना ही निरन्तर भाने योग्य है।

इस बात को स्वामीजी अन्य ग्रन्थों की साक्षी देते हुए इसप्रकार समझाते हैं -

''परमार्थ वचनिका में आया है कि आगम-अंग जो बाह्यक्रियारूप, स्थूल रागरूप होने से प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं; इसकारण अज्ञानियों को उनका साधन करना सुगम-सरल लगता है। इससे वे आत्मज्ञान या भेदज्ञान बिना ही इन दया, दान, महाव्रत, तप आदि बाह्यक्रियाओं का साधन करने लगते हैं तथा अपने को मोक्षमार्गी मानने लगते हैं; परन्तु अन्तर्गर्भित जो अध्यात्मरूप क्रियायें हैं, वे अन्तर्दृष्टि ग्राह्य ही हैं; इसकारण अज्ञानी उन्हें जान नहीं पाते। त्रिकाली शुद्ध आत्मा के आश्रय से जो निर्मल दशायें प्रगट होती हैं, वह अध्यात्म का व्यवहार है, जिसे अज्ञानी नहीं जानते। इससे वे मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ रहते हैं। जो इसतरह बाह्यक्रिया में रचते हैं, उनका संसार परिभ्रमण नहीं मिटता।[१]

देखो, जब जीव आत्मा और कर्म को या राग को यथार्थतया भिन्न जानता है। यथार्थतया अर्थात् 'मैं राग से भिन्न हूँ' इतनी क्षयोपशम ज्ञान की धारणा मात्र नहीं, बल्कि अंतरंग में अन्तर्दृष्टि करके भिन्न जानता है; तब वह शुद्धात्मा का अनुभव करता है अर्थात् तब वह अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को प्राप्त होता है।[२]''

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटकसमयसार में इसप्रकार किया है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ८०
२. वही, पृष्ठ ८१

(अडिल्ल छन्द)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है ।
संवर सौं निर्जरा, अनुक्रम मोष है ॥
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहिं मानिये ।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये ।।

संवर का कारण भेदविज्ञान अत्यन्त निर्दोष है; क्योंकि अनुक्रम से सर्वप्रथम संवर, संवर से निर्जरा और निर्जरा से मोक्ष होता है। इसतरह जगत में यह भेदविज्ञान मोक्ष का कारण माना गया है। यद्यपि विकल्पात्मक भेदविज्ञान को विकल्पातीत न होने से हेय कहा जाता है; तथापि उसे उपादेय ही जानना चाहिए।

यद्यपि आचार्य अमृतचंद्र के कलश में भेदविज्ञान के हेय होने की बात नहीं आई है; तथापि कलश टीका में इस कलश का अर्थ करते समय कलशटीकाकार ने अन्त में लिख दिया है कि **भेदविज्ञान भी विनाशीक है; तथापि उपादेय है**। इसी को आधार बनाकर बनारसीदासजी ने भी उसे हेय लिख दिया है। यह तो पहले स्पष्ट कर ही आये हैं कि बनारसीदासजी के नाटक समयसार पर राजमलजी की कलशटीका का सर्वाधिक प्रभाव है।

वस्तुतः बात यह है कि भेदविज्ञान विकल्पात्मक भी होता है और निर्विकल्प भी। जब भी भेदविज्ञान का निषेध किया जावे, तब उसका आशय तत्संबधी विकल्प का निषेध ही समझना चाहिए।

भेदविज्ञान की भावना भाने की प्रबल प्रेरणा देनेवाले इस छन्द के प्रकरण में उसे हेय बताने की बात कुछ अटपटी अवश्य लगती है; तथापि आगे के कलश में इसप्रकार का भाव अत्यन्त गुप्तरूप से विद्यमान है। आगामी कलश में बताया जा रहा है कि भेदविज्ञान तबतक ही भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे। इसका तात्पर्य यही होगा कि एक स्थिति ऐसी भी आती है कि जब भेदज्ञान की भावना की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। जहाँ उसकी आवश्यकता समाप्त हो गई, वहीं से वह हेय हो जाता है।

'भेदविज्ञान कबतक भाना चाहिये' – इस बात को बतानेवाला वह कलश इसप्रकार है–

(अनुष्टुप्)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ १३० ॥

(रोला)

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।
ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥ १३० ॥

यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारा से, अखण्डरूप से तबतक भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान (आत्मा) में ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

इस कलश में यह कहा गया है कि भेदविज्ञान की भावना तबतक भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित न हो जावे। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना क्या है ? ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित कैसे होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर पंडित जयचंदजी छाबड़ा के भावार्थ में दिया गया है; जो इसप्रकार है –

"यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए। एक तो, मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो; तब ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है। जबतक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये; तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए।"

उक्त भावार्थ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जबतक दोनों प्रकार से ज्ञान, ज्ञान में स्थिर न होजावे; तबतक भेदज्ञान की भावना भाना चाहिए। ज्ञान का ज्ञान में दोनों प्रकार से स्थिर होने का अर्थ है कि अप्रतिपाती भाव से क्षपकश्रेणी का आरोहण करना। इसका अर्थ यह हुआ कि शुद्धोपयोग के पहले शुभोपयोग

के काल में भेदज्ञान की भावना भाना चाहिए; किन्तु बनारसीदासजी इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं-

(दोहा)

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ ।
परमजोति परगट जहाँ, तहाँ न विकल्प कोई ॥

भेदज्ञान तबतक भला है, जबतक कि मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती; क्योंकि जब परमज्योति केवलज्ञान प्रगट हो जाता, तब कोई विकल्प शेष नहीं रहता।

यहाँ भेदज्ञान की भावना भाने को तबतक भला माना गया है कि जबतक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती है।

प्रश्न : एक ओर बनारसीदासजी स्वयं विगत छन्द में कह रहे थे कि भेदविज्ञान हेय है और यहाँ इस छन्द में कह रहे हैं कि भेदविज्ञान तबतक भाना चाहिए, जबतक मुक्ति की प्राप्ति न हो जावे। अत: प्रश्न यह है कि भेदविज्ञान कबतक उपादेय है और कहाँ से हेय है ?

उत्तर : स्व और पर के बीच की विभाजन रेखा को सही रूप में जानना, पहिचानना ही भेदविज्ञान है।

अनादिकाल से यह आत्मा स्वयं को सही रूप में न जानकर किसी न किसी परपदार्थ को स्वयं के रूप में जान रहा है, मान रहा है और उसी में मगन है। इसके अनंत दु:खों का एकमात्र कारण भी यही अज्ञान है।

अनादिकालीन अनंतदु:खों से बचने के लिये यह जरूरी है कि मैं स्वयं को ही स्वयं के रूप में जानूँ, मानूँ और स्वयं में ही मगन हो जाऊँ। इसके लिये स्व और पर के बीच की विभाजन रेखा को जानना अति आवश्यक है। इस दिशा में किया गया पुरुषार्थ ही भेदविज्ञान का आरंभ है।

सबसे पहले देशना के माध्यम से यह प्रक्रिया आरंभ होती है। तात्पर्य यह है कि सबसे पहले शास्त्रों को पढ़कर, गुरु के वचनों को सुनकर अपने ज्ञान में स्व और पर के बीच विभाजन रेखा खीचीं जाती है। यहीं से भेदविज्ञान की प्रक्रिया आरंभ होती है; पर यह भेदविज्ञान वास्तविक भेदविज्ञान नहीं है; यह

तो भेदविज्ञान की भूमिका मात्र है। असली भेदविज्ञान का आरंभ तो तब से होता है, जब कि हम परपदार्थों और परभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा की अनुभूति कर लेते हैं, प्रत्यक्ष वेदन कर लेते हैं। यद्यपि यह आत्मानुभूति ही वास्तविक भेदविज्ञान है; तथापि इसके लिये किये गये पुरुषार्थ को भी भेदविज्ञान कहा जाता है।

आत्मानुभूति प्रगट हो जाने के बाद भी जो उपयोग की अस्थिरता बनी रहती है, रागांश शेष रहता है; उसके विनाश के लिये भी भेदविज्ञान की भावना को बलवती करना अति-आवश्यक है; क्योंकि उसके बल से ही उपयोग बाहर से हटकर बारंबार आत्मा में जाता है, आत्मा का स्पर्श करता है, आत्मा में गहराई से जमता-रमता है और एक दिन ऐसा आता है कि उपयोग सदा के लिये उपयोग में स्थिर हो जाता है और आत्मा सर्व विकारों से मुक्त हो जाता है। इसी को ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना कहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक आत्मा मुक्त न हो जावे, तबतक भेदविज्ञान की उपयोगिता है।

यह ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना तो पूर्णता की दृष्टि से किया गया कथन है। यदि आरंभ से बात करें तो जब ज्ञान पर से हटकर स्व में आता है, स्वात्मा को ज्ञान का ज्ञेय बनाता है तो वह भी ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना है। ज्ञान जब-जब और जितना-जितना स्व में जमता-रमता है; तब-तब और उतना-उतना ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित होता जाता है और उसी अनुपात में यह भगवान आत्मा पर से मुक्त भी होता जाता है - यह भी एक अपेक्षा है।

एक अपेक्षा और भी है। वह यह कि जब ज्ञान ने एकबार पर में से अपनापन तोड़कर स्व में अपनापन स्थापित कर लिया तो फिर उपयोगरूप ज्ञान के परपदार्थों में चले जाने पर भी लब्धिरूप ज्ञान में आत्मा निरन्तर जानने में आता रहने से और श्रद्धा में उसी में अपनापन रहने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बने रहते हैं। - यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का बना रहना और अनन्तानुबंधी के अभाव में परिणति की विद्यमान शुद्धता भी ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही है और पर से एकत्व की मान्यता से मुक्त होना है, पर में एकत्व के अज्ञान से मुक्त होना है।

इन सब बातों को गहराई से समझकर जिनवाणी में जहाँ जिस अपेक्षा से जो कथन हो; वहाँ वही अपेक्षा लगाकर समझने से ही असली बात समझ में आयेगी।

जैनदर्शन में एकमात्र निजभगवान आत्मा को छोड़कर और जिसे भी उपादेय कहा गया हो; वह सब किसी न किसी प्रयोजन से उपादेय होता है। जबतक वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तबतक वह उपादेय है और प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर वह हेय हो जाता है।

भेदविज्ञान भी मुक्त होने के प्रयोजन से उपादेय है। अतः मुक्त हो जाने पर उसका हेय हो जाना उचित ही है । श्रद्धामुक्ति से लेकर जीवनमुक्ति तक मुक्ति अनेक प्रकार की कही गई है। इसकारण जहाँ जो मुक्ति अपेक्षित हो, उसी के अनुसार हेय-उपादेय भी घटित कर लेना चाहिए।

भेदविज्ञान का स्वरूप मैंने २४ वर्ष पहले 'तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ' में पृष्ठ १२८-१२९ पर इसप्रकार स्पष्ट किया था –

"पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान 'स्व' और 'पर' के बीच किया जाता है; अतः इसे स्वपर-भेदविज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्मविज्ञान ही है; क्योंकि इसमें पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही मूल प्रयोजन है ।

भेदविज्ञान में मूल बात दोनों को मात्र जानना या एकसा जानना नहीं, भिन्न-भिन्न जानना है। भिन्न-भिन्न जानना भी नहीं, पर से भिन्न स्व को जानना है। पर को छोड़ने के लिये जानना है और स्व को पकड़ने के लिये; पर को मात्र जानना है और स्व को जानकर उसमें जमना है, रमना है। स्व और पर को जानने का आशय उनके भेद-प्रभेदों के विकल्पजाल में उलझने से नहीं; किन्तु समस्त भेद जिसमें समा गये हैं – ऐसे अभेद, अखण्ड आत्मा को अखण्डपने जानने से है।

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द-स्वभावी ध्रुव चैतन्य निजतत्त्व ही 'स्व' है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण और उनकी पर्यायें तो 'पर' हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी

भावरूप आस्रव-बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं। यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं; क्योंकि इन्हें जीवतत्त्व में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे।

समस्त पर-जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य और आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप पर्याय-तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्वपर-भेदविज्ञान है।

आत्मार्थी पर को भी जानते हैं, पर उससे कुछ पाने के लिये नहीं, अपनाने के लिये भी नहीं; 'पर' से भिन्न 'स्व' की पहचान के लिये ही वे पर को जानते हैं।

उनका पर को जानना भी स्व की खोज है; क्योंकि उन्हें पर से भिन्न आत्मा को जानना है। पर को न जानेंगे तो उसमें आत्मबुद्धि हो सकती है। इसलिए जिससे भिन्न जानना है, उसे भी जानना होगा, पर उसे जानने के लिये नहीं; आत्मा को जानने में भूल न हो जावे, मात्र इसलिए उसे जानना है।

'पर' को जानना है, पर हेय बुद्धि से जानना है । जैसे - जिसकी माँ खो गई है - ऐसा बालक अपनी माँ की खोज के प्रयत्न में अनेक महिलाओं को देखता है, पर उन पर उसकी दृष्टि जमती नहीं। यह जानते ही कि यह मेरी माँ नहीं है, तत्काल उनसे उसकी दृष्टि हट जाती है; पर जब उसकी माँ मिल जाय तो उसे देखकर उस पर से यह दृष्टि हटाता नहीं, उसे देखता ही रहता है, उससे लिपट जाता है, उसमें समा जाना चाहता है। उसीप्रकार ज्ञानी आत्मा यद्यपि पर को जानता है; तथापि उसकी दृष्टि पर में जमती नहीं, रमती नहीं।

यद्यपि खोज की प्रक्रिया व खोज को भी व्यवहार से भेदविज्ञान कहा जाता है; तथापि जिसे खोजना है, उसी में खो जाना ही वास्तविक भेदविज्ञान है अर्थात् निज-अभेद में खोजाना, समा जाना ही भेदविज्ञान है ।''

यहाँ जो भेदविज्ञान को हेय कहा है, उसका आशय यह नहीं है कि तुम्हें भेदविज्ञान को छोड़ने के लिये बुद्धिपूर्वक कुछ करना है। वस्तुतः बात तो यह है कि उत्तर भूमिका पर आरोहण होने पर पूर्व भूमिका सहज ही छूट जाती है। इसीप्रकार निर्विकल्प अनुभूति होने पर विकल्पात्मक भेदविज्ञान सहज ही छूट जाता है।

इस सन्दर्भ में कलश टीकाकार का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है –

"भावार्थ इसप्रकार है – निरन्तर शुद्धस्वरूप का अनुभव कर्त्तव्य है। जिसकाल सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष होगा, उस काल समस्त विकल्प सहज ही छूट जायेंगे। वहाँ भेदविज्ञान भी एक विकल्परूप है, केवलज्ञान के समान जीव का शुद्धस्वरूप नहीं है, इसलिए सहज ही विनाशीक है।"

ध्यान रहे जिन कलशटीकाकार ने भेदविज्ञान को विगत छन्दों में विनाशीक कहा और जिसके आधार पर बनारसीदासजी ने उसे हेय कहा; वे ही कलशटीकाकार आगामी कलश में लिखते हैं कि भेदविज्ञान सर्वथा उपादेय है।

भेदविज्ञान की अकाट्य महिमा प्रदर्शित करनेवाला वह कलश इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ १३१॥

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥
और जीव जो भटक रहे वे भवसागर में ।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥ १३१॥

आज तक जो कोई भी सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं।

भेदविज्ञान की महिमा इससे अधिक और क्या बताई जासकती है कि आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं, वे सब भेदविज्ञान से गये हैं और जो जीव कर्मों से बंधे हैं, संसार में अनादि से अनन्त दुःख उठा रहे हैं; वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही उठा रहे हैं।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है –

(चौपाई)

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही, ते जड़ जीव बंधैं घट मांही ॥

जिन जीवों ने भेदविज्ञानरूप संवर प्राप्त किया है; वे जीव मोक्षस्वरूप ही कहे जाते हैं और जिनके हृदय में भेदज्ञान नहीं है; वे जड़ (अज्ञानी) जीव घट (शरीर) में बंधे हैं, संसार में भटक रहे हैं।

इस छन्द में तो बनारसीदासजी ने कारण में कार्य का उपचार करके भेदज्ञान, संवर और मोक्ष को पर्यायवाची ही बता दिया है, अभेद-एक ही बता दिया है।

इसके बाद नाटक समयसार में बनारसीदासजी ने भेदविज्ञान की महिमा बतानेवाले दो छन्द और भी लिखे हैं; जिनमें पहला इसप्रकार है –

(दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर ।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर ॥

मानो भेदविज्ञान तो साबुन हो गया, सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों का समताभाव पानी हो गया, सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा धोबी हो गया और आत्मा के विकृतगुण मैले कपड़े हो गये हैं। – इसप्रकार अन्तरात्मारूपी धोबी समतारूपी पानी में भेदज्ञानरूप साबुन से अपने विकृतगुणरूप मैले कपड़ों को धो रहा है। तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान ही वह उपाय है, जिसके जरिये मैले-कुचेले आत्मा को निर्मल किया जा सकता है, पवित्र किया जा सकता है।

अब आगामी छन्द में बनारसीदासजी अनेक उदाहरण देकर यह बता रहे हैं कि ज्ञानी जीव भेदज्ञान से कर्मरूपी शत्रुओं को किसप्रकार पराजित करते हैं।

वह छन्द मूलत: इसप्रकार है–

(सवैया इकतीसा)

जैसे रजसोधा रज सोधि कैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपल कौं ।
पंक के गरभ मैं ज्यौं डारिये कतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मल कौं ॥
दधि कौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखन कौं
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जल कौं ।
तैसें ग्यानवंत भेदग्यान की सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दल कौं ॥

जिसप्रकार धूल को सोधनेवाले लोग धूल को सोधकर उसमें से सोना-चाँदी निकाल लेते हैं, जिसप्रकार अग्नि मैल को जलाकर शुद्ध सोने को निकाल लेती है, जिसप्रकार कीचड़ में कतकफल के डालने पर वह कतकफल मैल को दूर करके पानी को निर्मल कर देता है, जिसप्रकार दही को मथनेवाला दही को मथकर मक्खन निकाल लेता है और जिसप्रकार राजहंस पानी को छोड़कर दूध को पी लेता है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव भेदज्ञान की शक्ति साधकर अपनी आत्मारूप सम्पत्ति का वेदन करते हैं, अनुभव करते हैं और परदल का उच्छेद कर देते हैं।

उक्त छन्द में अनेक उदाहराणों के माध्यम से यह बताने का सफल प्रयास किया गया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव भेदविज्ञान के बल से परपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव किसप्रकार करते हैं।

जहाँ सर्राफे (सोना-चाँदी) का व्यापार होता है, सोने-चाँदी के गहने बनते हैं; वहाँ की धूल-मिट्टी में भी सोने-चाँदी के कुछ कण मिल जाते हैं। इसलिए कुछ लोग उस धूल-मिट्टी को धो-धोकर सोने-चाँदी के कणों को निकाल लेते हैं। जो लोग यह काम करते हैं, उन्हें धूलधोया कहते है, रजसोधा कहते हैं। यहाँ पहले उदाहरण में उसी रजसोधा का उदाहरण दिया गया है। शेष उदाहरणों का स्वरूप तो स्पष्ट ही है।

संवर अधिकार की समाप्ति पर आत्माख्याति में आचार्य अमृतचंद्र अन्तमंगल के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण इसप्रकार करते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकलरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परममम्लालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ १३२ ॥

(रोला)

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो ॥
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥ १३२ ॥

भेदविज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हुई; शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह प्रलय हुआ; रागसमूह के विलय करने से कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से ज्ञान में ही निश्चल हुआ ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ। निर्मल प्रकाश और शाश्वत उद्योतवाला वह एक अम्लान ज्ञान परमसन्तोष को धारण करता है।

इस कलश में यह बताया गया है कि भेदविज्ञान के बल से संवरपूर्वक परमसन्तोष को धारण करनेवाला निर्मल शाश्वत ज्ञान प्रगट होता है।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर पंडित बनारसीदासजी ने इसप्रकार किया है –

(छप्पय छन्द)

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै ।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै ।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥
छय करि विभाव समभाव भजि, निरविकलप निज पद गहै ।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर, परम अतींद्रिय सुख लहै ॥

प्रगट हुआ भेदविज्ञान स्वयं के आत्मा के और उससे भिन्न परपदार्थों के गुणों को भली-भाँति जानता है, पर परिणति का परित्याग करके शुद्ध अनुभव में स्थित हो जाता है, अनुभव का अभ्यास करके सहजभाव से संवर को प्रगट

करता है, आस्रव के द्वारों (दरवाजों) का निरोध करके कर्मजनित महाअंधकार को नष्ट करता है। इसप्रकार विभावभावों का क्षय करके, समभाव को भजकर निजपद को, अपने आत्मा को निर्विकल्प अनुभूति में प्राप्त करता है। परिणामस्वरूप यह भेदविज्ञानी जीव निर्मल, विशुद्ध, शाश्वत, सुस्थिर और परम अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि भेदविज्ञान से ही आस्रवों का अभाव होकर संवर प्रगट होता है, परिपूर्णज्ञान की प्राप्ति होती है और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द भी प्राप्त होता है।

इसप्रकार संवर रंगभूमि से बाहर निकल जाता है।

सबसे अन्त में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भी अधिकार को समाप्त करते हुए एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(सवैया तेईसा)

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥

जब भेदविज्ञान की कला प्रगट होती है, तब यह आत्मा अपने शुद्धस्वभाव को प्राप्त कर लेता है। शुद्धस्वभाव के प्राप्त होने पर सभी मोह-राग-द्वेष गल जाते हैं। ऐसा होने पर ये दुष्ट कर्म भी आने से रुक जाते हैं, इनका संवर हो जाता है। ऐसी स्थिति में उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश होता है और अपने परमात्मस्वरूप आत्मा में अत्यन्त सन्तोष प्रगट होता है।

इसप्रकार मुनिगण भलेप्रकार से इस विधि को अपनाते हैं और केवलज्ञान प्राप्त कर अनन्तसुखी हो जाते हैं, मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

इसप्रकार यह संवर अधिकार समाप्त होता है। •

अपमानित मानी, क्रोधित भुजंग एवं क्षुधातुर मृगराज से भी अधिक दु:साहसी हो जाता है। – **आप कुछ भी कहो, पृष्ठ १७**

निर्जरा अधिकार

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया गया और अब निर्जरा अधिकार में संवरदशा को प्राप्त सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, आत्मा की आराधना करके विकारी भावों रूप भावकर्मों एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों की निर्जरा कैसे करता है – यह बताते हैं।

वास्तविक निर्जरा तो निजात्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धि की वृद्धि ही है; किन्तु उसके निमित्त से जो सत्ता में विद्यमान कर्मों का अभाव होता है, उसे भी निर्जरा कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों के दोनों प्रकार की निर्जरा निरंतर होती ही रहती है।

धर्म की उत्पत्ति संवर, धर्म की वृद्धि निर्जरा और धर्म की पूर्णता मोक्ष है। आत्मशुद्धि ही धर्म है; अतः इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि निजभगवान आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक होनेवाले आत्मध्यान से जो शुद्धता प्रगट होती है, वह संवर है; उसी आत्मध्यान से उक्त शुद्धता में जो वृद्धि होती है, वह निर्जरा है और उसी विधि से पूर्ण शुद्धता का प्रगट हो जाना मोक्ष है।

संवरपूर्वक होनेवाली यह निर्जरा मुक्ति का साक्षात् कारण है; क्योंकि कर्मों से मुक्ति निर्जरापूर्वक ही होती है। कविवर बनारसीदासजी निर्जरा को '**मुक्तिवितरनी**' कहते हैं। उनका वह कथन इसप्रकार है –

वरनी संवर की दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहू भविक धरि कान॥

संवर की दशा का वर्णन यथायोग्य युक्ति के अनुसार किया। अब मुक्ति का वितरण करने वाली निर्जरा का वर्णन करते हैं। हे भव्यजीवों ! तुम उसे कान लगाकर सुनो अर्थात् ध्यान देकर सुनो ।

इस अधिकार की आत्मख्याति टीका का आरंभ आचार्य अमृतचंद्रदेव **'अथ प्रविशति निर्जरा** – इस नाटक समयसार के रंगमंच पर अब निर्जरा प्रवेश करती है' – इस वाक्य से करते हैं।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृति में इस बात को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

''अब यहाँ शृंगार रहित पात्र के समान शुद्धजीवस्वरूप संवर रंगभूमि से निकल गया। अब वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धोपयोगलक्षणवाली एवं संवरपूर्वक होनेवाली निर्जरा प्रवेश करती है।''

अधिकार के आरंभ में मंगलाचरण के रूप में ज्ञानज्योति का स्मरण करते हुए आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं –

(शादूर्लविक्रीडित)

रागाद्यास्त्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ॥ १३३ ॥

(हरिगीत)

आगामी बंधन रोकने संवर सजग सन्नद्ध हो ।
रागादि के अवरोध से जब कमर कस के खड़ा हो ॥
अर पूर्वबद्ध करम दहन को निरजरा तैयार हो ।
तब ज्ञानज्योति यह अरे नित ही अमूर्छित क्यों न हो ॥ १३३॥

परमसंवर रागादि आस्त्रवभावों के रोकने से अपनी कार्यधुरा को धारण करके समस्त आगामी कर्मों को परिपूर्ण दूरी से ही रोके खड़ा है और अब पूर्वबद्ध कर्मों को जलाने के लिये निर्जरारूपी अग्नि फैल रही है। इसकारण निरावरण होती हुई ज्ञानज्योति फिर कभी भी रागादि भावों के द्वारा मूर्छित नहीं होगी, सदा अमूर्छित ही रहेगी।

इस कलश में यह बताया गया है कि आगामी कर्मों को तो संवर ने रोक दिया और पूर्वबद्धकर्मों को निर्जरा निर्मूल कर रही है। इसप्रकार समस्त कर्मों

का अभाव हो जाने से ज्ञानज्योति ऐसी प्रकाशित हो रही है कि वह फिर कभी भी मूर्छित नहीं होगी, सदा जाग्रत ही रहेगी।

देखो, यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि संवर अपनी कार्यधुरा को पूरी तरह संभाल कर खड़ा है। तात्पर्य यह है कि संवर अपना कार्य करने के लिये कमर कस के तैयार है। संवर का कार्य आगामी कर्मों को बंधने से रोकना है। संवर अपने इस कार्य को संभल कर सम्पन्न कर रहा है। इसीप्रकार निर्जरा भी पुराने कर्मों को काटने में जमकर लगी हुई है। इसप्रकार जब नये कर्म तो बंधेंगे नहीं और पुराने सब नष्ट हो जायँगे तो मोक्ष होना निश्चित ही है। मोक्ष होने पर ज्ञानज्योति सदा अमूर्छित ही रहेगी; क्योंकि अब उसके मूर्छित होने का कोई कारण ही नहीं रहा ।

उक्त भाव को बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में दो पंक्तियों में बड़ी ही सरलता से समेट लिया है; जो इसप्रकार है –

(चौपाई)

जो संवरपद पाइ अनंदै, सो पूरवकृत कर्म निकंदै ॥
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै, सो निरजरा बनारसि बंदै ॥

जो निर्जरा संवरपद को प्राप्त करके आनन्दित होती है; वह निर्जरा पूर्व में बाँधे हुए कर्मों को नष्ट करती है। जो निर्जरा अबंध को प्राप्त होकर फिर दुबारा बंधन में नहीं उलझती; उस निर्जरा की वंदना बनारसीदासजी करते हैं।

संवरपूर्वक होनेवाली निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है; क्योंकि मुक्ति का कारण संवरपूर्वक होनेवाली निर्जरा ही है। यह निर्जरा ही निर्जरातत्त्व है। तात्पर्य यह है कि सविपाक निर्जरा या अकाम निर्जरा वास्तविक निर्जरा नहीं है। ये तो कहने मात्र की निर्जरा है; इनका मुक्तिमार्ग में कोई स्थान नहीं है।

उक्त कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अब निर्जरा अधिकार कहते हैं। आत्मा की अशुद्धता के नाश, शुद्धता की वृद्धि एवं उसी समय द्रव्यकर्म के निर्जीर्ण होने या खिर जाने को निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा तीन प्रकार की है –

१. आत्मज्ञान होने पर स्वरूप में रमणता होने से जो द्रव्यकर्म का नाश होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

२. अशुद्धता का नाश होना भावनिर्जरा है। यह नास्ति से भावनिर्जरा का स्वरूप है।

३. आत्मा में जो शुद्धता की वृद्धि होती है, वह अस्ति से भावनिर्जरा है। शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है।

कर्मों का जो नाश होता है, वह स्वयं कर्म के कारण होता है तथा वह वास्तविक निर्जरा नहीं है। पर्याय में अशुद्धता का नाश होकर शुद्धि की वृद्धि हुई, वह वास्तविक निर्जरा है। संवर अर्थात् आत्मा में शुद्धि की उत्पत्ति होना और निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होना । आत्मा में शुद्धि की उत्पत्ति संवर, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा एवं शुद्धि की पूर्णता मोक्ष है।[१]"

इसप्रकार मंगलाचरण के इस कलश में यही कहा गया है कि संवर ने आगामी कर्मों के आस्रव (आने) को रोक दिया है और निर्जरा पुराने कर्मों को नष्ट कर रही है – इसकारण अब ज्ञानज्योति सदा ही अखण्डरूप से प्रकाशित रहेगी। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १००

भेदविज्ञान मात्र दो वस्तुओं के बीच भेद जानने का नाम नहीं है। षट्द्रव्यमयी सम्पूर्ण लोक को स्व और पर – इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न स्व में एकत्व स्थापित करना ही सच्चा भेदविज्ञान है।

अनित्य, अशरण और अशुचि जड़ शरीर तो पर है ही; अपनी ही आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषरूप अशुचि आस्रवभाव भी पर ही हैं। जड़ शरीर एवं पुण्य-पापरूप शुभाशुभभाव तो दूर, गहराई में जाकर विचार करें तो आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले संवर, निर्जरा, मोक्षरूप वीतरागभाव (शुद्धभाव) भी पर्याय होने से पर की सीमा में ही आते हैं; स्व तो पर और पर्याय से भिन्न एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व ही है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के मोक्षमार्गरूप निर्मल भाव भी ध्येय नहीं हैं, श्रद्धेय नहीं हैं, परमज्ञेय भी नहीं हैं; आराध्य भी नहीं हैं। आराध्य तो अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड एक चैतन्यस्वभावी निजात्मतत्त्व ही है।

– बारहभावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ १२२

समयसार गाथा १९३

मंगलाचरण के कलश के उपरान्त अब निर्जरा अधिकार की मूल गाथाएँ आरंभ करते हैं। उसमें सर्वप्रथम द्रव्य निर्जरा का स्वरूप बताते हैं –

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३॥
चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन ।
जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है ॥ १९३॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सभी निर्जरा का निमित्त है।

आचार्य अमृतचंद्र आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है। यद्यपि रागादिभावों के सद्भाव से चेतन-अचेतन द्रव्यों का उपभोग मिथ्यादृष्टि के लिये बंध का निमित्त होता है; तथापि वही उपभोग रागादिभावों के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टियों के लिये निर्जरा का निमित्त होता है – इसप्रकार यह द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा ।"

यद्यपि गाथा और टीका का कथन एकदम स्पष्ट है। इस में समझ में न आने योग्य कुछ भी नहीं है; तथापि अपेक्षा समझे बिना यह बात सभी के गले आसानी से नहीं उतर सकती कि जो भोग अज्ञानी के लिये बंध के निमित्त हैं; वे ही भोग ज्ञानियों के लिये निर्जरा के निमित्त होते हैं। इस बात को गले उतारने के लिये उक्त कथन की अपेक्षा को समझाना अत्यन्त आवश्यक है।

यही कारण है कि पंडित जयचंदजी छाबड़ा इस सीधी-सरल गाथा और अत्यन्त स्पष्ट तीन पंक्तियों की टीका का भावार्थ लिखते समय पूरा एक पृष्ठ घेर लेते हैं। उनका वह मननीय भावार्थ इसप्रकार है –

"सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है।

यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता है; तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि 'यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है।' जबतक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तबतक - जैसे रोगी रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है; इसीप्रकार - भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता और निश्चय से तो ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है।

इसप्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता, कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं; क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती।

इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है।

पूर्वकर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है।"

यद्यपि उक्त भावार्थ में बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है; तथापि इसी अधिकार में आगे इस विषय पर विस्तार से चर्चा होनेवाली है। अत: यहाँ विशेष विस्तार से कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि आचार्य जयसेन ने इस गाथा का अर्थ तो आत्मख्याति के समान ही किया है; तथापि प्रश्नोत्तर के माध्यम से कुछ विशेष स्पष्टीकरण भी किया है, जिसका भाव इसप्रकार है -

"यहाँ शिष्य कहता है कि सम्यग्दृष्टि के भोगों को राग-द्वेष-मोह के अभाव के कारण निर्जरा का कारण कहा गया है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि विद्यमान हैं; इसलिए उसके भोग निर्जरा के कारण कैसे हो सकते हैं ?

इस पूर्वपक्ष के परिहार में आचार्य कहते हैं कि इस ग्रन्थ में वस्तुवृत्ति से अर्थात् मुख्यरूप से वीतराग सम्यग्दृष्टियों को ग्रहण किया है और चतुर्थगुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टियों का भी ग्रहण गौणवृत्ति से किया है। इस बात का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है।

शंका - कैसे ?

समाधान - मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय में होनेवाले मोह-राग-द्वेष नहीं हैं और देशसंयत को अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ जनित मोह-राग-द्वेष नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि के संवरपूर्वक निर्जरा होती है; किन्तु मिथ्यादृष्टि के गजस्नानवत् बंधपूर्वक निर्जरा होती है। इसलिए मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबंधक है।

जिसप्रकार हाथी अच्छी तरह नहाने के बाद भी धूल-मिट्टी को अपने ऊपर डाल लेता है; इसकारण गंदा ही रहता है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि के कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं; तथापि आगामी कर्मबंध रुकता नहीं हैं; इसलिए मिथ्यादृष्टि की निर्जरा हाथी के स्नान के समान निरर्थक ही कही गई है।" •

मोह का नाश कर आत्मश्रद्धान-ज्ञान और आत्मलीनता के इच्छुकजनों को अनन्त पुरुषार्थपूर्वक मर-पच के भी सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता के निर्णय में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समाहित है। सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर ही होता है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही मुक्ति महल की प्रथम सीढ़ी है; उस पर आरोहण का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में समाहित है।

– क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ५९

समयसार गाथा १९४

विगत गाथा में द्रव्य निर्जरा का स्वरूप स्पष्ट किया गया था और अब इस गाथा में भावनिर्जरा का स्वरूप समझाते हैं। भावनिर्जरा का स्वरूप समझाने वाली वह गाथा इसप्रकार है –

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेदयदि अध णिज्जरं जादि ॥१९४॥

सुख-दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से ।
अर भोगने के बाद सुख-दुख निर्जरा को प्राप्त हों ॥१९४॥

परद्रव्य के उपभोग होने पर सुख अथवा दु:ख नियम से उत्पन्न होता है। उदय को प्राप्त उन सुख-दुखों का अनुभव होने के बाद वे सुख-दु:ख निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचद्र आत्मख्याति में इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''परद्रव्य भोगने में आने पर उसके निमित्त से जीव के सुखरूप या दुखरूप भाव नियम से ही उदित होता है; क्योंकि वेदन साता और असाता – इन विकल्पों (प्रकारों) का अतिक्रम (उल्लंघन) नहीं करता।

उक्त सुखरूप या दुखरूप भाव के वेदन होने पर मिथ्यादृष्टि को रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर वह भाव निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी वस्तुत: निर्जरित न होता हुआ बंध को ही प्राप्त होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादिभावों के अभाव से बंध का निमित्त हुए बिना मात्र निर्जरित होने से वस्तुत: निर्जरित होता हुआ निर्जरित ही होता है।''

इस गाथा और टीका में यह कहा जारहा है कि चाहे सम्यदृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि – दोनों के ही परद्रव्य भोगने में आने पर सुख-दु:खरूप भाव तो होते ही हैं; क्योंकि इनके बिना वेदन संभव ही नहीं है; किन्तु भोग और वेदन समान होने पर भी सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि के बंध;

क्योंकि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी संबंधी राग-द्वेष विद्यमान होने से वे भोग और वेदन बंध करके निर्जरित होते हैं; इसकारण उसके बंध ही है और सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी राग-द्वेष के अभाव से वे भोग और वेदन बिना बंध किये ही निर्जरित हो जाते हैं; अत: उसके निर्जरा ही है। इसप्रकार भोग और वेदन समान होने पर भी मिथ्यादृष्टि के बंध और सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के स्पष्टीकरण में आत्मख्याति का अनुसरण करते हुए भी यह जोड़ देते हैं कि सम्यग्दृष्टि भोगों को भोगते हुए भी उनमें हेयबुद्धि रखता है और मिथ्यादृष्टि उपादेयबुद्धि रखता है। भोग के काल में उदयागत कर्म तो दोनों के ही खिरते हैं; किन्तु हेय बुद्धिपूर्वक भोगने के कारण सम्यग्दृष्टि बंध को प्राप्त नहीं होता और मिथ्यादृष्टि उपादेय बुद्धिपूर्वक भोगने के कारण बंध को प्राप्त होता है। बंध को प्राप्त न होने से सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण कहे हैं; किन्तु आगामी बंध के कारण होने के कारण मिथ्यादृष्टि के भोग कर्मों के खिरने के बावजूद भी बंध के ही कारण कहे गये हैं।

उपादेयबुद्धि और हेयबुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन इसी गाथा की टीका में आगे लिखते हैं –

"जिसप्रकार कोई चोर यद्यपि मरना नहीं चाहता; तथापि कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाने पर मरणदु:ख का अनुभव करता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मोत्थ सुख को ही उपादेय मानते हैं और विषयसुख को हेय जानते हैं; तथापि चारित्रमोह के उदयरूप कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने से उन भोगों को भोगते हैं, अनुभवते हैं। इसकारण उनका भोग भी निर्जरा का निमित्त है।"

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"देखो, निर्जरा तीन प्रकार की है। कर्म का खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है, अशुद्धता का नाश (अभाव) होना नास्ति से भावनिर्जरा है तथा शुद्धता की वृद्धि होना अस्ति से भावनिर्जरा है। इनमें द्रव्यनिर्जरा की बात तो १९३वीं गाथा में

आ चुकी है और अब अशुद्धता के अभावरूप निर्जरा की बात इस गाथा में कहते हैं।[१]

यहाँ कहते हैं कि राग की रुचि का परिणमन विद्यमान होने से अज्ञानी जीव को उदय में आया कर्म खिर जाने पर भी वह नवीन कर्मबंधन में निमित्त होता है। बस, इसीकारण अज्ञानी के निर्जरा नहीं, बल्कि बंध ही होता है; परन्तु सम्यग्दृष्टि को रागादिभावों के अभाव से बंध का निमित्त हुए बिना केवल खिर जाने के कारण उसे निर्जरा ही होती है। देखो, ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा में सुखबुद्धि होने से धर्मी (सम्यग्दृष्टि) जीवों को रागादिभावों का अभाव होता है, उनके राग में रुचि नहीं रहती। इसकारण उनके पुराना कर्म उदय में आकर खिर जाता है और नया बंधता नहीं है।

आत्मा तो अकेला अमृतसागर सच्चिदानंदस्वरूप भगवान है। उस आनंद की अनुभूति जिसे हुई, उसके साता-असाता के उदयकाल में किंचित् अस्थिरता का परिणाम एक समय मात्र को होता है; किंतु उस काल में उसे जो साता-असाता का वेदन है, उसका भी वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। इसकारण यद्यपि ज्ञानी के किंचित् साता-असातारूप वेदन है; तथापि उसे उसमें सुखबुद्धि – मिठास नहीं होने से, वह बंध का निमित्त हुए बिना निर्जरित हो जाता है। अहो! ऐसी अलौकिक बात तो सुनना भी आज सुलभ नहीं है, जिसे यह सुनने-समझने का अवसर मिल गया है, उसे अपना सौभाग्य समझकर तुरन्त कल्याण के मार्ग में लग जाना चाहिए।

प्रश्न : स्वयं भोगों को भोगते हुए भी ज्ञानी के उस संबंधी राग का सद्भाव नहीं है – यह बात समझ में नहीं आती?

उत्तर : अरे भाई ! ज्ञानी के उस राग में एकत्व व स्वामित्व नहीं है; इसकारण राग की रुचि नहीं है। इसमें समझ में न आने की क्या बात है?

जिसप्रकार धाय (दासी) राजपुत्र को स्तन-पान कराती है, परन्तु उसे उसमें अनुराग नहीं होता; जिसतरह स्वर्ण कीचड़ में रहता है, पर कीचड़ का उसमें प्रवेश नहीं होता; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ ११६

कषाय नहीं है; इसकारण उसे रागादिभावों का अभाव है। किंचित् राग होता है, पर वह उस राग को भी श्रद्धान में हेय मानता है। अतः उसे वह भोग का भाव कर्मबंधन का कारण नहीं होता और उदय में आकर खिर जाता है। अतः उसे निर्जरा ही होती है, बंधन नहीं। बस, इन्हीं सब कारणों से ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे गये हैं।

वैसे देखा जाए तो भोग तो बंधन के ही कारण हैं, पर यहाँ तो ज्ञानी के अंतर्दृष्टि के जोर की मुख्यता से कथन है न! उसकी आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन की महिमा दर्शाई गई है न ! उस अपेक्षा जो किंचित् राग व रागजनित बंध होता है, उसे गौण करके जितने बंध के अभावपूर्वक निर्जरा हुई है, उस अपेक्षा यह कहा है। यह बात भोग की पुष्टि के लिए नहीं कही गई है, जो ऐसा उल्टा अर्थ ग्रहण करके जरा भी राग की या भोगों की पुष्टि करेगा – वह तो पापी ही है, वह जिनवाणी के कथन के अभिप्राय को समझा ही नहीं है – ऐसा माना जायेगा।[१]

भाई ! ऐसा कथन सुनकर यदि कोई स्वछंदी होता है तो वह निश्चय ही मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसने जिनवाणी के इस नयविभाग से किए गए कथन का सत्य अर्थ ग्रहण नहीं किया।[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि भोग और वेदन समान होने पर भी मिथ्यादृष्टि को बंध और सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है। यह सब महिमा सम्यग्दृष्टि के आत्मज्ञान एवं तज्जन्य वैराग्य की ही है।

अब आगामी कलश में कहते हैं कि यह ज्ञान और वैराग्य की ही महिमा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से बंधता नहीं है। वह कलश मूलतः इसप्रकार है –

(अनुष्टुप्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥ १३४॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १२३-१२४
२. वही, पृष्ठ १२४

(हरिगीत)

ज्ञानी बंधे ना कर्म से सब कर्म करते-भोगते ।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥ १३४॥

यह एकमात्र ज्ञान और वैराग्य की ही सामर्थ्य है कि ज्ञानी कर्मों को करते हुए और उनके फल को भोगते हुए भी कर्मों से बंधता नहीं है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी इस छन्द का भावानुवाद करते हुए तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें वे अनेक उदाहरणों के माध्यम से उक्त तथ्य को पुष्ट करते हैं। वे छन्द इसप्रकार हैं –

(दोहा)

महिमा सम्यकज्ञान की, अरु बिरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहिं होइ ॥ ३॥

वैराग्य का बल और सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है कि पुण्य-पाप की क्रिया करते हुए और फल भोगते हुए भी ज्ञानी को कर्मबंध नहीं होता।

(सवैया इकतीसा)

जैसैं भूप कौतुक सरूप करै नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है ।
जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जार ही सौं प्रेम भरता सौं चित बंक है ॥
जैसैं धाइ बालक चुँघाइ करै लालि-पालि,
जानै ताहि और कौ जदपि वाकै अंक है ।
तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरिया कौं भिन्न मानै याते निकलंक है ॥ ४॥
जैसैं निसि वासर कमल रहै पंक ही मैं,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है ।
जैसैं मंत्रवादी विषधर सौं गहावै गात,
मंत्र की सकति वाकै विना-विष डंक है ।
जैसैं जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानी मैं कनक जैसैं काई सौं अटंक है ।
तैसैं ग्यानवंत नानाभांति करतूति ठानै,
किरिया कौ भिन्न मानै यातैं निकलंक है ॥ ५॥

जिसप्रकार राजा कौतूहलवश नीचा कार्य करते हुए भी दिखाई दे; तो भी वह कौतुकी ही कहलाता है, उसे गरीब कोई नहीं कहता। जिसप्रकार व्यभिचार का विचार करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री का प्रेम यार से ही होता है, पति से तो उसका चित्त वंक (टेडा-विरक्त) ही रहता है और जिसप्रकार धायमाता बालक को दूध पिलाती है, उसका लालन-पालन करती है, यद्यपि बालक उसकी गोद में ही रहता है; तथापि वह उस बालक को अपना नहीं मानती, अन्य का ही जानती है। उसीप्रकार ज्ञानी जीव अनेक प्रकार की करतूति (कार्य) करते हैं; किन्तु उस क्रिया को अपने से भिन्न जानते-मानते हैं; इसकारण निकलंक रहते हैं, कर्मों से नहीं बंधते।

जिसप्रकार कमल दिन-रात कीचड़ में ही रहता है, इसलिए पंकज कहलाता है; किन्तु उसके पास कीचड़ नहीं होता, क्योंकि वह सदा कीचड़ से ऊपर ही रहता है; जिसप्रकार मंत्रवादी सर्प के मुँह में अपना हाथ दे देता है तो भी मंत्र की शक्ति से डंक लगने पर भी विष नहीं चढ़ता; जिसप्रकार जिह्वा चिकनाई को ग्रहण करते हुए भी रूखी रहती है और पानी में पड़ा हुआ सोना काई से जुदा ही रहता है; उसीप्रकार ज्ञानी जीव अनेक प्रकार करतूति (कार्य) करने पर भी उस क्रिया से स्वयं को भिन्न मानने के कारण निकलंक रहते हैं, कर्मों से नहीं बंधते।

उक्त दोनों छन्दों की अन्तिम दो पंक्तियाँ समान ही हैं, जिनमें यह कहा गया है कि ज्ञानी जीव अनेकप्रकार की करतूति (शुभाशुभकार्य) करते हुए भी निकंलक रहते हैं, कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होते; क्योंकि वे स्वयं को उक्त करतूति से भिन्न जानते हैं, मानते हैं; उसके कर्त्ता-भोक्ता नहीं बनते। उक्त बात को गले उतारने के लिए यहाँ सात उदाहरण दिये गये हैं। सातों ही उदाहरणों से उक्त एक बात की ही पुष्टि की गई है। वे उदाहरण इसप्रकार हैं –

(१) जिसप्रकार कौतूहलवश नीचा कार्य करनेवाला राजा कौतुकी ही कहलाता है, उसे कोई गरीब नहीं मानता; उसीप्रकार अनेकप्रकार के शुभाशुभभावों को करते हुए भी उनसे स्वयं को भिन्न जानने-मानने के कारण ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधते, निकलंक ही रहते हैं।

(२) जिसप्रकार पति के निकट बैठी हुई व्यभिचारिणी स्त्री का चित्त पति में नहीं, किन्तु यार (प्रेमी) में ही होता है; उसीप्रकार भोगों के बीच रहते हुए भी ज्ञानी का चित्त आत्मा में ही रहता है; इसकारण वह कर्मों से नहीं बंधता, निकलंक ही रहता है।

(३) जिसप्रकार धायमाता किसी अन्य के बालक को अपनी गोद में रखकर बड़े ही लाड़-प्यार से दूध पिलाती है, उसका लालन-पालन करती है; फिर भी उसे अपना नहीं मानती, अन्य का ही मानती है; उसीप्रकार ज्ञानीजीव जगत के सभी शुभाशुभ कार्य करते हुए और सभीप्रकार के भोगों को भोगते हुए भी स्वयं को उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानते; इसकारण कर्मों से नहीं बंधते, निकलंक ही रहते हैं।

(४) जिसप्रकार दिनरात कीचड़ में रहनेवाला कमल यद्यपि पंकज (पंक में पैदा होनेवाला) कहा जाता है; तथापि वह पंक (कीचड़) से ऊपर ही रहता है, उसमें लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी जीव दिन-रात भोगों के बीच रहते हैं, इसकारण भोगी कहे जाते हैं; तथापि कर्मों नहीं बंधते, निकलंक ही रहते हैं।

(५) जिसप्रकार मंत्र-तंत्रवादी सर्प के द्वारा काटे जाने पर भी मंत्र-तंत्र की शक्ति से निर्विष ही रहते हैं; उसीप्रकार भोगों के भोक्ता होने पर भी ज्ञानी जीव ज्ञान व वैराग्य के बल से कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होते, निकंलक ही रहते हैं।

(६) जिसप्रकार जिह्वा चिकनाई में डूबी रहने पर भी रूखी ही रहती है; उसीप्रकार ज्ञानी भोगों के बीच में रहने पर भी विरक्त ही रहते हैं; इसकारण बंध को प्राप्त नहीं होते, निकलंक ही रहते हैं।

(७) जिसप्रकार पानी में डूबे रहने पर भी सोने को काई नहीं लगती; उसी प्रकार भोगों के बीच में रहने पर भी ज्ञानी को बंध नहीं होता, वह निकलंक ही रहता है।

इसप्रकार उक्त छन्दों में सात लौकिक उदाहरणों के माध्यम से ज्ञानी को निर्बंध सिद्ध किया गया है। ●

समयसार गाथा १९५-१९६

जिन ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य की चर्चा विगत कलश में की गई है; उन्हीं ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य का स्वरूप आगामी दो गाथाओं में सोदाहरण स्पष्ट किया जारहा है।

ज्ञान और वैराग्य के सामर्थ्य को बतानेवाली वे गाथाएँ इसप्रकार हैं -

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥ १९५॥
जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥ १९६॥

ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं जहर के उपभोग से ।
त्यों ज्ञानिजन बँधते नहीं हैं कर्म के उपभोग से ॥ १९५॥
ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्त जन होते नहीं ।
त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बँधते नहीं ॥ १९६॥

जिसप्रकार वैद्यपुरुष विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानीपुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बंधता नहीं है।

जिसप्रकार कोई पुरुष मदिरा को अरतिभाव (अप्रीति) से पीता हुआ मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग के प्रति अरत वर्तता हुआ बंध को प्राप्त नहीं होता।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''जिसप्रकार कोई विषवैद्य दूसरों के मरण के कारणभूत विष को भोगता (खाता) हुआ भी अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से विष की शक्ति रुक गई होने से मरता नहीं है; उसीप्रकार अज्ञानियों को रागादिभावों के सद्भाव होने से बंध का कारण जो पुद्गल कर्म का उदय उसको भोगता हुआ भी ज्ञानी अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से कर्मोदय की शक्ति रुक गई होने से बंध को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव से प्रवर्तित कोई पुरुष मदिरा पीने पर भी उसके प्रति अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला (मदोन्मत्त) नहीं होता है; उसीप्रकार रागादिभावों के अभाव से सर्वद्रव्यों के उपभोग के प्रति तीव्र वैराग्यभाव से ज्ञानी विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण बंध को प्राप्त नहीं होता है।''

प्रश्न : मूल गाथाओं में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें साफ-साफ कहा गया है कि जिसप्रकार विष को खाते हुए भी वैद्य मरता नहीं है और अरतिभाव से मद्य (शराब) पीने वाले को नशा नहीं चढ़ता; किन्तु यह बात एकदम अटपटी लगती है। अरे भाई ! जहर खाने पर वैद्य कैसे बच सकता है तथा अरतिभाव के कारण शराब का नशा भी कैसे नहीं होगा ? क्या जहर और शराब भी ऐसा पक्षपात कर सकते हैं कि वे किसी पर त्तो असर दिखायें और किसी पर नहीं ?

उत्तर : यह बात आचार्य अमृतचंद्र के ध्यान में भी आई थी। यही कारण है कि उन्होंने आत्मख्याति टीका में स्पष्ट किया कि अमोघ विद्या की सामर्थ्य के कारण विषवैद्य नहीं मरता और पीनेवाले के अरतिभाव के कारण नशा नहीं चढ़ता।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में उक्त उल्लेख के साथ-साथ यह भी लिखा है कि जिसप्रकार कोई पुरुष व्याधि के प्रतिकार के लिये मद्य में मद्य (नशा) की निरोधक औषधि डालकर मद्य पीता है तो रतिभाव के अभाव से उसे नशा नहीं चढ़ता; उसीप्रकार परमात्मतत्त्वज्ञानी के पंचेन्द्रिय के विषयभूत भोजन-पान आदि द्रव्यों के उपभोग होने पर भी जिस-जिस अंश में निर्विकार स्वसंवित्ति शून्य बहिरात्मा जीवों की अपेक्षा रागभाव नहीं करता; उतने-उतने अंशों में कर्मों से नहीं बंधता और जब हर्षोल्लासादिरूप समस्त विकल्पजाल से रहित होकर परमयोग लक्षण भेदविज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग होता है; तब सर्वथा बंध को प्राप्त नहीं होता।

नशा नहीं चढ़ने के सन्दर्भ में गाथाकार और आत्मख्यातिकार तो यही कहते हैं कि अरतिभाव से मद्य पीने पर नशा नहीं चढ़ता; किन्तु तात्पर्यवृतिकार

जयसेन तो साफ-साफ कहते हैं कि नशा निरोधक औषधि मिलाकर शराब पीने पर नशा नहीं चढ़ता। इतना होने पर भी जयसेन को यह तो लिखना ही पड़ा कि नशा अरतिभाव के कारण नहीं चढ़ता है; क्योंकि सिद्धान्त में तो अकेले अरतिभाव को ही घटित किया गया। इसके अतिरिक्त जयसेन ने अबंध के तारतम्य को भी स्पष्ट किया है।

'अरतिभाव से मद्य पीने पर नशा नहीं चढ़ेगा' – इस बात पर भी शंका-आशंकायें की जाती रही हैं। इन्हीं के निवारण के लिए आचार्य जयसेन ने नशानिरोधक औषधि मिलाकर शराब पीने पर नशा नहीं चढ़ने की बात कही है।

उक्त सम्पूर्ण प्रकरण पर स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"देखो, यहाँ कैसा दृष्टान्त दिया है। कहते हैं कि जिसप्रकार वैद्य अपने मंत्र-तंत्र आदि सिद्धियों की सामर्थ्य से विष में रहने वाली मारणशक्ति का नाश करके विष को निर्विष कर देता है; इसकारण वह उस मृत्युकारक शक्ति से हीन विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। इस बात का ऐसा अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए कि विष से कोई भी व्यक्ति मरता ही नहीं है। यह बात केवल उन वैद्यों पर ही लागू पड़ती है, जिन्होंने अपने अनुभव और तजुर्बे से विष को निर्विष कर दिया है।[१]

यहाँ वैद्यों का उदाहरण देकर ज्ञानी की उस चतुराई और सामर्थ्य को दिखाया है, जिसके बल पर वह कर्मोदय की नवीन बंध करने की शक्ति का नाश कर देता है; उससे कर्म के उदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव हो जाने से नवीन कर्मबन्ध नहीं होता।

इस कथन को सुनकर कुछ अज्ञानीजन शंका करते हैं कि ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का कारण कहा है – यह कैसे निरंकुश भोगों की पुष्टि की है, क्या ऐसा कहना उचित है ?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि भाई ! यह कथन जो जिनागम में है, उसकी अपेक्षा समझना चाहिए, अपेक्षा जाने बिना जिनागम में आशंका करना ठीक

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १३१

नहीं है। यहाँ भोगों की छूट देना या पुष्टि करने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो यह कहा गया है कि ज्ञानी को भी भोग का विकल्प आता है; परन्तु उसे भोगों में उपादेयबुद्धि नहीं है, उसकी भोगों में से सुखबुद्धि व हितबुद्धि नष्ट हो गई है। धर्मी-ज्ञानी को राग में रुचि नहीं है, राग में एकत्व नहीं है। उसके भेदज्ञान में ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो जाती है कि जिससे वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का नाश कर देता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को भोगों का भाव नवीन बन्ध किये बिना ही खिर जाता है; जबकि वही कर्मोदय अज्ञानी को भोगों में उपादेयबुद्धि से भोगने के कारण नवीन कर्मबन्ध का कारण बनता है।

देखो भाई! पकड़-पकड़ में फेर है। बिल्ली अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है। दोनों के पकड़ने में कितना फर्क है। बच्चे के पकड़ने में उसकी रक्षा का भाव है, लालन-पालन का भाव है और चूहे को पकड़ने में उसे मारकर खा जाने का भाव है; अतः चूहे को ऐसे जोर से पकड़ती है कि बेचारा चूहा फड़-फड़ाकर तत्काल मर जाता है। इसीप्रकार अज्ञानी की राग में उपादेयबुद्धि है, राग में रुचि है; अतः वह बन्ध करने की शक्ति से युक्त है, इसी से वह कर्मोदय को भोगते हुए बंधता ही है। तथा जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आ गया है, उस धर्मी को राग के स्वाद की रुचि नहीं है; बल्कि उसे तो वह राग जहर जैसा लगता है। यद्यपि ज्ञानी के राग होता है, परन्तु उसे वह राग हेयबुद्धि से होता है। ज्ञानी राग को आदरणीय व कर्त्तव्य नहीं मानता; पर जो राग है, उसे हेय मानता है। इससे कर्मोदय को भोगते हुए भी उसे कर्मबन्ध नहीं होता।[१]

सम्यग्दृष्टि को आत्मा की रुचि प्रगट हो गई है, उसे राग की रुचि नहीं है। कोई सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर या चक्रवर्ती हो तथा गृहस्थदशा में अनेक रानियों के समूह में रहता हो तो भी उसे भोग की अरुचि है। आत्मा के आनन्द के सामने उसे राग-रंग के सभी रस नीरस लगते हैं; इसकारण भोग के परिणाम होते हुए भी उसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता और पूर्व में बंधे कर्मों की निर्जरा होती जाती है। इसीकारण ज्ञानी के भोगों को निर्जरा का हेतु कहा गया है।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १३२

भाई ! भोग का परिणाम है तो पाप-परिणाम ही; परन्तु ज्ञानी को उसमें रुचि नहीं रही; इसकारण वह उन भोगों को रोगवत् जानकर भोगता है, इससे वह नवीन कर्मों का बन्ध करने में समर्थ नहीं है; इसलिए उसे निर्जरा का कारण कहा है। वेदन-वेदन में फर्क होता है। अज्ञानी को राग (भोग) के वेदन में एकत्व की चिकनाहट है तथा ज्ञानी को उसमें भिन्नपने की अरुचिरूप रूखापन है। अज्ञानी अपने उस रागभाव के कारण बन्धन में पड़ता है और ज्ञानी के नवीन बन्ध हुए बिना पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती जाती है।[१]

भाई ! यह हमारे-तुम्हारे मन की बात नहीं है, बल्कि यह आचार्यों का कथन है, भगवान की वाणी है। अतः प्रत्येक कथन की अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर उसका यथार्थ अभिप्राय समझकर अपना समाधान करना चाहिए। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य का प्रतिपादन किया।[२]

अब यहाँ ज्ञान-वैराग्य की सामर्थ्य कहते हैं। वैराग्य से तात्पर्य केवल कपड़े उतार फेंकने या नग्न हो जाने से नहीं है; किन्तु अनादि से जो राग में रक्त था, विषयों में आसक्त था, उनमें ही सुखबुद्धि थी; उन्हें निःसार समझकर उन्हें दुःखस्वरूप, दुःख के कारण मानकर उनसे उदास होना, उनमें से रुचि का टूट जाना ही वैराग्य है। अपनी पूर्ण अस्ति स्वभाव की रुचि होने पर ज्ञानी का राग से विरक्त हो जाना ही यथार्थ वैराग्य है। ऐसे वैराग्य की चर्चा ही प्रस्तुत गाथा में की गई है।

देखो, जिसे मदिरापान में तीव्ररुचि या रतिभाव होता है, वह मदिरा पीकर अवश्य ही पागल की भाँति उन्मत्त हो जाता है तथा जिसको मदिरा के प्रति अत्यन्त अरतिभाव होता है, वह परिस्थिति वश मदिरापान कर भी ले तो उसे नशा नहीं चढ़ता। यह तो दृष्टांत है, यहाँ कहने का मूल प्रयोजन तो यह है कि इसीप्रकार ज्ञानी को स्वरूप के रस की अधिकता होने से विषयकषाय के राग-रंग की रुचि ही नहीं रही, उत्साह ही नहीं रहा, उमंग ही नहीं रही -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १३३-१३४
२. वही, पृष्ठ १३४

इसकारण अरतिभाव से किये गये मदिरापान की भाँति सर्व परद्रव्यों का उपभोग करते हुए ज्ञानी के कर्मबन्ध नहीं होता।[१]''

इसप्रकार इन गाथाओं में सोदाहरण यह बात सिद्ध की गई है कि ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य के कारण भोगों को भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्मबंध नहीं होता।

अब आत्मख्याति में इसी भाव को पुष्ट करनेवाला एवं आगामी गाथा की सूचना देनेवाला कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(रथोद्धता)

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ १३५ ॥

(दोहा)

बंधे न ज्ञानी कर्म से बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥ १३५ ॥

ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी, सेवक होने पर भी असेवक ही है; क्योंकि वह विषयों का सेवन करते हुए भी ज्ञान के वैभव और वैराग्य के बल से विषय सेवन के फल को नहीं भोगता अर्थात् रंजित परिणाम को प्राप्त नहीं होता।

इस कलश का भावार्थ पंडित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार लिखते हैं –

''ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषय-सेवन का फल जो रंजित परिणाम है; उसे ज्ञानी नहीं भोगता – प्राप्त नहीं करता।''

इस भावार्थ में जयचंदजी ने स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानी उक्त रंजित परिणाम को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी अपनी श्रद्धा और ज्ञान के बल से न तो परभोगों का ही कर्त्ता-भोक्ता बनता है और न तत्संबंधी भावों का कर्त्ता-भोक्ता बनता है। वह इन सभी का सहज ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है;

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १३६

कर्मोदय और पर्यायगत योग्यता के अनुसार जो जैसा परिणमन होता है; उसे वैसा ही सहजभाव से जान लेता है, उसमें रंजायमान नहीं होता।

इस कलश का भावानुवाद नाटकसमयसार में इसप्रकार किया गया है –

(सोरठा)

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती ।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विराग की ॥

यह ज्ञानी के शुद्धात्मा के अनुभवरूप ज्ञान और पंचेन्द्रियों के विषयभोगों के प्रति अरुचि रूप वैराग्य की ही महिमा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी यद्यपि पूर्वकर्मोदय के सम्बन्ध के कारण विषय-भोगों को भोगता है; तथापि कर्मों का बंध नहीं करता।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं–

''यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ आत्मज्ञान है, व्यवहार का ज्ञान अथवा शास्त्र का ज्ञान नहीं। यहाँ तो उस आत्मज्ञान की बात है, जो चिदब्रह्मस्वरूप निज परमात्मद्रव्य का लक्ष्य करने से प्रगट हुआ है तथा विरागता का अर्थ है – अशुद्धता से शुद्धता की ओर बढ़ना। अपने अस्तित्व का ज्ञान होना अस्ति है और अशुद्धता से खिसकना – हटना नास्ति है।

यहाँ कहते हैं कि इस ज्ञान-वैराग्य की कोई अचिन्त्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन करनेवाला नहीं कहला सकता; क्योंकि विषयसेवन का फल जो भी रंजित परिणाम है, ज्ञानी उस रंजित परिणाम को नहीं भोगता। रागरूप परिणमना विषयसेवन का फल है और ज्ञानी उस राग के रसरूप परिणमता नहीं है। इसकारण भोगों को भोगते हुए भी वह भोगों का भोक्ता नहीं है।[१]''

जयचंदजी के भावार्थ और स्वामीजी के स्पष्टीकरण से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि विषय-सेवन का फल रंजित परिणाम है और ज्ञानी उस रंजित परिणाम को नहीं भोगते; इसकारण वे न तो कर्मों के कर्त्ता हैं और न भोक्ता। यही कारण है कि उन्हें भोगों को भोगते हुए भी बंध नहीं होता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १४१

समयसार गाथा १९७

अब उक्त १३५ वें कलश में कही गई बात को इस १९७ वीं गाथा के माध्यम से स्पष्ट करते हैं –

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ॥ १९७॥
ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बने ।
त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषयसेवक नहीं बने ॥ १९७॥

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के किसी प्रकरण की चेष्टा होने पर भी वह प्राकरणिक नहीं होता और चेष्टा से रहित व्यक्ति प्राकरणिक होता है; उसीप्रकार कोई व्यक्ति विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवक नहीं होता है और कोई व्यक्ति सेवन नहीं करता हुआ भी सेवक होता है।

इस गाथा में प्रकरणचेष्टा और प्राकरणिक – ये दो शब्द आये हैं। प्रकरणचेष्टा का अर्थ है कोई कार्य और प्राकरणिक का अर्थ है उस कार्य का कर्त्ता। मालिक की आज्ञा से उसके लाभ के लिए सेवक जो कार्य करता है; यद्यपि उस कार्य को करता हुआ तो सेवक ही दिखाई देता है; तथापि उसका असली कर्त्ता सेवक नहीं, मालिक ही होता है। सेवक कार्य करते हुए भी अकर्त्ता है और मालिक कार्य न करते हुए भी कर्त्ता है। इसप्रकार यहाँ वह कार्य प्रकरणचेष्टा है और मालिक प्राकरणिक है।

इस बात को आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उदाहरण के माध्यम से इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीव स्वयं के गुणस्थान के योग्य खानपानादि पंचेन्द्रियों के भोगों का सेवन करते हुए भी उनका सेवक (सेवन करनेवाला) नहीं है और अज्ञानी रागादि के सद्भाव से पंचेन्द्रियों के भोगों को सेवन नहीं करता हुआ भी उनका सेवक (सेवन करनेवाला) है।

अब इसी बात को दृष्टान्त से दृढ करते हैं। कोई व्यक्ति अपने मित्र की शादी में जाकर वहाँ शादी की सभी व्यवस्था को संभालता है; नृत्य-गीत आदि में जमकर भाग लेता है; प्रकरणचेष्टा में संलग्न है; फिर भी स्वामित्वबुद्धि के अभाव के कारण वह शादी उसका कार्य नहीं माना जाता, वह प्राकरणिक नहीं होता; किन्तु जिसकी शादी हो रही है, वह नृत्य-गीतादि एवं व्यवस्था संबंधी कार्यों को नहीं करता हुआ भी तत्संबंधी राग के सद्भाव के कारण शादी का कर्त्ता माना जाता है, प्राकरणिक होता है।

इसीप्रकार परमतत्त्वज्ञानी रागादि का सद्भाव न होने से विषयों का सेवन करने पर भी असेवक है और अज्ञानी जीव रागादि के सद्भाव के कारण विषयों का सेवन नहीं करने पर भी सेवक है।''

इसी बात को पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में उदाहरण देकर इसप्रकार समझाते हैं –

''जैसे किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार खरीदना-बेचना इत्यादि सारा काम-काज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है; क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है; वह तो मात्र नौकर है और सेठ के द्वारा कराये गये सब काम-काज को करता है और जो सेठ है, वह व्यापार सम्बन्धी कोई काम-काज नहीं करता, घर ही बैठा रहता है; तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है।

यह दृष्टान्त सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है; इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है।''

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचंद्र इस गाथा का भाव बिना कोई विशिष्ट उदाहरण दिये सीधी-सादी सरल भाषा में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष उक्त

क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व संचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवक ही है।''

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अज्ञानी भले ही विषय-सामग्री का सेवन नहीं करता हो; तथापि उसे अंतरंग में राग के सद्भाव से विषय की रुचि विद्यमान है। उसके विषयसेवन का अभिप्राय मिटा नहीं है; इसकारण अज्ञानी भोगों का असेवक होते हुए भी सेवक है। ज्ञानी सेवता हुआ भी असेवक है तथा अज्ञानी असेवते हुए भी सेवक है।[१]

तीव्रराग से मंदरागरूप मन:स्थिति का होना वास्तविक वैराग्य नहीं है। जिसमें चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान हो तथा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो; वह दशा ही सच्ची अन्तर वैराग्य की दशा है तथा उसके बल से ही यहाँ ज्ञानी को विषयों का सेवन करते हुए भी उनका असेवक कहा है।

जिसप्रकार नाटक में पुरुष स्त्री का वेष धरकर आता है, तो देखनेवाले तो यही समझते हैं कि यह स्त्री है; पर वह पुरुष तो स्वयं यही मानता है कि मैं स्त्री के वेष में पुरुष ही हूँ, वेष धरने से मैं स्त्री नहीं हो गया। ठीक इसीप्रकार धर्मी जीव का शरीरादि वेष चाहे जैसा भी हो, परन्तु वह मानता तो यही है कि मैं आत्मा हूँ। मैं जहाँ रमता हूँ, वहाँ विषयों का प्रवेश ही नहीं है। इसप्रकार विषयसेवन के फल के स्वामित्व से रहित ज्ञानी विषयों का सेवन करते हुए भी असेवक है।[२]

यहाँ कहते हैं कि जहाँ भगवान आत्मा के आनन्द का भान हुआ, वहाँ सम्पूर्ण दुनिया के प्रति अशुद्धता का त्याग हो जाता है, अभिप्राय में से समस्त

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १४६
२. वही, पृष्ठ १४७

शुभाशुभ भावों का त्याग हो जाता है; वही सच्चा वैराग्य है। ऐसा ज्ञान और वैराग्य जिसे प्रगट हुआ, वह विषयों का सेवक होते हुए भी असेवक है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि भोगों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि भोगों को न भोगते हुए भी भोक्ता है तथा एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि भोगों को भोगता हुआ भी अभोक्ता है।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य कहते हैं –

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा ।
परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
वे आतमा सद्दृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
हो नियम से – यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल ॥ १३६ ॥

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है; क्योंकि वह स्वरूप के ग्रहण और पर के त्याग करने की विधि द्वारा स्वयं के वस्तुत्व (यथार्थ स्वरूप) का अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है और यह पर है' इसप्रकार के भेद को परमार्थ से जानकर स्व में स्थिर होता है और पर से, राग के योग से सम्पूर्णतः विराम लेता है।

तात्पर्य यह है कि स्व और पर का यथार्थ भेद जानकर पर से विरक्त हो स्व में लीन होने वाले सम्यग्दृष्टियों के आत्मज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है।

इस कलश में यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्ज्ञान और भूमिकानुसार वैराग्य अवश्य होता है; क्योंकि श्रद्धागुण के सम्यक् परिणमन

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १४७

के साथ-साथ ही ज्ञान का परिणमन भी सम्यक् हो जाता है और आत्मानुभूतिपूर्वक होनेवाले चतुर्थ गुणस्थान में ही अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव हो जाने से तत्संबंधी राग-द्वेष का भी अभाव हो जाता है; इसकारण तत्संबंधी वैराग्य भी हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य शक्ति नियम से होती ही है।

कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया तेईसा)

सम्यकवंत सदा उर अंतर, ग्यान विराग उभै गुन धारै ।
जासु प्रभाव लखे निज लच्छन, जीव अजीव दसा निरवारै ॥
आतम कौ अनुभौ करि ह्वै थिर, आप तरै अर औरनि तारै ।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म, सु कर्म-उपाधि विथा वमि डारै ॥

सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपने अंतर में ज्ञान और वैराग्य – इन दो गुणों को धारण किये रहते हैं। उनके प्रभाव से वे निज आत्मा की पहिचान करते हैं, निज आत्मा का अनुभव करते हैं और जीव और अजीव के बीच भेदविज्ञान करते हैं, जीवादि तत्त्वों का सही स्वरूप जानते हैं तथा आत्मानुभूति पूर्वक स्वयं स्थिर होकर संसार समुद्र से स्वयं पार हो जाते हैं और अन्य जीवों के तरने में निमित्त बनते हैं; स्वद्रव्यरूप निज भगवान आत्मा की साधना करके मुक्ति के परमानन्द को प्राप्त करते हैं और कर्मोपाधि से प्राप्त व्यथा का वमन कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि संसार दुख से पूर्ण मुक्त हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो आत्मानुभूति के काल में एक साथ प्रगट होते ही हैं; मिथ्यात्व के साथ ही अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का अभाव हो जाने से चारित्र का अंश भी प्रगट हो जाता है, जिसे स्वरूपाचरण या सम्यक्त्वाचरणचारित्र कहते हैं। अत: स्पष्ट ही है कि सम्यग्दर्शन अकेला नहीं होता, उसके साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी होता ही है। इसी बात को इस कलश में इस रूप में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य शक्ति नियम से होती है। ●

समयसार गाथा १९८ से २००

अब आगामी (१९८ से २००) तीन गाथाओं में यह बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को सामान्यरूप से और विशेषरूप से परभावों से भिन्न जानता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न किसप्रकार होता है ?

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को ॥ १९८॥

पोग्गलकम्मं रागो तस्य विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्ज भावो जाणगभावो हु अहमेक्को ॥ १९९॥

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो ॥ २००॥

उदय कर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहे ।
किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९८॥

पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं ।
किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९९॥

इसतरह ज्ञानी जानते ज्ञायकस्वाभावी आतमा ।
कर्मोदयों को छोड़ते निजतत्त्व को पहिचान कर ॥ २००॥

जिनेन्द्र भगवान ने कर्मों के उदय का विपाक (फल) अनेकप्रकार का कहा है; किन्तु वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय मेरा भाव नहीं है; क्योंकि मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्व (वस्तु के वास्तविक स्वरूप) को जानता हुआ कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है।

"कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए ये अनेकप्रकार के भाव और रागनामक पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न ये राग भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं; क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

राग के स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पद रखकर सोलह सूत्र बनाकर व्याख्यान करना चाहिए। इसीप्रकार और भी अनेक सूत्र बनाये जा सकते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि १९८वीं गाथा में सामान्यतया और १९९वीं गाथा में विशेषतया बताये गये परभावस्वरूप सब भावों से स्वयं को भिन्न जानकर टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व को भली-भाँति जानता है।

इसप्रकार तत्त्व को जानता हुआ तथा स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (प्रसिद्ध) करता हुआ वह सम्यग्दृष्टि कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुये समस्त भावों को छोड़ता है; इसलिए वह नियम से ज्ञान-वैराग्य संपन्न होता है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब आत्मा समस्त परभावों एवं रागादिभावों से अपने आत्मा को सामान्यरूप से और विशेषरूप से भिन्न जान लेगा; तब वह नियम से ज्ञानरूप रहेगा और वैराग्य से सम्पन्न होगा। यह बात अनुभव से भी पुष्ट होती है और यही सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का चिन्ह भी है।

प्रश्न : यहाँ 'सामान्यतया' और 'विशेषतया' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनका क्या आशय है ?

उत्तर : तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं के उपरान्त एक गाथा आती है, जो आत्मख्याति में समागत १९८वीं गाथा के समान ही है। उसकी टीका में आचार्य जयसेन सामान्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि **'विविक्षा के अभाव को सामान्य कहते हैं** – ऐसा आगम का वचन है।'

इसी को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं कि **मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ इत्यादि विशेष की विविक्षा जहाँ नहीं हो, उसे सामान्य कहते हैं।**

तात्पर्य यह है कि जब किसी परपदार्थ या रागादिभाव के नामोल्लेख पूर्वक त्याग की या अभाव की बात करते हैं तो वह विशेषतया कहा जाता है और जब किसी विशेष परपदार्थ या विशेष रागादि का उल्लेख न कर पर से या रागादि से आत्मा की भिन्नता सामान्यरूप से बताई जाती है तो उसे सामान्यतया कहते हैं।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''देखो, यह सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, जिसे पुण्य-पाप के भाव से भेद करके अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान हो गया है। वह सामान्यरूप से समग्र विकार को तथा विशेषरूप से परभावस्वरूप राग-द्वेषादि के एक-एक भेद को छोड़ देता है। चाहे पुण्यभाव हो या पापभाव हो – दोनों ही विकार हैं, विभाव हैं, परभाव हैं। ज्ञानी उन समस्त परभावों को छोड़ता हुआ ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा को उपादेयरूप से ग्रहण करता है।

वह ऐसा विचार करता है कि 'मैं तो पुण्य के विकल्प से भी भिन्न टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्त्व हूँ।' आत्मा का तत्त्व, निजसत्त्व एक ज्ञायकस्वभाव है। दया, दान आदि राग के, पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा का सत्त्व नहीं है। ये सब तो परभाव हैं। ज्ञानी सर्व परभावों से भिन्न होकर ज्ञायकस्वभावी निज चैतन्यतत्त्व का अनुभव करते हैं।

प्रश्न : पर, इसमें आत्मा को करने के लिए क्या रहा ?

उत्तर : आत्मा जो कर सकता है, वह सब काम करने की बात इसमें आ गई। देखो, पुण्य-पाप से भेद करना, शुद्ध चैतन्यमय ज्ञायकस्वभावी आनन्दस्वरूप निजभगवान आत्मा का अनुभव करना, उसी में लीन हो जाना;- ये ही आत्मा के असली काम हैं। इनके सिवाय पर में कुछ फेर-फार करना आत्मा का कार्य नहीं है।

भाई ! जगत का ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र उसे जानना और अपने स्वरूप में रमना ही आत्मा का कार्य है। पर में कुछ पलटा-पलटी करना आत्मा का

कार्य नहीं है। जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि करने के शुभभाव हैं, वे सब रागभाव हैं। उनसे पुण्यबंध भले हो, पर धर्म नहीं होता। धर्म तो एकमात्र वीतरागभाव है और वह आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।[१]

'स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग' बस इन दो में जिनागम के सम्पूर्ण सिद्धान्त समाहित हो जाते हैं। इनमें से ज्ञानी अपने ज्ञानानन्दस्वभावी शुद्ध ज्ञायकभाव को 'स्व' जानता है, उपादेय मानता है और अजीव को भिन्न – उपेक्षा योग्य जानता है। पुण्य, पाप, आस्रव व बन्ध को अहितकारी हेय जानता है तथा संवर, निर्जरा व मोक्ष को भला – सुखदायक – प्रगट करने योग्य जानता है।

यहाँ ऐसा कहा है कि पुण्य, पाप, आस्रव व बंध भाव वस्तुतः अजीवतत्त्व हैं और चिदानंदमय ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा जीवतत्त्व है। इसप्रकार आत्मा को राग व आस्रव से भिन्न करके ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करना उसे ही ग्रहण करना वस्तुतः धर्म है तथा इसी का नाम स्वभाव का ग्रहण व परभाव का त्याग है।

ज्ञानी स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग द्वारा अपने वस्तुत्व का विस्तार करता है। यहाँ वस्तुत्व का अर्थ है, आत्मा का चिदानन्द स्वभाव-ज्ञायकस्वभाव। ज्ञानी अपनी पर्याय में अपने विज्ञानघन स्वभाव को प्रसारित करता है, दृढ़ करता है, स्थिर करता है और वीतरागता को वृद्धिगंत करता है।[२]

शुद्धचैतन्यबिम्ब पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का जानना-अनुभवना ज्ञान है तथा राग का त्याग करना वैराग्य है। ये ज्ञान और वैराग्य की दोनों ही शक्तियाँ धर्मी जीवों के होती है। धर्मी जीव अपने ध्रुव ज्ञायकस्वभावी वीतरागस्वभावी आत्मा का ग्रहण करता है और अपने वस्तुत्व को – ज्ञानानन्दस्वभाव को विस्तारता है तथा राग का अभाव करता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से सम्पन्न होता है।[३]''

उक्त तीनों गाथाओं में आरंभ की दो गाथाओं में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति से कुछ अन्तर पाया जाता है। तात्पर्यवृत्ति में पाई जानेवाली वे गाथाएँ इसप्रकार हैं –

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १६७-१६८
२. वही, पृष्ठ १६८
३. वही, पृष्ठ १६९

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥
कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो ।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ॥

यह क्रोध पुद्गलकर्म है। उसके विपाक का उदय मेरा भाव नहीं है; मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।

यह विविध कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम तेरा स्वभाव कैसे नहीं है ?

परद्रव्य के उदय में उत्पन्न होनेवाले अज्ञानभाव और शरीरादि मेरा स्वभाव नहीं है।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं की जो व्याख्या की है; उसका भाव इसप्रकार है –

''जीव में पूर्वबद्ध पुद्गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध के विशेष विपाक से आत्मा में होनेवाला एवं आत्मतत्त्व से भिन्न अक्षमा भावरूप जो भावक्रोध है; वह मेरा स्वभाव नहीं है; क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण परमानन्दमय एक ज्ञायकभावरूप हूँ।

शंका – पुद्गलकर्मरूप क्रोध कहाँ है; क्योंकि क्रोध तो भावरूप ही दिखाई देता है ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि पुद्गलपिण्डरूप द्रव्यक्रोध है और उसके उदय में जो अक्षमारूप भाव होता है, वह भावक्रोध है। इसप्रकार का व्याख्यान पहले भी किया जा चुका है।

शंका – कहाँ

समाधान – **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि में ।

यहाँ क्रोध के स्थान पर मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन रखकर सोलह सूत्र बना लेना चाहिए। इसीप्रकार अन्य भी असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणामों के सूत्र बनाये जा सकते हैं। ये सभी विभावभाव त्याग करने योग्य हैं।

विविध कर्मोदयों के फल तेरा स्वरूप कैसे नहीं हैं – ऐसा किसी के पूंछे जाने पर उत्तर दिया जाता है कि निर्विकार परम आल्हाद है लक्षण जिसका, ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न, परन्तु जीव में संलग्न परद्रव्यरूप कर्मों के उदय के समय स्फटिक की पर उपाधिवाले भाव के समान जो क्रोधादिभाव हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं है; इतना ही नहीं है, अपितु देह भी मेरा स्वरूप नहीं है – यह स्पष्ट है; क्योंकि ये जड़स्वरूप हैं, अचेतन हैं, अज्ञानी हैं और मैं अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप हूँ।''

आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति के इस अन्तर का मंथन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनके अन्तरंग में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है; क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों में निजभगवान आत्मा को देहादि और रागादि से भिन्न एक ज्ञानानन्दस्वाभावी बताया गया है, अनन्तगुणस्वरूप बताया गया है।

इन गाथाओं के आधार पर सोलह या अन्य अनेक गाथायें बनाने की विधि ३२ एवं ३३वीं तथा ३६ वीं गाथा के अनुशीलन में विस्तार से स्पष्ट कर आये हैं। अतः यहाँ कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इन गाथाओं के उपरान्त तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा आती है, जो आत्मख्याति की १९८ वीं गाथा के समान ही है। इसकी चर्चा पहले हो ही चुकी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि १९८ से २०० तक की उक्त तीन गाथाओं में यह सतर्क सिद्ध किया गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य नियम से होता है। यद्यपि वह बाहर से भोगों में लिप्त दिखाई देता है; तथापि अंतरंग में वह भोगों से विरक्त ही रहता है।

ज्ञानी धर्मात्माओं की इस विचित्र परिणति का चित्रण जिनागम में अनेक स्थानों पर बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है।

इस दृष्टि से कविवर पण्डित दौलतरामजी का निम्नांकित पद दृष्टव्य है –

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी ॥ टेक॥
बाहिर नारकिकृत दुःख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी ।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परणति तैं नित हटाहटी ॥
चिन्मूरत दृग्धारी की ..... ॥१॥

ज्ञान-विराग शक्ति तैं विधि-फल, भोगत पै विधि घटाघटी ।
सदन-निवासी तदपि उदासी तातैं आस्रव छटाछटी ॥
चिन्मूरत दृग्धारी की ····॥ २॥
जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी ।
नारक पशु तिय षंड् विकलत्रय, प्रकृतिन की है कटाकटी ॥
चिन्मूरत दृग्धारी की ····॥ ३॥
संयम धर न सकै पै संयम, धारन की उर चटाचटी ।
तासु सुयश गुन की 'दौलत' के, लगी रहै नित रटारटी ॥
चिन्मूरत दृग्धारी की ····॥ ४॥

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं की रीति-नीति और जीवनचर्या मुझे बहुत ही अटपटी (आश्चर्य भरी) लगती है; क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि पूर्वबद्धकर्मों के उदयानुसार यदि सम्यग्दृष्टि नरक में भी हो तो भी बाह्य में नरक में होनेवाले या नारकियों द्वारा दिये जाने वाले दुखों को भोगते हुये भी वे अन्तर में समतारूपी रस का पान किया करते हैं। यदि पूर्व पुण्योदयानुसार स्वर्ग में होवें और अनेक देवांगनाओं के साथ रमण करते हुए भी दिखाई दें तो भी अंतरंग में उक्त परिणति से उनका चित्त दूर ही रहता है।

यद्यपि उन्हें भी पूर्वकृत कर्मों का अच्छा-बुरा फल कर्मों के उदयानुसार भोगना पड़ता है; तथापि अपनी ज्ञान-वैराग्य शक्ति से वे कर्मों की निर्जरा ही करते जाते हैं। यद्यपि वे घर में रहते हैं, तथापि वे घर में रमते नहीं हैं; उससे उदास ही रहते हैं; इसकारण वे आस्रव भावों का अभाव ही करते जाते हैं।

जो आस्रव भाव अज्ञानी के लिए संसार का कारण हैं; उनके बंध को ज्ञानीजन घरमें रहकर भी झटकारते जाते हैं, काटते जाते हैं; नरक, पशु, स्त्री, नपुंसक एवं विकलत्रय (दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक की पर्यायें) पर्यायों में पहुँचानेवाली कर्मप्रकृतियों को वे बाँधते नहीं है, काटते जाते हैं।

यद्यपि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव देशसंयम या सकलसंयम धारण करने में समर्थ नहीं है; तथापि संयम को धारण करने की चटापटी (तीव्र अभिलाषा) उन्हें सदा ही बनी रहती है।

कविवर दौलतरामजी कहते हैं कि मैं अधिक क्या कहूँ? मेरे हृदय में तो उन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओं के गुणों और सुयश की रटारटी निरन्तर लगी ही रहती है। तात्पर्य यह है कि उनके गुणों की महिमा बताने की, उनका यशोगान करने की भावना मेरे हृदय में सदा विद्यमान रहती है, मैं तो उनके गुण निरंतर गाया ही करता हूँ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों का सामर्थ्य बताने के बाद अब आचार्यदेव उनकी चर्चा करेंगे, जो सम्यग्दृष्टि तो नहीं हैं; किन्तु स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्द हो गये हैं। अनर्गल आचारण करते हुए भी स्वयं को सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मानने लगे हैं या थोड़ा बहुत धर्माचरण पालकर अपने को महान मानने लगे हैं।

इन गाथाओं के उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में एक कलश लिखते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि जो जीव परद्रव्यों में आशक्त हों, आकण्ठ डूबे हों या आत्मा को समझे बिना ही महाव्रतधारी बन गये हों; समितियों का पालन करने लगे हों और स्वयं को सम्यग्दृष्टि मान बैठे हों; वे सभी अज्ञानी ही हैं, मिथ्यादृष्टि ही हैं और उनकी यह मान्यता एकदम गलत है; क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के अनर्गल प्रवृत्ति तो होती ही नहीं है; साथ ही सम्यग्दर्शन के बिना सच्चे अणुव्रत-महाव्रत भी नहीं होते, सच्ची समितियाँ भी नहीं होती।

कलश मूलतः इसप्रकार है –

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ॥
आलंबंता समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा ।
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७॥

(हरिगीत)

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित सदा ।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा ॥
जो समिति आलंबें महाव्रत आचरें पर पापमय ।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥ १३७॥

'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बंध नहीं होता; क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता' – ऐसा मानकर जिनका मुख ऊँचा और पुलकित हो रहा है – ऐसे रागी (मिथ्यात्वसहित रागवाले) जीव भले ही महाव्रतादि का आचारण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलंबन करे; तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं।

स्थिति यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यग्ज्ञान तो होता ही है, अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव के कारण तत्संबंधी रागभाव का भी अभाव होता है। अत: सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न कहा गया है, फिर भी उसके अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदयानुसार रागभाव पाया जाता है और तदनुसार भोगों में प्रवृत्ति भी देखी जाती है। वह प्रवृति चक्रवर्तियों जैसी भी हो सकती है।

यह तो आप जानते ही हैं कि चक्रवर्ती की पट्टरानी को मासिकधर्म नहीं होता; उसके कोई सन्तान भी नहीं होती। इसकारण चक्रवर्ती के भोग निरन्तराय होते हैं। यदि पट्टरानी मासिकधर्म से हो या उसके सन्तान हो तो चक्रवर्ती के भोगों में अंतराय होने की संभावना बनी रहती है। युद्धादि में भी वे प्रवृत्त होते ही हैं। ऐसे होने पर भी सम्यग्दर्शन होने के कारण उनका उन भोगों में और रागादि भावों में एकत्व-ममत्व नहीं होता, कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं होता; इसकारण उनके भोगों को निर्जरा का कारण कहा जाता है।

इस बात का आधार लेकर कोई मूढ़जीव आत्मानुभूति के बिना ही अपने को सम्यग्दृष्टि मान ले और 'सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं होता' शास्त्र के इसवचन के आधार पर यह मानकर कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ; अत: मुझे तो बंध हो ही नहीं सकता; इसलिए मुझे विषयभोगों से विरक्त होने की क्या आवश्यकता है – ऐसी विपरीत मान्यता के कारण भोगों में लिप्त रहे, अनर्गल प्रवृत्ति करे अथवा 'आत्मानुभव के बिना ही, सम्यग्दर्शन के बिना ही बाह्य भोगों के त्याग देने मात्र से धर्म हो जाता है' – ऐसा मानकर भोगों को त्याग कर महाव्रतों का

कठोरतापूर्वक आचरण करे, समितियों का आलम्बन करे- इन दोनों ही स्थितियों में वह पापी ही है, मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भोगों में अनर्गलप्रवृत्ति करने वालों को आप भले ही पापी कहें; पर महाव्रतों के पालन करने वालों को, समितियों का आचारण करने वालों को पापी क्यों कहते हो ?

उत्तर यह है कि पर में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है और यह सबसे बड़ा पाप दोनों के ही सदा एक सा ही विद्यमान रहता है; इसलिए वे दोनों ही समान रूप से पापी हैं। यही बात इस कलश में कही गई है।

इस कलश में जो बात कही गई है, वह जगत के गले आसानी से नहीं उतरती; क्योंकि जगत को यह बात बहुत ही अटपटी लगती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इस कथन का जो असली भाव है, वह उनके ख्याल में नहीं आता। यही कारण है कि पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में उक्त कलश के भाव को विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है -

"परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यक्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे; तथापि स्वपर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है।

जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वछन्द प्रवृत्ति करता है, वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा ? क्योंकि जबतक यथाख्यातचारित्र न हो तबतक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है और जबतक राग रहता है, तबतक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञान के होने मात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप चारित्र से बन्ध कट जाते हैं। इसलिये राग होने पर भी 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि - 'व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है ?'

उसका समाधान यह है - सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जबतक मिथ्यात्व रहता है, तबतक शुभाशुभरूप सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थत: पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि - परद्रव्य में जबतक राग रहे, तबतक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझ में नहीं आई। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?

उसका समाधान यह है - यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भाव में आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्वपर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है, भेदविज्ञान नहीं है - ऐसा समझना चाहिए।

जो जीव मुनिपद लेकर व्रत-समिति का पालन करे; तथापि जबतक परजीवों की रक्षा तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है और परजीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभ भावों से ही अपना बन्ध होना मानता है, तबतक यह जानना चाहिए कि उसे स्वपर का ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्य से ही भला-बुरा मानकर रागद्वेष करता है, तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जबतक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है; तबतक सम्यग्दृष्टि जीव रागादि में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्यसम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है, उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता

है कि – यह कर्म का जोर है, उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिये रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है; तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है, उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है। अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है।

इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिए।

यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा; इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो, वह सम्यक्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है।

पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है – व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है।

यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व ही प्राप्ति होती है – वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है।''

यद्यपि जयचंदजी के भावार्थ में सबकुछ स्पष्ट हो गया है; तथापि ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर स्वामीजी के विचार जाने बिना भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इस संदर्भ में उनके विचारों का सार यह है –

''भगवान आत्मा सदैव रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप -वीतरागस्वरूप ही है। ऐसे चिदानन्दघन भगवान आत्मा को जिसने अपनी श्रद्धा में उपादेय-आदरणीय माना, उसकी परणति में निराकुल आनन्दमय वीतरागता आती ही है। तथा जो ऐसे आत्मा को न जानकर राग को आदरणीय मान बैठा है, वह भले ही बाह्य से महाव्रतादि का पालन करे तो भी वह मिथ्यादृष्टि ही है। बात सुनने में कठोर है; परन्तु क्या करें, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

देखो, कलश में 'पापा' शब्द पड़ा है। भाई ! मिथ्यात्व का पाप ही सबसे बड़ा पाप है और उसकी अपेक्षा ही यहाँ मिथ्यादृष्टि को पापी कहा है। यद्यपि वे बाह्य द्रव्यहिंसा-झूठ आदि पापाचरण नहीं करते; तथापि मिथ्यात्व के वश रागादि में उपादेय बुद्धिरूप भावहिंसा तो होती ही रहती है और मिथ्यात्व का परिणाम स्वयं अपने आप में बहुत बड़ा पाप है; अतः वह पापी ही है।[१]

आचार्य अमृतचंद्र ने भी यही कहा है कि जो राग को भला जानकर आचरण करता है और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। समकिती तो राग से विरक्त होने की भावनावाला है; अतः वह तो राग को रोगवत् ही मानता है।

अब कहते हैं कि समकिती विषय-वासना की पीड़ा नहीं सह सकता, इससे उसका उपचार करने के रूप में इन्द्रिय भोगों में प्रवर्तता है; परन्तु उसे उस भोग सामग्री में उपादेय बुद्धि नहीं है; अनुराग, रुचि या प्रीति नहीं है; वह तो उसे रोग जानता है। जैसे कोई काला नाग देखकर भागता है; उसीतरह ज्ञानी भोगादिभावों से दूर भागना चाहता है। वह उन भावों के नाश का ही उपाय करता है। वह तो अशुभराग की भाँति शुभराग को भी मिटाने का ही उपाय करता है। वह शुभ परिणाम को अशुभ का नाश करनेवाला न मानकर अपने निर्मल ज्ञानमय वीतरागी परिणाम से ही सर्व राग को नाश करने में विश्वास रखता है। अज्ञानी को जैसा विषय-भोगों में मजा आता है; उसीतरह ज्ञानी को विषय-भोगों में या शुभभावों में मजा नहीं आता। वह तो सम्पूर्ण राग को ही मिटाने का उपाय करता है। तथा शुद्धचैतन्य के आश्रय से क्रमशः सम्पूर्ण राग का अभाव करता जाता है। इसलिए कहा गया है सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है।

इसप्रकार परमार्थदृष्टि से – अध्यात्मदृष्टि से यह कथन समझना चाहिए।

अब कहते हैं कि मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा गया है। भगवान आत्मा त्रिकाल वीतरागस्वरूप है; परन्तु जिसकी रुचि में ऐसे वीतरागस्वरूप आत्मा का पोषण नहीं है और राग व परद्रव्य का पोषण है, जो राग को भला मानता है; वह मिथ्यादृष्टि है, उस राग को ही यहाँ राग कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १७४-१७५

जिसे ज्ञानानन्दस्वरूपी ज्ञायकस्वरूपी भगवान आत्मा का आश्रय-आलम्बन नहीं हैं; मात्र एकान्तत: राग का ही आलम्बन है; वह भले ही व्रत पाले, तपश्चर्या करे, मुनि के 28 मूलगुणों का पालन करे तो भी मिथ्यादृष्टि ही है।

भाई ! यह तो भव के अभाव की बात है। जिस भाव से भव मिलता है, वह आत्मा का भाव नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा भव व भव के कारणों के अभावस्वरूप है। इससे यहाँ कहा है कि मिथ्यात्व सहित जो अनन्तानुबंधी राग है, उसे ही यहाँ राग कहा है। ज्ञानी को राग तो होता है, पर राग के प्रति अनुराग नहीं होता। मिथ्यात्व दशा में राग की रुचि सहित जो राग होता है, उसे ही यहाँ राग कहा गया है; क्योंकि वह दीर्घसंसार का कारण है।

समकिती को चारित्रमोह सम्बंधी जो किंचित् राग होता है; उसे यहाँ राग की गिनती में नहीं गिना गया है। किंचित् का अर्थ भी जानने जैसा है। ९६ हजार स्त्रियों के विषयवासना वाले राग को भी आचार्य किंचित् राग कह रहे हैं। उसका कारण यह है कि ज्ञानी के राग तो है, पर उस राग में आसक्ति नहीं है; इसकारण उस राग के फल में अल्प स्थिति व अल्प अनुभाग पड़ता है। बस, इसीकारण उसे राग नहीं गिना जाता।[१]

जिसे त्रिकाली नित्यानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि हो गई; उसे निमित्त, राग व एक समय की पर्याय की दृष्टि नहीं रहती। इसलिए उसके स्वरूप का ज्ञान व राग के अभाव रूप वैराग्य अवश्य होता है। देखो, समकिती छहखण्ड के राज्य के वैभव में रह रहा हो तो भी उसे ज्ञान व वैराग्य निरन्तर एक ही साथ होता ही है।[२]

मिथ्यादृष्टि का प्रथम तो अध्यात्मशास्त्रों में प्रवेश ही नहीं है तथा यदि प्रवेश करे भी तो उल्टा ही अर्थ ग्रहण करता है। या तो व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट हो जाता है अथवा निश्चय के स्वरूप को भलेप्रकार न समझ पाने से व्यवहार से ही मोक्षमार्ग मानकर क्रियाकाण्ड में अटक जाता है। परमार्थतत्त्व से तो वह अनजान ही रह जाता है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १८२-१८३
२. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १८३-१८४
३. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १८४

यद्यपि स्याद्वाद शैली से सत्यार्थ को समझनेवाले जीव विरले ही होते हैं; परन्तु जो कोई यथार्थ स्याद्वाद न्याय से सत्यार्थ समझ ले, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है।

यहाँ 'स्याद्वाद न्याय को समझनेवाले विरले ही होते हैं' – यह कहकर निराश नहीं किया; बल्कि अपने को उन अज्ञानियों की ओर से निश्चिन्त किया है; जो न तो समझते हैं और न समझना चाहते हैं., फिर भी हम उन्हें समझाने का असफल प्रयास करते हैं। अतः इस चिन्ता से मुक्त होकर स्वरूप में सावधान रहना ही श्रेष्ठ है।[१]''

आचार्य अमृतचंद्र, पण्डित जयचंदजी छाबड़ा और स्वामीजी के विचार जानने के बाद अब इस कलश में कुछ भी ऐसा नहीं रहता; जिसका भाव स्पष्ट न हुआ हो; तथापि ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकरण में कविवर पंडित बनारसीदासजी के भावों को जाने बिना आगे बढ़ना संभव नहीं है।

बनारसीदासजी इस छन्द के भाव को एक छन्द में समेटने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। यही कारण है कि उन्होंने इस छन्द के भाव को व्यक्त करने के लिए चार छन्द लिखे हैं, जो इसप्रकार हैं –

(सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत, सम्यकग्यान कला नहिं जागी ।
आतम अंग अबंध विचारत, धारत संग कहैं हम त्यागी ॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर, अंतर मोहमहानल दागी ।
सुन्न हिये करतूति करै पर, सौ सठ जीव न होय विरागी ॥
ग्रंथ रचै चरचै सुभ पंथ, लखै जग मैं विवहार सुपत्ता ।
साधि संतोष अराधि निरंजन, देह सुसीख न लेइ अदत्ता ॥
नंग धरंग फिरै तजि संग, छकै सरवंग मुधारस मत्ता ।
ए करतूति करै सठ पै, समुझै न अनातम-आतम सत्ता ॥
ध्यान धरै करै इंद्रिय-निग्रह, विग्रह सौं न गनै निज नत्ता ।
त्यागि विभूति विभूति मढ़ै तन, जोग गहै भवभोग-विरत्ता ॥
मौन रहै लहि मंदकषाय, सहै बध बंधन होइ न तत्ता ।
ए करतूति करै सठ पै, समुझै न अनातम-आतम-सत्ता ॥

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १८५

(चौपाई)

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै, जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै ।
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढनि मैं मुखिया ॥

आत्मानुभवरूप सम्यग्ज्ञान की कला के जागृत हुए बिना स्वयं को सम्यग्दृष्टि माननेवाले लोग अपने आत्मा को अबंध मानकर परिग्रह में लिप्त रहते हुए भी स्वयं को त्यागी कहने लगते हैं; अन्तर में मोह की भयंकर आग प्रज्ज्वलित रहने पर भी मुनिराजों के समान भेष धारण कर लेते हैं; आत्मज्ञान से शून्य हृदयवाले वे अज्ञानी जीव क्रियाकाण्ड तो करते हैं, पर अन्तर से वैरागी नहीं होते।

ऐसे लोग ग्रन्थों की रचना करते हैं, शुभमार्ग की चर्चा करते हैं, व्यवहारधर्म को जानते हैं, संतोष को साधते हैं, निरंजन भगवान की आराधना करते हैं, अच्छा उपदेश देते हैं, बिना दिये कुछ भी नहीं लेते, परिग्रह त्याग कर नग्न वेष धारण करके विहार करते हैं; किन्तु अज्ञानता के रस में मदोन्मत्त सर्वांग छके रहते हैं। ऐसे अज्ञानी जीव आत्मा और अनात्मा की सत्ता तो समझते नहीं हैं और क्रियाकाण्ड में लगे रहते हैं।

ऐसे लोग ध्यान करते हैं, इन्द्रियों का निग्रह करते हैं और शरीर से कोई नाता नहीं रखते; विभूति को त्याग कर शरीर को भस्म से मढ़ लेते हैं, सांसारिक भोगों को त्याग कर जोग (साधुपद) को धारण कर लेते हैं; मौन लेकर मंदकषाय धारण करते हैं; संसार के वध-बंधन को सहन करते हुए भी क्रोधित नहीं होते। इतना सबकुछ करने पर भी आत्मा और अनात्मा की सत्ता को नहीं पहिचानते, उनमें परस्पर क्या अन्तर है - यह नहीं जानते ।

अधिक क्या कहें, जो व्यक्ति आत्मज्ञान बिना क्रियाकाण्ड में उलझ जाते हैं या फिर बिना क्रिया (सम्यक्चरित्र) के ही मोक्ष की कामना करते हैं अथवा यह कहने लगते हैं कि हम तो बिना मोक्ष के यहाँ संसार में ही सुखी हैं - ऐसे सभी जीव मूर्खों के सरदार हैं, महामूर्ख हैं।

तात्पर्य यह है कि वे सभी महामूर्ख हैं, जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र धारण करना चाहते हैं; सम्यक्चारित्र के बिना ही मोक्षपद चाहते हैं और बिना मुक्ति प्राप्त किये ही स्वयं को सुखी मान लेते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता है। मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की पूर्णता होने पर ही होती है और अनन्तसुख की प्राप्ति मोक्ष की प्राप्ति होने पर ही होती है।

उक्त सम्पूर्ण कथन के आलोक में जब हम आज की स्थिति पर निगाह डालते हैं, आज की स्थिति का विहंगावलोकन करते हैं तो ऐसा लगता है कि स्थिति में कुछ भी सुधार नहीं हुआ है; अपितु शोचनीय स्तर तक बिगाड़ हुआ है। होना ही था; क्योंकि यह अवसर्पिणीकाल चल रहा है न? – यह विचार कर ही संतोष धारण करना होगा; क्योंकि स्थिति इतनी भयावह है कि कुछ लिखना या कहना संभव नहीं है, कछुये की भाँति हाथ पैर समेटकर स्वयं में ही समा जाने में सार है। ●

विनय और विवेक

विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है, पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य हैं, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए; अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्वविवेक से ही सम्भव है, क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा और सर्वत्र सम्भव नहीं। परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकतीं; क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है।

– आप कुछ भी कहो, पृष्ठ २५

समयसार गाथा २०१-२०२

अब आगामी गाथाओं में यह बताते हैं कि आत्मा और अनात्मा को नहीं जाननेवाला रागी जीव सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ?

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥ २०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२॥

अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के ।
वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को ॥ २०१॥
जो न जाने जीव को वे अजीव भी जाने नहीं ।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जाने नहीं ? ॥ २०२॥

जिनजीवों के परमाणुमात्र (लेशमात्र) भी रागादि वर्तते हैं, वे जीव समस्त आगम के पाठी होकर भी आत्मा को नहीं जानते।

आत्मा को नहीं जाननेवाले वे लोग अनात्मा को भी नहीं जानते। इसप्रकार जो जीव जीव और अजीव (आत्मा और अनात्मा) दोनों को ही नहीं जानते; वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

यहाँ 'परमाणुमात्र राग' और 'सर्व आगमधर' – ये दोनों पद विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि एक बात तो यह है कि सम्पूर्ण आगम को जाननेवाला आत्मा को नहीं जाने – यह कैसे हो सकता है ? द्वादशांग के पाठी तो सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी ही होते हैं। दूसरे राग का अंश तो दशवें गुणस्थान तक रहता है; तो क्या दशवें गुणस्थान तक भी आत्मज्ञान नहीं होता ? आत्मज्ञान तो चतुर्थगुणस्थान में ही हो जाता है। ऐसे स्थिति में उक्त पदों का अर्थ कुछ विशिष्ट होना चाहिए; तदर्थ स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचंद्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसके अज्ञानमय रागादिभावों का लेशमात्र भी सद्भाव है; वह भले ही श्रुतकेवलीकल्प अर्थात् श्रुतकेवली के समान हो, तो भी ज्ञानमयभावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता और जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा को भी नहीं जानता; क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता – इन दोनों के द्वारा ही एक वस्तु का निश्चय होता है।

इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता; वह जीव और अजीव को नहीं जानता तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिए रागीजीव ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।''

देखो, यहाँ 'परमाणुमात्र राग' का अर्थ अज्ञानमय रागादिभावों का लेशमात्र किया है; जिसका आशय यह है कि मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के साथ होने वाले रागादिभावों का लेशमात्र भी हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसीप्रकार 'सर्व आगमधर' का अर्थ श्रुतकेवली न करके श्रुतकेवलीकल्प किया है; क्योंकि श्रुतकेवली तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही होते हैं। यद्यपि 'सर्व आगमधर' का अर्थ श्रुतकेवली ही होता है; तथापि इसप्रकार के प्रयोगों में वही अर्थ अभीष्ट होता है; जो आगम और परमागम की परंपरा से मेल खाता हो।

यद्यपि आचार्य अमृतचंद्र के उक्त स्पष्टीकरण से सब बात एकदम स्पष्ट हो जाती है; तथापि इस बात को पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में और भी अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

''यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं। और 'अज्ञानमय' कहने से मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना चाहिये, मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि को चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है, और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस राग के प्रति राग नहीं है।

और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है, ऐसा कहा है, सो इसका कारण इसप्रकार है – सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभराग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता – उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है। इसलिये उसके लेशमात्र राग नहीं है।

यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो – वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो; तथापि यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव – इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता, वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस बात को प्रश्नोत्तरों के माध्यम से सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''**प्रश्न :** आपके द्वारा ऐसा कहा गया कि रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होते। इस सन्दर्भ में प्रश्न यह है कि तो क्या चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, भरत, सगर आदि चक्रवर्ती, बलभद्र राम एवं पाण्डवादि क्या कुमारावस्था में सम्यग्दृष्टि नहीं थे ?

उत्तर : नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा उनके तैतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से वे चतुर्थगुणस्थानवर्ती एवं पचंमगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि होते हैं।

प्रश्न : यह कैसे घटित होगा ? कृपया घटाकर बताइये ?

उत्तर : चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ और मिथ्यात्व के उदय में होनेवाले पाषाणरेखा के समान रागादि का अभाव होने से और पंचमगुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय में होनेवाले भूमिरेखा के समान रागादि का अभाव

होने से वे चतुर्थ और पंचमगुणस्थानवर्ती जीव सरागसम्यग्दृष्टि हैं – यह बात पहले ही कह आये हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि इस ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान से आगे के गुणस्थान वाले वीतरागसम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा मुख्य रूप से कथन किया है और सरागसम्यदृष्टियों की अपेक्षा गौणरूप के कथन किया है। इस ग्रंथ में सम्यग्दृष्टियों के व्याख्यान के प्रकरण में यह बात सर्वत्र ही जानना योग्य है।''

आचार्य अमृतचंद्र, आचार्य जयसेन एवं पंडित जयचंदजी के अभिप्राय को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

''अब कहते हैं कि जिसे रागादि अज्ञानमय भावों का लेशमात्र भी सद्भाव है अर्थात् जिसे अंशमात्र भी राग की रुचि है, वह चाहे श्रुतकेवली की भाँति क्षयोपशम ज्ञान का धनी हो, तो भी अज्ञानी है। देखो, मूल गाथा में पाठ है कि 'सव्वआगमधरोवि' अर्थात् वह 'सर्व आगमधर भले हो, जानता नहीं आत्मा को'। तात्पर्य यह है कि यद्यपि वह भगवान के द्वारा कहे गये आगम को पढ़ा है; तथापि राग से लाभ मानता है, आत्मा को जानता नहीं है; अतः अज्ञानी ही है।

देखो, यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग को ही राग में गिना गया है।

जो भगवान की भक्ति से मुक्ति होना मानते हैं, वे भक्ति के राग का अस्तित्व तो मानते हैं; पर आत्मा को नहीं जानते, आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते। अरे भाई ! राग से भिन्न शुद्ध चैतन्यमय शुद्ध द्रव्य का पूर्णतया आश्रय ले, तब रागरहित दशा प्रगट होती है। तथा जब आत्मा को जान कर-पहचान कर उसमें प्रतीति करता है, तब मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी रूप सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।[१]

अहा ! जिसे शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकंद प्रभु आत्मा का स्वानुभव में स्वाद आया है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि ने राग की रुचि छोड़कर चिदानन्दघनस्वरूप निजपरमात्मद्रव्य में अन्तर्दृष्टि की है, इससे उसे आत्मा के

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १६१-१६२

अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उसके चारित्रमोह के उदयवश जो किंचित् राग होता है, उस राग की गिनती नहीं है; क्योंकि मुख्य पाप तो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी ही है।

चौथे-पाँचवें आदि गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि जीवों को जो चारित्रमोह के उदय संबंधी राग होता है, वह ज्ञानसहित है। ज्ञानी को वह राग अपने ज्ञान में भिन्न भासित होता है। उसे राग में किंचित् भी स्वामित्व नहीं है।[१]

सम्यग्दृष्टि को व्रत, नियम संबंधी व किंचित् विषय संबंधी भी राग आता है; परन्तु उसे वह सब राग, आग समान प्रतीत होता है। वह उसे नष्ट करना चाहता है।[२]

देखो, ज्ञानी को राग के प्रति राग नहीं है। जबतक पूर्ण वीतरागता नहीं है, परमात्मदशा प्रगट नहीं हुई है, वहाँ तक ज्ञानी के भी विकल्प उठते हैं, व्यवहार का राग है; परन्तु उसके जीवन में निम्नांकित तीन बातों से विशेषता आ जाती है।

१. उसे जो राग उत्पन्न होता है, उसे वह रोग मानता है।

२. तथा वह उस राग का नाश करना चाहता है।

३. और उसे राग का राग नहीं होता है।

अब कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसे जबतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक राग उत्पन्न तो होता है; परन्तु वह उसे किंचित् भी भला अर्थात् हितकारी नहीं मानता। देखो, यह वीतरागता का मार्ग और यह वीतरागी की आज्ञा। भाई ! वीतरागता का मार्ग तो वीतरागभाव से ही प्रगट होता है, राग से नहीं।[३]

व्रत, तप व भक्ति आदि जैसे भूमिकानुसार होना चाहिए, वैसे ही होते हैं; परन्तु उनके प्रति उपादेयभाव नहीं रहता। निश्चय से तो उसे राग का स्वामित्व ही नहीं हैं। देखो, यह धर्मात्मा ! धर्मी कहते ही उसे हैं, जिसको राग का स्वामित्व नहीं रहता।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १६७
२. वही, पृष्ठ १६७
३. वही, पृष्ठ १६८

प्रश्न : तो क्या स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना व कहना मिथ्या है ?

उत्तर : भाई! यह स्त्री, पुत्र, पैसा, मकान मेरा है – यह मानना तो निरी मूर्खता ही है। यह तो मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। जहाँ भगवान आत्मा से अपना शरीर भी भिन्न है, वहाँ ये स्त्री -पुत्रादि तेरे हैं – यह बात कहाँ से आई ? इन सबका तेरे में अभाव है और तेरा इन सब में अभाव है, तो यह सब तेरे कैसे हो सकते हैं ? बापू ! यह सब तो संयोगों को जानने-पहचानने की रीति है कि ये पिता-माता हैं, ये स्त्री-पुत्रादि हैं। वस्तुतः देखा जाय तो कौन किसका पिता व कौन किसका पुत्र ? सब चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञानी अपने शुभराग को भी स्वामीपने से अपना नहीं मानता।

प्रश्न : जब ज्ञानी व्रतादि को किंचित् भी भला नहीं मानता तो उसमें जो अतिचार लगते हैं, उनका वह प्रायश्चित क्यों करता है ?

समाधान : भाई ! ज्ञानी व्रतादि के राग को किंचित् भी भला नहीं मानता, यह तो बराबर ऐसा ही है; पर उसे भी भूमिकानुसार उसप्रकार के व्रतादि पालन करने का राग तो आता ही है। तथा कभी-कभी उनमें अतिचार भी लग जाता है। अतः उसे दोष जानकर टालता भी है। इसी का नाम प्रायश्चित है। वहाँ जो प्रायश्चित का विकल्प आता है, वह शुभभाव है, उसे आचार्यदेव ने मोक्ष अधिकार गाथा ३०६ में विषकुंभ कहा है। भाई ! विषयवासना का परिणाम तो जहर है ही, प्रतिक्रमण का शुभभाव भी जहर ही है। यह मर्म अज्ञानी नहीं जानता; अतः वह शुभराग से धर्म हुआ मानकर क्रियाकाण्ड में अटका रहता है। बापू ! यह राग तुझे शरणभूत नहीं है। एकमात्र रागरहित नित्य ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही तुझे शरणभूत है। ज्ञानी भी शुद्धचैतन्य स्वभाव के आश्रय से ही दोषों को टालता है तथा वही उसका यथार्थ प्रायश्चित है।[१]

प्रश्न : जब ज्ञानी शुभभाव को हेय मानता है तो फिर वह शुभभाव करता ही क्यों हैं ?

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ १९९-२००

समाधान : पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण ज्ञानी को दया, दान, भक्ति आदि का शुभभाव आता है – होता है; परन्तु वह ऐसा नहीं मानता कि इन्हें मैं करता हूँ या ये मेरे कार्य हैं। शुभभावों का होना जुदी बात है और उन्हें भला मानकर उनमें कर्त्तृत्व व स्वामित्व होना बिलकुल जुदी बात है। ज्ञानी शुभभाव करता व आचरता नहीं है; उसके उसका स्वामित्व नहीं है; अतः उसे लेशमात्र भी राग नहीं है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा का परमार्थस्वरूप ज्ञानानंदमय परमसुखधाम है, जबकि राग का स्वरूप विकार व दुःखरूप है, जिसने राग को भला जाना, उसने राग व पर को यथार्थरूप से जाना ही नहीं है। तथा रागरहित अपने आत्मा को भी नहीं जाना। इसप्रकार अपने को व पर को नहीं जानते हुए वह जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। अर्थात् राग के रागवाला – राग का रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि के राग तो रह सकता है, हो भी सकता है; पर रागवाला अर्थात् राग के स्वामित्ववाला जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।[१]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि रागादि भावों में उपादेय बुद्धिवाले जीव सर्व आगम को जानकर भी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते।

अब आत्मख्याति में इसी भाव का पोषक कलशकाव्य लिखते हैं, जिसमें आचार्य अमृतचंद्रदेव अनादिकाल से मोहनींद में सोये जीवों को झकझोर कर जगा रहे हैं। कलश मूलतः इसप्रकार है –

(मन्दाक्रन्ता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावात्वमेति ॥१३८॥

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २००-२०१

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो ।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे ॥
जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में ।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥ १३८॥

आचार्यदेव संसार में मग्न जीवों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे जगत के अन्धे प्राणियों ! अनादि संसार से लेकर आजतक पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं; वह पद अपद है, अपद है; - ऐसा तुम जानो।

हे भव्य जीवो ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ; क्योंकि तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु स्वयं के रस से भरी हुई है और स्थाई भावत्व को प्राप्त है, स्थिर है, अविनाशी है।

उक्त कलश में तीन पद दो-दो बार आये हैं - अपद है, अपद है; इस ओर आओ, इस ओर आओ; और शुद्ध है, शुद्ध है। इन पदों की पुनरावृत्ति मात्र छन्दानुरोध से नहीं हुई है; अपितु इस पुनरावृत्ति से कुछ विशेष भाव अभिप्रेत है। इनमें शुद्ध है, शुद्ध है; पद की पुनरावृत्ति से द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता की ओर संकेत किया गया है। अपद है, अपद है और इधर आओ; इधर आओ; पदों से अत्यधिक करुणाभाव सूचित होता है।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"इस कलश में श्रीगुरु ने संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे अन्धप्राणियो! तुम अपने त्रिकाली शुद्ध ज्ञानानन्दमय निर्मलानन्द के प्रभु को नहीं देखते; इसलिए नेत्रवाले होते हुए भी तुम अन्धे ही हो। तुम शरीर, धन, लक्ष्मी, आदि बाह्य वस्तुओं में ही उन्मत्त हुए - मूर्छित हुए अपने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को नहीं देखते। हम तुम्हें अन्धा नहीं कहें तो तुम्हीं बताओं क्या कहें ? यदि तुम्हें यह संबोधन अच्छा नहीं लगता हो तुम अपने विवेक के नेत्र से - भेदविज्ञान के चक्षुओं से अपने स्वरूप का अवलोकन करो।

देखो, गाथा ७२ में आचार्यदेव ने भगवान कहकर सम्बोधन किया और यहाँ अंधा कहकर संबोधित किया है। ऐसा क्यों ?

भाई ! आत्मा तो सदा सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। आत्मा स्वभाव से तो सदैव परमात्मस्वरूप ही है; अतः स्वभाव की अपेक्षा तो वहाँ गाथा ७२ में भगवान कहा और यहाँ स्वयं की वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव तथा उनके फल में उन्मत्त होकर वर्त रहा है और अपने नित्यानन्द स्वभाव को देखता नहीं है – इस अपेक्षा अन्धा कहा है। दोनों ही कथनों में आचार्यदेव का उद्देश्य परसन्मुखता से हटाकर स्वरूप की दृष्टि कराना है।

रागी जीव अनादिकाल से पर्याय में ही मत्त रहता हुआ जिस पद में सो रहा है, वह पद अपद है। ये पुण्य के भाव एवं उसके फल में प्राप्त देवपद, राजपद, सुन्दर शरीर एवं सबल इन्द्रियाँ आदि सब अपद हैं। भाई ! तू जिन इन्द्रियों की, वाणी की, देह की एवं महल-मकानादि बाह्य पदार्थों की दिन-रात संभाल करता है तथा जिस राजकीय और सामाजिक पदों के लिए संघर्ष करता है, वे सब अपद हैं। उन 'अपद' पदों में कहाँ शरण है ? बापू ! ये नाशवान वस्तुयें तेरे रहने एवं उठने-बैठने के स्थान नहीं हैं, यहाँ 'अपद' शब्द जो दो बार कहा है, उससे करुणाभाव प्रगट किया है।[१]

अत्यन्त करुणा से भरे आचार्य अज्ञानी को अपद से निकालकर स्वपद में आने के लिए बारम्बार प्रेरणा करते हैं। कहते हैं कि इस ओर आओ ! इस तरफ आओ ! यहाँ निवास करो; क्योंकि तुम्हारा पद तो यह है। इसमें उन्होंने तीन बातें कहीं –

(१) पुण्य-पाप व उसके फल अपद हैं।

(२) इधर आओ और यहाँ अपने स्वरूप में निवास करो ।

(३) तुम्हारा पद यह है अर्थात् निज शुद्धात्मा ही तुम्हारा यथार्थ पद है।

देखो, जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु है, वहीं तेरा स्वपद है। यहाँ 'शुद्ध-शुद्ध' ऐसा दो बार कहा, उसका मतलब यह है कि द्रव्य शुद्ध व पर्याय भी शुद्ध है

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २०२-२०३

अथवा द्रव्य व गुण – दोनों शुद्ध हैं। यदि पर्याय लें तो त्रिकाली कारणशुद्धपर्याय लेना चाहिए।[१]

इसी बात का विशेष खुलासा करते हुए कहते हैं कि जो 'शुद्ध शुद्ध' दो बार कहा, वह द्रव्य व भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है अर्थात् द्रव्य शुद्ध है तथा भाव भी शुद्ध है। देखो, भगवान का द्रव्य तो शुद्ध है ही, भगवान का भाव भी शुद्ध है। यहाँ भाव का अर्थ पुण्य-पाप रूप भाव ग्रहण नहीं करना, वे तो अशुद्ध, मलिन व दुःखरूप भाव हैं। भाववान भगवान आत्मा का भाव तो शुद्ध ज्ञान, आनन्द आदि हैं तथा वही तेरी निजी वस्तु है। तथा वे ही स्थायीभाव हैं, अनादि-अनंत-स्थिररूप हैं। उनमें हल-चल नहीं है। अहा ! प्रभु ! तेरा ध्रुवधाम ऐसा है; अतः तू परधाम को छोड़कर अपने ध्रुवधाम में आ जा।[२]

भाई ! भाषा तो सादी है, पर भाव बहुत गंभीर है। अनादि-अनन्त त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर परमात्माओं की एकमात्र यही पुकार है कि भाई ! यदि तुझे सुखी होना हो तो अन्तर में जा, तेरे ही अन्तर में सुख का निधान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य महाप्रभु परमात्मस्वरूप से साक्षात् विराजमान है; उसी का आश्रय कर। तुझे अवश्य ही तेरे निजपद की प्राप्ति हो जायेगी।[३]''

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया हैं –

(सवैया इकतीसा)

जगवासी जीवनि सौं गुरु उपदेस कहैं,
तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं ।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं ॥
आवौ मेरै निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करम सौं रीते हैं ।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरैं उर,
मित्र कैसे पुत्र किधौं चित्र कैसे चीते हैं ॥

श्री गुरु जगवासी जीवों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम्हें इस संसार में सोते हुए अनन्तकाल बीत गया है। अरे भाई ! अब तो जागो और सचेत

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २०३-२०४
२. वही, पृष्ठ २०४
३. वही, पृष्ठ २०८

होकर तथा चित्त में समता धारण करके भगवान की उस वाणी को सुनो; जिसमें इन्द्रियों के रस को जीतने की बात आती है अथवा जिसके सुनने पर इन्द्रियों को जीतने की विधि ज्ञात हो जाती है।

अरे भाई ! मेरे पास आओ; मैं तुम्हें कर्मकलंक से रहित और परमसुरस से भरे हुए तुम्हारे गुणों को तुम्हें बताऊँगा। बनारसीदासजी कहते हैं कि गुरु के ऐसा कहने पर भी अज्ञानी उनकी बात को हृदय में धारण नहीं करता, उस पर ध्यान नहीं देता। अत: लगता है कि ये जगत के जड़ जीव मिट्टी के पुतले जैसे हैं या फिर चित्र में बने हुए मनुष्य हैं।

जिसप्रकार मिट्टी के पुतलों पर और चित्रों में बने मनुष्यों पर किसी की किसी भी बात का कोई असर नहीं पड़ता; उसीप्रकार इन अज्ञानी जीवों पर भी सद्गुरु के सदुपदेश का कोई असर दिखाई नहीं देता।

इसप्रकार का भाव व्यक्त करके कवि यहाँ अज्ञानी जीवों की दुर्दशा पर आंसु बहा रहा है।

यहाँ पंडित टोडरमलजी की वे पंक्तियाँ याद आती हैं, जिनमें वे कहते हैं –

"जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे तथा जैसे कोढ़ी को अमृतपान कराये और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।"

इसप्रकार इस कलश में आचार्यदेव सांसारिक अपदपदों से विरक्त होकर निजपद में आने की प्रेरणा दे रहे हैं। इस कलश की छाया छहढाला की निम्नांकित पंक्तियों में भली-भाँति देखी जा सकती हैं –

"कहा रचो परपद में न तेरो पद यहै क्यों दुख सहे ।
अब दौल होऊ सुखी स्वपदरचि दाव मत चूकौ यहै ॥[१]

ध्यान रहे यदि अभी भी नहीं संभले तो फिर चार गति और चौरासी लाख योनियों में अनन्तकाल तक भटकना होगा। •

---

१. कविवर दौलतराम : छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द १५

समयसार गाथा २०३

गाथा २०२ के बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तीन गाथाएँ आई हैं, जो आत्मख्याति में आगे क्रमशः २१६, २१७ एवं २१८ के रूप में आनेवाली हैं। दोनों टीकाओं में यह क्रम भेद है। उक्त गाथाओं की चर्चा आगे यथास्थान होगी ही; अतः यहाँ उनके बारे में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

इस २०३वीं गाथा के पूर्व समागत कलश में यह कहा गया है कि हे जगत के अन्धे प्राणियों! जिस पद में तुम अपनापन करके सो रहे हो, वह पद अपद है, वह पद तुम्हारा पद नहीं है; अतः तुम उसे छोड़कर स्वपद में आओ।

अतः अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यदि यह पद हमारा नहीं है तो फिर हमारा पद क्या है, कौनसा है?

इसी प्रश्न के उत्तर में यह २०३वीं गाथा लिखी गई है; जो इसप्रकार है –

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३॥

स्वानुभूति गम्य है जो नियत थिर निज भाव ही ।
अपद पद सब छोड़ ग्रह वह एक नित्य स्वभाव ही ॥ २०३॥

हे भव्यजीवो! आत्मा में अपदभूत द्रव्य-भावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर एवं एकरूप तथा स्वभावरूप से उपलब्ध प्रत्यक्ष अनुभवगोचर इस ज्ञानभाव को जैसा का तैसा ग्रहण करो; क्योंकि यही तुम्हारा पद है।

उक्त २०३वीं गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

"वास्तव में इस भगवान आत्मा में द्रव्य-भावभूत बहुत से भावों के मध्य में से जो भाव अतत्स्वभावरूप अर्थात् परभावरूप अनुभव में आते हुये अनियत अवस्थावाले अनेकरूप क्षणिक व्यभिचारी भाव हैं; वे सभी स्वयं अस्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से अपदभूत हैं और जो भाव तत्स्वभावरूप से अर्थात् आत्मस्वभावरूप

से अनुभव में आता हुआ नियत अवस्थावाला एकरूप नित्य अव्यभिचारी भाव है; वह एक ही स्वयं स्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने के योग्य होने से पदभूत है।

इसलिए समस्त अस्थाई भावों को छोड़कर परमार्थरसरूप से स्वाद में आनेवाला स्थाई भावरूप यह एक ज्ञान ही आस्वादन के योग्य है।"

आत्मख्याति के उक्त भाव को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में एकदम सरल-सुबोध भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

"पहले वर्णादिक से गुणस्थानपर्यन्त जो भाव कहे थे; वे सब, आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारीभाव हैं। आत्मा स्थायी है (सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं; इसलिए वे आत्मा का स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्मा का पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है; वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी भाव है; इसलिये वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जीवाजीवाधिकार में जो वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ प्रकार के भाव बताए गए थे; वे सभी भाव आत्मा के लिए अपद हैं; अपनाने योग्य नहीं हैं, आत्मा नहीं हैं; क्योंकि वे आत्मस्वभाव न होने से अतत्स्वभाव हैं, अनियत हैं, असंख्यप्रकार के होने के कारण अनेक हैं, नाशवान होने से क्षणिक हैं और संयोगजनित होने से व्यभिचारी भाव हैं।

एकमात्र ज्ञानभाव ही आत्मा का स्वपद है, आत्मा है; क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव होने से तत्स्वभाव है, नियत है, एक है, नित्य है और स्वभावभाव होने से अव्यभिचारी है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"यहाँ अपदभूत की व्याख्या चल रही है। अतः कहते हैं कि पुण्य-पाप के भाव अस्थाई होने से आत्मा का स्थान नहीं हैं; अतः अपदभूत हैं। व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, पंच महाव्रतादि के

विकल्प तथा शास्त्र लिखने-पढ़ने का विकल्प - सभी अस्थाई हैं, अतत्स्वभाव हैं। इसलिए वे स्थाता के स्थान होने योग्य नहीं होने से अपदभूत हैं।[१]

अब कहते हैं कि तत्स्वभाव से अनुभव में आता हुआ ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा ही एक आत्मा के लिए पदभूत है। तथा चैतन्यस्वभाव से अनुभव में आता हुआ आत्मा नियत अवस्थावाला है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। चैतन्यभाव-ज्ञानमात्रभाव संयोगजनित नहीं होने से अव्यभिचारी है। यहाँ पाँचों बोलों से भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव बतलाया है, जो इसप्रकार है -

(१) तत्स्वभाव से आत्मा आत्मस्वभावरूप है।

(२) चैतन्यस्वभाव से अनुभव में आने से नियत है।

(३) पुण्य-पाप की भाँति अनेकरूप न होकर आत्मा एकरूप है।

(४) पुण्य-पाप की भाँति आत्मा क्षणिक नहीं, बल्कि त्रिकाल होने से नित्य है।

(५) संयोगजनित न होने से अव्यभिचारी है।

बस, इन्हीं सब कारणों से आत्मा स्थाई भावस्वरूप है और स्थाई होने से आत्मा स्थाता का स्थान होने योग्य है और पदभूत है।[२]

आत्मा में पुण्य-पाप, व्रत-अव्रत आदि के भाव होते हैं, वे सब क्षणिक हैं, अनित्य हैं; अतः ठहरने के स्थान न होने से अपदभूत हैं। आत्मा त्रिकाल स्थायी एक चैतन्यमात्रता से रहने का स्थान होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर इस अतीन्द्रिय आनन्द के रसपने से एक आत्मा ही आस्वादने योग्य है।[३]''

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुप्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥ १३९॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २१२
२. वही, पृष्ठ २१२
३. वही, पृष्ठ २१३

(हरिगीत)

अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद ।
सब आपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञानपद ॥ १३९॥

जिसके सामने सभी अन्य पद अपद भासित होते हैं, विपत्तियों का अपदभूत एवं एक ज्ञानभावरूप वह पद ही आस्वादन करने के योग्य है।

इस कलश में यही कहा गया है कि जिसमें एकत्व स्थापित करने से, जिसे अपना जानने-मानने से, जिसमें जमने-रमने से सभी विपत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, अनन्त दुख दूर हो जाते हैं और जिसकी तुलना में जगत के अन्य सभी पद अपद भासित होते हैं, तुच्छ भासित होते हैं; वह ज्ञानपद ही एक मात्र आस्वादन करने योग्य है, आराधना के योग्य है, साधना के योग्य है। इसलिए हे भव्यजीवों! तुम एक मात्र इस ज्ञानपद की आराधना में अपने जीवन को लगा दो।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने समयसार नाटक में इसप्रकार किया है –

(दोहा)

जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप ।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदा रूप ॥

हे भव्यजीवों! जिस पद के स्पर्श करते ही अन्य सभी पद आपदारूप भासित होने लगते हैं; संसार भय को दूर करनेवाले उस अनुपम ज्ञानपद का सेवन करो।

उक्त सम्पूर्ण कथन का एकमात्र तात्पर्य यह है कि ज्ञानपदरूप आत्मा ही सार है, स्वपद है और सब परपदार्थ असार हैं, परपद हैं; अपनाने योग्य नहीं हैं।

गाथा २०३ के बाद भी आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तीन गाथाएं आई हैं; जो आत्मख्याति में आगे क्रमशः २०७, २०९ एवं २०६ के रूप में आने वाली हैं। उक्त गाथाओं की चर्चा भी आगे यथास्थान होगी ही; अतः यहाँ उनके बारे में कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

अब आगामी गाथा का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

एक ज्ञायक भावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥ १४० ॥

(हरिगीत)

उस ज्ञान के आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा ।
अर द्वन्दमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा ॥
आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा ।
सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा ॥ १४० ॥

द्वन्दमय स्वाद के लेने में असमर्थ एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ तथा आत्मानुभव के अनुभाव से विवश निज वस्तुवृत्ति को जानता हुआ यह आत्मा ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ और मात्र सामान्यज्ञान का अभ्यास करता हुआ सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है, एक रूप में प्राप्त करता है।

उक्त कलश में आत्मानुभव की प्रक्रिया दिखाते हुए यह बताया गया है कि आत्मानुभव में विशेषज्ञान का तिरोभाव और सामान्यज्ञान का आविर्भाव होता है तथा आत्मानुभव के रस के सामने अन्य सभी रस फीके पड़ जाते हैं।

निम्नांकित पद में भी यही बात बताई गई है –

जब निज आतम अनुभव आवै, तब और कछु न सुहावै ।
रस नीरस हो जात ततक्षिण, अच्छ विषय नहीं भावै ॥
जब निज आतम अनुभव आवै ॥ टेक ॥

गोष्ठी कथा कुतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नशावै ।
राग दोष जुग चपल पक्षयुत, मनपक्षी मर जावै ॥
जब निज आतम अनुभव आवै ॥ टेक ॥

ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै ।
'भागचन्द' ऐसे अनुभव को, हाथ जोरि शिर नावै ॥
जब निज आतम अनुभव आवै ॥ टेक ॥

जब निज भगवान आत्मा अनुभव में आता है, तब अन्य कुछ भी नहीं सुहाता है, अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। जिससमय निज भगवान आत्मा अनुभव में आता है; उसीसमय संसार के सम्पूर्ण रस नीरस लगने लगते हैं और पाँच इन्द्रियों के विषय भी अच्छे नहीं लगते हैं।

जब आत्मा का अनुभव होता है, तब गोष्ठियों में आने-जाने और कथा-कहानियों को सुनने-सुनाने का कौतूहल और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। राग और द्वेष दोनों ही हैं चंचल पंख जिसके - ऐसा मनरूपी पक्षी ही मर जाता है, इसकारण सभी विषय-वासनायें भी मृतप्रायः हो जाती हैं।

जब आत्मा का अनुभव होता है, तब इतना ज्ञानानन्द का अमृत उछलता है कि हृदयरूपी घड़े में समाता ही नहीं है। कविवर भागचंदजी कहते हैं कि मैं ऐसी अनुभवदशा को हाथ जोड़कर शीश नवाता हूँ।

इसप्रकार इस पद में आत्मानुभवी पुरुष की अंतरंग और बहिरंग दशा का चित्रण किया गया है।

इस सन्दर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

"भगवान आत्मा त्रिकाली एकरूप परमानन्दमूर्ति ज्ञायकभाव से भरा है। ऐसे अपने ज्ञायकमूर्ति आत्मा के स्वपद का स्वाद आ जाने पर अन्य सब स्वाद फीके पड़ जाते हैं अर्थात् निर्मलानन्द के साथ शुद्ध चिद्रूप भगवान आत्मा के सन्मुख होकर निज का स्वाद लेने पर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के सिवाय अन्य रागादि का स्वाद आता ही नहीं है। इसलिए ज्ञानी द्वन्द्वमय स्वाद को लेने में असमर्थ है। रूप, रस, गंध तथा दया, दान आदि पुद्गल के एवं विषय के सभी स्वाद द्वन्द्व के स्वाद हैं।

देखो, इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही आ गये।

(१) आत्मद्रव्य स्वयं एक ज्ञायकभाव से भरा है।

(२) ज्ञायकस्वभाव गुण है तथा ज्ञायकभाव में एकाग्रता पर्याय है।

इसप्रकार भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु एक ज्ञायकभाव से भरा है। उसमें अन्तर एकाग्रता करके अनुभव करने पर, उसका स्वाद लेने पर द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों निर्मल शुद्ध हो जाते हैं।

जिसप्रकार शक्कर अकेले मिठास के स्वभाव से भरी है तथा जिसप्रकार नमक अकेले खारेपन के स्वभाव से भरा है; उसीप्रकार आत्मा में अन्तर्दृष्टि करने पर तथा उसी में स्थिर होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का महास्वाद आता है। ज्ञानी उस महास्वाद का अनुभव करता है।[१]

जिसे ज्ञायकस्वभाव का स्वाद आ जाता है, उसे निम्नलिखित तीन प्रकार के स्वाद का अभाव हो जाता है।

(१) प्रथम, तो उसे जड़ का स्वाद छूट जाता है। रूपवान सुन्दर देह या सरस भोजनादि का स्वाद ज्ञानी को नहीं आता।

(२) दूसरे, पुण्य-पाप या शुभाशुभभाव के राग का स्वाद लेने में ज्ञानी असमर्थ हो जाता है अर्थात् राग का स्वाद भी उसे नहीं आता।

(३) तीसरे, भेदरूप क्षयोपशमज्ञानादि का स्वाद भी ज्ञानी को नहीं आता।[२]''

सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव की चर्चा १५वीं गाथा में विस्तार से हो चुकी है; इसलिए यहाँ उस संबंध में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है; जिन्हें विशेष जानने की इच्छा है, वे १५वीं गाथा के अनुशीलन का एकबार फिर गहराई से अध्ययन करें।

इस सन्दर्भ में कलश टीकाकार का निम्नांकित कथन भी ध्यान देने योग्य है -

''जिसप्रकार उष्णतामात्र अग्नि है, इसलिए दाह्य वस्तु को जलाती हुई दाह्य के आकार परिणमती है; इसलिए लोगों को ऐसी बुद्धि उपजती है कि काष्ठ की अग्नि, छाना की अग्नि, तृण की अग्नि। सो ये समस्त विकल्प झूठे हैं। अग्नि के स्वरूप का विचार करने पर उष्णतामात्र अग्नि है, एक रूप है। काष्ठ, छाना, तृण अग्नि का स्वरूप नहीं है। उसीप्रकार ज्ञान चेतनाप्रकाशमात्र है,

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २१९
२. वही, पृष्ठ २२०

समस्त ज्ञेयवस्तु को जानने का स्वभाव है; इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है, जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है। इससे ज्ञानी जीव को ऐसी बुद्धि उपजती है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान ऐसे भेदविकल्प सब झूठे हैं। ज्ञेय की उपाधि से मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल ऐसे विकल्प उपजे हैं। कारण कि ज्ञेय वस्तु नाना प्रकार है। जैसे ही ज्ञेय का ज्ञायक होता है, वैसा ही नाम पाता है, वस्तुस्वरूप का विचार करने पर ज्ञानमात्र है। नाम धरना झूठा है। ऐसा अनुभव शुद्ध स्वरूप का अनुभव है।''

इस कलश का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने कलश टीका के आधार पर नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है ।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकल्प मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है ॥
इंद्रियजनित सुख-दुख सौं विमुख ह्वैके,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है ।
सहज समाधि साधि त्यागी पर की उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है ॥

आत्मज्ञानी पण्डित भेदविज्ञान प्राप्त करके आत्मा में दृढ़ता से एकत्व स्थापित करता हुआ विकल्परूप अवस्था के अनेकत्व को समाप्त कर देता है। मति, श्रुत और अवधि ज्ञान आदि की विकल्पात्मक अवस्था को मिटाकर निर्विकल्प ज्ञान को मन में धारण करता है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव करता है।

वह आत्मज्ञानी पण्डित इन्द्रियजनित सुख-दुखों से विमुख होकर परम शुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा का आश्रय करके कर्मों की निर्जरा करता है। इसप्रकार पर की उपाधियों को त्यागकर, सहज समाधि साधकर, आत्मा की आराधना करके परमात्मपद को प्राप्त करता है। ●

समयसार गाथा २०४

जो बात १४०वें कलश में कही गई है, अब वही बात इस २०४ वीं गाथा में कहते हैं –

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४॥
मतिश्रुतावधिमनःपर्यय और केवलज्ञान भी ।
सब एक पद परमार्थ हैं पा इसे जन शिवपद लहें ॥ २०४॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान – यह एक ही पद है; क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं। इसप्रकार यह सामान्य ज्ञानपद ही परमार्थ है, जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान में जो भेद हुए हैं; वे कहीं ज्ञानसामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञान को ही प्रगट करते हैं। इसलिए भेदों को गौण करके एक ज्ञानसामान्य का अवलम्बन लेकर आत्मा को ध्यावना – इसी से सर्वसिद्धि होती है।"

जिस सामान्यज्ञान के विशेष मतिज्ञानादि हैं, भेदविकल्पों से रहित वह सामान्यज्ञान ही आत्मा का स्वपद है; उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है। इसलिए एकमात्र वह ज्ञानपद ही आराधना करने के योग्य है।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"वास्तव में आत्मा ही परमार्थ है, परम पदार्थ है और वह ज्ञान ही है। आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिए ज्ञान भी एक पद है। यह ज्ञान नामक पद ही परमार्थ स्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। मतिज्ञानादि ज्ञान के भेद इस एक पद को नहीं भेदते; किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं।

अब इसी बात को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं – जिसप्रकार इस जगत में बादलों से ढका हुआ सूर्य बादलों के विघटन के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है और उस सूर्य के प्रकाश करने की हीनाधिकतारूप भेद, उसके सामान्य प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते; उसीप्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा, कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है और उस ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद उसके सामान्य ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, प्रत्युत अभिनन्दन करते हैं। इसलिए समस्त भेदों से पार आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए।

उस ज्ञान के अवलम्बन से निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ और अनात्मा का परिहार होता है। ऐसा होने पर कर्म मूर्च्छित नहीं करते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते। राग-द्वेष-मोह के बिना कर्मों का आस्रव नहीं होता। आस्रव न होने से फिर कर्मबन्ध भी नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्म उपभुक्त होते हुए निर्जरित हो जाते हैं; तब सभी कर्मों का अभाव हो जाने से साक्षात् मोक्ष हो जाता है।''

इस टीका में इस बात पर जोर दिया गया है कि सामान्यज्ञान मतिज्ञानादि भेदोंरूप परिणमित होने पर भी उनके द्वारा भेद को प्राप्त नहीं होता; अभेद-अखण्ड-सामान्य ही रहता है और उक्त सामान्यज्ञानरूप निज भगवान आत्मा के आश्रय से निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, राग-द्वेष-मोह का अभाव होता है, आस्रव-बंध रुकते हैं, संवर-निर्जरा होकर साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार यहाँ स्पष्ट किया गया है कि सामान्यज्ञानरूप आत्मा के आश्रय से इतना लाभ प्राप्त होता है।

यद्यपि यह भगवान मोक्षरूप ही है; तथापि पर्याय में मुक्ति प्राप्त होने के कारण यहाँ मोक्ष के साथ साक्षात् विशेषण का उपयोग किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''देखो, अकेला एकरूप जो ज्ञान है, वह आत्मस्वभाव है तथा उसमें एकाग्रता ही मोक्ष का उपाय है। बाह्यक्रियाकाण्ड कोई मोक्ष का उपाय नहीं है – ऐसा कहते हैं।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २२७

अब कहते हैं कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो सामान्य-सामान्य त्रिकाल एकरूप है। उसमें एकाग्रता होने पर मतिश्रुतज्ञानादि की अनेक शुद्ध पर्यायें प्रकट होती हैं; परन्तु जो अनेक पर्यायें प्रकट होती हैं, वे इस ज्ञानपद को नहीं भेदतीं; किन्तु एक ज्ञानसामान्य का अभिनन्दन ही करती हैं अर्थात् उस ज्ञानस्वभाव के एकपने की पुष्टि ही करती हैं। जो मतिश्रुतज्ञानादि भेद प्रकट हुए हैं, वे सब सामान्य में अभेद होते हैं; इससे उसमें अनेकपना नहीं रहता।[१]

भेद अभेद में ही अन्तर्गर्भित रहते हैं। भले ही वे पर्याय की शुद्धतारूप विशेष हैं; तथापि वे हैं तो अभेद की एकाग्रता में ही न। ये भेद, अभेदस्वरूप वस्तु को भेदरूप नहीं करते।[२]

तात्पर्य यह है कि भेदों का लक्ष्य छोड़कर निश्चयरूप जो एक सामान्यवस्तु है, उसको लक्ष्य में लेकर अर्थात् ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा का ध्यान करना। यहाँ व्रतादि करने या उनका निषेध करने की बात नहीं है। यहाँ तो भगवान आत्मा को ध्यान का विषय बनाकर, ध्यान में आत्मा को ध्येय बनाकर, उसका ध्यान करने से सर्वसिद्धि होती है-यह कहा है। आत्मा के ध्यान से क्रमशः संवर, निर्जरा व मोक्ष की प्राप्ति व आस्रव-बंध के अभाव की सिद्धि होती है।[३]''

अब इसी अर्थ को व्यक्त करनेवाला कलशरूप काव्य लिखते हैं -

(शार्दूलविक्रीड़ित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो ।
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ॥
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन् ।
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ १४१ ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २२८
२. वही, पृष्ठ २२९
३. वही, पृष्ठ २३८

(हरिगीत)

सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही ।
हों उछलती जिस भाव में अद्भुतनिधि वह आतमा ॥
भगवान वह चैतन्यरत्नाकर सदा ही एक है ।
फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता ॥ १४१ ॥

जिसकी निर्मल से भी निर्मल संवेदन व्यक्तियाँ अर्थात् ज्ञानपर्यायें समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने से मानो मदोन्मत्त होती हुई अपने आप उछलती हैं; वह यह अद्भुतनिधिवाला, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों से अभिन्न भगवान चैतन्यरत्नाकर (आत्मा) एक होने पर भी अनेक होता हुआ ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा उछलता है, दोलायमान होता है।

इस कलश में भगवान आत्मा को चैतन्यरत्नाकर कहा है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा की तुलना रत्नाकर (समुद्र) से की है।

उक्त तुलना को श्रावक बुद्धिलालजी नाटक समयसार की टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ ज्ञान को समुद्र की उपमा दी है। समुद्र में रत्नादि अनन्त द्रव्य रहते हैं, ज्ञान में भी अनन्त द्रव्य प्रतिबिंबित होते हैं। समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता। समुद्र का जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है। समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है। समुद्र में लहरें उठती हैं, ज्ञान में भी मति, श्रुत आदि तरंगें हैं। समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है। समुद्र अपार होता है, ज्ञान भी अपार है। समुद्र का जल निजाधार रहता है, ज्ञान भी निजाधार है। समुद्र अपने स्वरूप की अपेक्षा एक और तरंगों की अपेक्षा अनेक होता है, ज्ञान भी ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा एक और ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा अनेक होता है।"

इस बात को पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जल से ही भरा हुआ है और उसमें छोटी-बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं, जो कि एक जलरूप ही हैं; इसीप्रकार अनेक गुणों का भण्डार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजल से ही भरा हुआ है और कर्मों

के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद (व्यक्तिएं) अपने आप प्रगट होते हैं, उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खण्ड-खण्डरूप से अनुभव नहीं करना चाहिये।''

मतिज्ञानादि भेदरूप होने पर भी सामान्यज्ञान एक अभेदरूप ही रहता है और एक अभेदरूप रहने पर भी ज्ञान पर्यायरूपी तरंगों में उछलता रहता है, दोलायमान होता रहता है। इस बात को कलश टीकाकार इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''कोई आशंका करेगा कि ज्ञान तो ज्ञानमात्र है, ऐसे जो मतिज्ञान आदि पाँच भेद वे क्यों हैं ?

समाधान इसप्रकार है–जो ज्ञान की पर्याय है, विरुद्ध तो कुछ नहीं। वस्तु का ऐसा ही सहज है। पर्यायमात्र विचारने पर मति आदि पाँच भेद विद्यमान हैं, वस्तुमात्र अनुभवने पर ज्ञानमात्र है। विकल्प जितने हैं, उतने समस्त झूठे हैं; क्योंकि विकल्प कोई वस्तु नहीं है, वस्तु तो ज्ञानमात्र है।

कोई ऐसा मानेगा कि जितनी ज्ञान की पर्याय हैं, वे समस्त अशुद्धरूप हैं सो ऐसा तो नहीं; कारण कि जिसप्रकार ज्ञान शुद्ध है, उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय वस्तु का स्वरूप है, इसलिए शुद्धस्वरूप है। परन्तु एक विशेष–पर्यायमात्र का अवधारण करने पर विकल्प उत्पन्न होता है, अनुभव निर्विकल्प है; इसलिए वस्तुमात्र अनुभवने पर समस्त पर्याय भी ज्ञानमात्र है; इसलिए ज्ञानमात्र अनुभव योग्य है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन के भाव को अपने में समेटते हुए कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है ।
निर्मल सौं निर्मल सुजीवन प्रगट जाके,
घट मैं अघट-रस कौतुक करतु है ॥
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है ।
सोहै ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एक मैं अनेकता धरतु है ॥

यद्यपि जिसके हृदय में अनंत द्रव्य और उनके अनन्तानन्त भाव निरन्तर भासित हो रहे हैं; तथापि जो अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता, उन ज्ञेयों को जानते हुए भी उन ज्ञेयों रूप नहीं होता, ज्ञानरूप ही रहता है; जिसका जीवन अत्यन्त निर्मल है, जिसके हृदयरूपी घट में अतीन्द्रिय आनन्द हिलौरे लेता है और जिसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान – ये पाँच प्रकार की तरंगें उमंग के साथ उछलती हैं; वह अपार महिमावाला अत्यन्त उदार ज्ञानरूपी समुद्र निराधार–पर की अपेक्षा बिना एक में ही अनेकता को धारण किये रहता है।

उक्त सभी कथनों के अर्थ को ध्यान में रखते हुए भी स्वामीजी अपना अभिप्राय इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"देखो, यहाँ कहते हैं कि निर्मलज्ञान की पर्याय समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी बैठी है तथा उस रस की अतिशयता से मानो वह मत्त हो गई है अर्थात् श्रुतज्ञान की पर्याय भी तीन काल व तीन लोक को जानती है और उससे अपने में मस्त हो जाती है। ऐसी तो आत्मा के क्षयोपशमज्ञान की सामर्थ्य है, ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य की तो बात ही कुछ और है। पर अज्ञानी को इसकी कुछ भी खबर नहीं है, वह तो दया–दान आदि बाह्य क्रियाकाण्ड में ही अटक जाता है।[१]

ज्ञान की वर्तमान पर्याय त्रिकाली ज्ञायक को जानते हुए अन्य अनन्त द्रव्य–गुण–पर्यायों को भी जानती है। उससे मानो उसने सब कुछ जान लिया है, अब कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा।[२]

अहा! जिसे अपनी सर्वज्ञत्वशक्ति का–परमात्मशक्ति का अन्तर में भान हुआ, उसकी ज्ञानपर्याय की ऐसी अद्‌भुत चमत्कारी सामर्थ्य है कि वह जगत के समस्त स्व–पर पदार्थों को द्रव्य–गुण–पर्याय को पी लेता है–जान लेता है।[३]

आत्मा में सर्व को जानने के सामर्थ्यवाला सर्वज्ञ गुण है। यह सर्वज्ञ गुण का रूप आत्मा के अनंतगुणों में व्याप्त है। अहा! ऐसा अनंतगुण का सत्त्वरूप

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २३९–२४०
२. वही, पृष्ठ २४०
३. वही, पृष्ठ २४१

भगवान आत्मा ज्ञायक है। यहाँ कहते हैं कि जिसने अपने ज्ञान की पर्याय में अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर लिया है, अपने स्वरूप को जान लिया है, उसके ज्ञान की पर्याय में स्व को व पर को जानने की सामर्थ्य खिल उठती है। बस, इसी का नाम आत्मज्ञान है और यही धर्म है।[१]''

अब आगे के कलश में कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना कुछ भी करो, सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी। कलश इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥ १४२॥

(हरिगीत)

पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।
जाने बिना निज आतमा जिनवर कहें सब व्यर्थ हैं ॥
मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं ॥ १४२॥

स्वयं की कल्पना से जिनमत अस्वीकार्य और मोक्षमार्ग के विरुद्ध कठिनतर प्रवृत्ति करके दुःख पावों तो पावों अथवा आत्मज्ञान बिना किए गए जिनागम कथित महाव्रतादि और तप के भार से भग्न होते हुए चिरकाल तक क्लेश भोगो तो भोगो; किन्तु साक्षात् मोक्षस्वरूप, स्वयं संवेद्यमान, निरामय इस ज्ञानपद को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

साक्षात् मोक्षस्वरूप जो यह ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा है, उसे आत्मोन्मुखी ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है। उसे प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इस कलश में तो यहाँ तक कहा है कि चाहे जिनागम में कथित व्रतादि पालो, तपश्चरण आदि करो; चाहे जैनेतरों के यहाँ प्रचलित

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २४२-२४३

क्रियाकाण्ड करो, तपादि तपो; किन्तु आत्मज्ञान के बिना आत्मोपलब्धि सम्भव नहीं है।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ कहते हैं कि जो जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से बाह्य हैं–ऐसे अज्ञानी व्रत, उपवास, तप आदि कर्मों से क्लेश पायें तो भले पायें तथा जैनाभासी – जैन मिथ्यादृष्टि भी महाव्रतादि का पालन करके क्लेश पायें तो भले पायें, पर आत्मा के यथार्थज्ञान बिना उन्हें धर्म प्रगट नहीं होगा। धर्म तो अन्तर्दृष्टिपूर्वक अन्तर-रमणता से होता है और वह धर्म आनंदरूप है, दुःखरूप नहीं। जिसमें क्लेश हो, वह धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि धर्म तो सुखस्वरूप होता है, आनंदमय व आनन्दकारक होता है।[१]

अन्यमती हो या जैनमती, आत्मज्ञान व आत्मा की प्रतीतिरूप सम्यग्यदर्शन बिना कितना भी क्लेश सहे, उससे धर्म नहीं होता।[२]

यहाँ यह कह रहे हैं कि अशुभ से बचने के लिए दया-दान-व्रत-तप-भक्ति आदि का व्यवहार होता तो अवश्य है; परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। ज्ञान की एकाग्रता की दशा होते हुए भी जबतक पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो, तबतक बीच में व्यवहार का राग आता अवश्य है; परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो एक ज्ञान की एकाग्रता ही है। ज्ञानानंदस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान अर्थात् ज्ञान का ज्ञान ही एकाग्रता है और वह एकाग्रता ही मोक्ष का कारण है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा के सन्मुख होने पर जो ज्ञान होता है या ज्ञान की पर्याय होती है, वही वीतरागी पर्याय है। अहा! उस वीतरागी पर्याय से आत्मा को केवलज्ञान होता है। इसीकारण कहा है कि ज्ञान साक्षात् मोक्ष है। एकप्रकार से कहें तो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप ही है तथा उसमें जो ज्ञान की पर्याय एकाग्र होती है, वह भी मोक्षस्वरूप ही है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २४६
२. वही, पृष्ठ २४७
३. वही, पृष्ठ २४७

रागरूप व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है-ऐसा कहकर जो व्यवहार का निषेध किया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार है ही नहीं, होता ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि को जहाँतक पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक व्यवहार होता है; परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है।[१]''

कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इस छन्द का भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(सवैया इकतीसा)

केई क्रूर कष्ट सहैं तप सौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वै कै झूले हैं ।
केई महाव्रत गहैं क्रिया मैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं ॥
इत्यादिक जीवन कौं सर्वथा मुकति नांहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारि के बघूले हैं ।
जिन्ह के हिय मैं ग्यान तिन्हि ही कौ निरवान,
करम के करतार भरम मैं भूले हैं ॥

कुछ क्रूर लोग तप के नाम पर कष्ट सहते हैं; पंचाग्नि आदि तप से शरीर को जलाते हैं, धूम्रपान करते हैं और उल्टे लटककर झूलते हुए ऐसा समझते हैं कि हम तप कर रहे हैं तथा कुछ लोग जैनागम कथित महाव्रतादि ग्रहण करके एकमात्र क्रिया में ही मग्न रहते हैं, मुनिधर्म के भार को वहन करते हैं; किन्तु उन लोगों के सभी प्रयास प्याल (अनाज रहित घास) के पूलों (छोटे-छोटे गट्ठों) के समान निस्सार हैं; क्योंकि इसप्रकार की परिणतिवाले जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। वे तो तेज हवा के चलनेवाले बघूलों के समान हैं। जिसप्रकार बघूले तेज हवा से प्रेरित होकर यहाँ-वहाँ भटकते रहते हैं; उसीप्रकार ये क्रियाकाण्डी लोग संसार में ही यहाँ-वहाँ भटकते रहेंगे।

अधिक क्या कहें-मुक्ति तो उन्हीं को प्राप्त होगी, जिनके हृदय में ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा बस गया है; किन्तु जो जीव आत्मा को तो जानते

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २४८

नहीं हैं और क्रियाकाण्ड में ही उलझे रहते हैं, कर्मों के कर्त्ता बने रहते हैं; वे सभी भ्रम में भूले हुए लोग हैं; उन्हें मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है।

इस प्रकरण पर कविवर बनारसीदासजी का मन ऐसा रींझा कि वे इस प्रसंग पर चार छन्द अपनी ओर से भी लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं –

(दोहा)

लीन भयौ विवहार मैं, उकति न उपजै कोइ ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहा सौं होइ? ॥
प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ो, करौ विविध विवहार ।
मोखसरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार ॥

इन छन्दों में कहा गया है कि यह अज्ञानी जीव व्यवहार में लीन हो गया है। इसे आत्मकल्याण की कोई युक्ति (उपाय) तो सूझती नहीं है; इसकारण दीन होकर भगवान के नाम का जाप करने लगता है। आप ही बताओ ऐसे अज्ञानी व्यवहाराभासी को मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

प्रभु का स्मरण करो, उनकी पूजा पढ़ो और भी अनेक प्रकार के व्यवहार का पालन करो; अरे भाई! आप कुछ भी क्यों नहीं करो; किन्तु मोक्षस्वरूपी आत्मा तो एकमात्र ज्ञानगम्य ही है, अनुभवगोचर ही है। ऐसा निर्धार करना चाहिए, पक्का निर्णय करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि इस आत्मा की प्राप्ति तो आत्मा के जानने से होगी, आत्मानुभव करने से होगी; प्रभु स्मरण, पूजा, जाप आदि व्यावहारिक क्रियाकलापों से नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि अधिकांश जगत इन क्रियाकाण्डों में ही उलझा है, आत्मज्ञान की ओर ध्यान ही नहीं देता।

(सवैया तेईसा)

काज बिना न करै जिय उद्यम, लाज बिना रन मांहि न जूझै ।
डील बिना न सधै परमारथ, सील बिना सतसौं न अरूझै ॥
नेम बिना न लहै निहचै पद, प्रेम बिना रस रीति न बूझै ।
ध्यान बिना न थंभै मन की गति, ग्यान बिना सिव पंथ न सूझै ॥

जिसप्रकार बिना काम के कोई व्यक्ति उद्यम नहीं करता, लाज (स्वाभिमान) के बिना युद्ध में नहीं जूझता, शरीर (नरदेह) के बिना परमार्थ की सिद्धि नहीं

होती, शील (स्वभाव के आश्रय) के बिना सत्य की प्राप्ति नहीं होती, संयम के बिना निश्चयपद (मोक्षपद) की प्राप्ति नहीं होती, प्रेम के बिना रस की रीति ख्याल में नहीं आती और ध्यान के बिना मन की गति कम नहीं होती, स्थिर नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञान के बिना मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं देता।

उक्त छन्द में अनेक उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्ति का मार्ग तो एकमात्र ज्ञान का मार्ग ही है।

(सवैया तेईसा)

ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर, जोति जगी मति होत न मैली ।
बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतमध्यानकला विधि फैली ॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखैं, सुविवेक लियैं परखैं गुन-थैली ।
ते जग मैं परमारथ जानि, गहैं रुचि मानि अध्यातमसैली ॥

जिनके अन्तर में सम्यक्ज्ञान का उदय हो गया है, जिनकी आत्मज्योति जाग्रत हो गई है और बुद्धि विकृत नहीं होती-निर्मल रहती है, जिनकी बाह्य पदार्थों में एकत्वबुद्धि समाप्त हो गई है और आत्मा का ध्यान करने की कला की विधि जिन्हें ज्ञात हो गई है, जो जड़ और चेतन को भिन्न-भिन्न देखते हैं और जो विवेक के धनी होकर अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड आत्मा को जानते हैं; वे अध्यात्मप्रेमी ज्ञानी जीव जगत में परमार्थ (भगवान आत्मा) को जानकर, उसमें ही अपनापन स्थापित कर, उसे रुचिपूर्वक ग्रहण करते हैं।

इसप्रकार इन चार छन्दों में से आरंभ के दो दोहों में तो यही कहा गया है कि पूजा-भक्ति आदि व्यावहारिक क्रियाकलापों से आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि आत्मा तो अनुभवगम्य है और तीसरे सवैया में अनेक उदाहरण देकर यह समझाया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं देगा और चौथे सवैये में यह कहा गया है कि विवेक के धनी अध्यात्मी ही आत्मा को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार उक्त चारों छन्दों में एकमात्र यही स्पष्ट किया गया है कि आत्मा की प्राप्ति तो आत्मज्ञान, आत्मश्रद्धान एवं आत्मध्यान से ही होती है। •

भावुकता से तथ्य नहीं बदला करते।
– **आप कुछ भी कहो**, पृष्ठ ३३

समयसार गाथा २०५

जो बात विगत कलश में कही गई है, बनारसीदासजी के उक्त छन्दों में कही गई है; उसी बात को अब मूल गाथा में कहते हैं; जो इसप्रकार है –

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५॥
इस ज्ञान गुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें ।
यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो ॥ २०५॥

ज्ञानगुण (आत्मानुभव) से रहित बहुत से लोग अनेकप्रकार के क्रियाकाण्ड करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्य जीवों! यदि तुम कर्म से पूर्ण मुक्ति चाहते हो तो इस नियत ज्ञान को ग्रहण करो।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है।

"समस्त कर्मों (क्रियाकाण्डों) में प्रकाशन का अभाव होने से कर्मों (क्रियाकाण्डों) से ज्ञान (आत्मा) की प्राप्ति नहीं होती; किन्तु ज्ञान (आत्मानुभव) से ही ज्ञान (आत्मा) का प्रकाशन होता है; इसलिए मात्र ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसकारण बहुत से ज्ञानशून्य जीव अनेकप्रकार के कर्म (क्रियाकाण्ड) करने पर भी इस ज्ञानपद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते और इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाने से वे कर्मों से मुक्त भी नहीं होते। इसलिए जो जीव कर्मों से मुक्त होना चाहते हैं; उन्हें एकमात्र इस ज्ञान (आत्मज्ञान) के अवलम्बन से इस नियत एकपद (आत्मा) को प्राप्त करना चाहिए।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वे आत्मज्ञान की दिशा में सक्रिय हों; मात्र क्रियाकाण्ड में उलझे रहने से कुछ भी होनेवाला नहीं है। भूमिकानुसार सदाचरण तो होना ही चाहिए और सज्जनों के होता भी है; तथापि उस सदाचार से आत्मोपलब्धि होनेवाली नहीं है।

आचार्य जयसेन और भी स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं –

"निर्विकार परमात्मतत्त्व की उपलब्धि है लक्षण जिसका, ऐसे ज्ञानगुण से रहित बहुत से पुरुष शुद्धात्मा की अनुभूति से रहित दुर्धर कायक्लेशादि तपश्चरण करते हुए भी मति आदि पाँच ज्ञानों के अभेदरूप और साक्षात् मोक्ष के कारणरूप स्वसंवेद्य शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षणवाले इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं करते; इसलिए हे भव्यों! यदि तुम मुक्त होना चाहते हो तो उस पद को ग्रहण करो अर्थात् शुद्धात्मस्वभाव को ग्रहण करो।"

इस कथन में यह अत्यन्त स्पष्ट हो गया है कि यहाँ ज्ञानगुण का आशय निर्विकार परमात्मतत्त्व की उपलब्धि से है और इसके बिना हम चाहे जितना दुर्धर तप करें, तब भी हमें आत्मोपलब्धि नहीं होगी।

अब इसी भाव का पोषक कलशरूप काव्य कहते हैं, जो इसप्रकार है –

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं,
सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्;
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ १४३॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम ।
ज्ञानकला से सहज ही सुलभ आतमाराम ॥
अतः जगत के प्राणियों! छोड़ जगत की आश ।
ज्ञानकला का ही अरे! करो नित्य अभ्यास ॥ १४३॥

इस ज्ञानस्वरूप पद को कर्मों (क्रियाकाण्डों) से प्राप्त करना दुरासद है, संभव नहीं है; यह तो सहज ज्ञानकला से ही सुलभ है। इसलिए हे जगत के प्राणियों! तुम इस ज्ञानपद को निजात्मज्ञान की कला के बल से प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करो, अभ्यास करो।

इस कलश में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि किसी भी कर्म से धर्म नहीं होता। कर्म का आशय यहाँ सभीप्रकार के शुभाशुभभाव और धर्म

के नाम पर होनेवाले सभीप्रकार के क्रियाकाण्ड से है। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार के शुभाशुभभाव या किसी भी प्रकार के धार्मिक क्रियाकाण्ड से आत्मोपलब्धि नहीं हो सकती; क्योंकि क्रियाकाण्ड तो जड़ की परिणति है और शुभाशुभभाव आत्मा के विकारी परिणाम होने से बंध के कारण हैं। जो बंध का कारण हो, वह धर्म कैसे हो सकता है और उससे आत्मोपलब्धि भी कैसे हो सकती है? इसीप्रकार क्रियाकाण्डरूप जड़ की क्रिया से आत्मा के धर्म का क्या संबंध?

यही कारण है कि आचार्यदेव यहाँ सहज-बोध-कला का अभ्यास करने की प्रेरणा दे रहे हैं; क्योंकि आत्मा की प्राप्ति का एकमात्र उपाय आत्मानुभूति ही है।

इस कलश का भाव नाटक समयसार में कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

(दोहा)

बहुविधि क्रिया कलेस सौं, सिवपद लहै न कोइ ।
ग्यानकला परकाश सौं, सहज मोखपद होइ ॥
ग्यानकला घट-घट बसै, जोग जुगति के पार ।
निज निज कला उदोत कर, मुकत होइ संसार ॥

अनेकप्रकार के क्लेशकारी क्रियाकाण्ड करने से किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती और ज्ञानकला के प्रकाश से मोक्षपद की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

योग और युक्ति से पार यह ज्ञानकला घट-घट में बसती है, सभी को सहज ही प्राप्त है। यही कारण है कि सभी लोग अपनी-अपनी ज्ञानकला को प्रकाशित करके संसार से पार होते हैं, मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार इस कलश में भी गाथा में प्रतिपादित भाव को ही पुष्ट करके समस्त क्रियाकाण्ड और शुभाशुभ भावों से विराम लेकर आत्मानुभव करने की प्रेरणा दी गई है। •

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है।
– **आप कुछ भी कहो**, पृष्ठ २३

समयसार गाथा २०६

अबतक यह कहा गया है कि एक ज्ञानपद ही स्वपद है, प्राप्त करने योग्य है, आश्रय करने योग्य है और उसकी प्राप्ति ज्ञान के ही माध्यम से होगी, अन्य किसी क्रियाकाण्ड या शुभाशुभभाव से नहीं।

अब आगामी गाथा २०६ में यह कह रहे हैं कि तुम एक ज्ञानमय पद को प्राप्त करके उसमें ही सन्तुष्ट हो जावो; उससे तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो ।
बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो ॥ २०६ ॥

हे भव्यप्राणी! तू इस ज्ञानपद को प्राप्त करके इसमें ही लीन हो जा, इसमें ही निरन्तर सन्तुष्ट रह और इसमें ही पूर्णत: तृप्त हो जा; इससे ही तुझे उत्तम सुख (अतीन्द्रिय-आनन्द) की प्राप्ति होगी।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य आत्मा है–ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा रति कर, रुचि कर, प्रीति कर। जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य आशीष (कल्याण) है–ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा सन्तुष्ट रह, सन्तोष को प्राप्त कर। जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है–ऐसा निश्चय करके उस ज्ञानमात्र में सदा तृप्त हो जा, तृप्ति का अनुभव कर।

इसप्रकार सदा आत्मा में ही रत, आत्मा में ही सन्तुष्ट और आत्मा में तृप्त तुझको वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा।

उस सुख को तू उसी क्षण स्वयं ही देखेगा; इसलिए दूसरों से मत पूछ अथवा दूसरों से पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। 'अति प्रश्न मत कर' – पाठान्तर में ऐसा भी प्राप्त होता है।''

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति में भी अति संक्षेप में इसीप्रकार व्यक्त किया गया है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा ही ज्ञानपद से अभिहित किया जाता है और वह ही एकमात्र परमार्थ आत्मा है, कल्याणकारी आत्मा है, अनुभव करने योग्य आत्मा है; अतः प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र परमकर्त्तव्य उस आत्मा को प्राप्त कर, उसी में लीन होना है, उसी में सन्तुष्ट रहना है और उसी में सम्पूर्णतः तृप्त भी रहना है; क्योंकि उत्तम सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय वही है।

आत्मख्याति के अन्तिम अंश में एक अति महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई है कि जब तू इस भगवान आत्मा को जानेगा, उसी में जमेगा, रमेगा, सन्तुष्ट होगा, तृप्त होगा; तब जो उत्तम सुख प्राप्त होगा; वह तेरे अनुभव में स्वयं ही आ जावेगा, किसी अन्य से पूछने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः अधिक प्रश्न करने से विराम ले, अधिक विकल्प करने से विराम ले और सम्पूर्ण शक्ति से हमारे बताये उक्त मार्ग में लग जा।

इससे अधिक और क्या कह सकते थे आचार्यदेव? अतः अब तो हम सबको स्वयं ही गंभीरता से विचार करके सही निर्णय पर पहुँचना है, सही मार्ग अपनाना है।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"यद्यपि आत्मा में अन्य भी अनन्त गुण हैं; परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन की मुख्यता से अन्य गुणों को अत्यन्त गौण कर दिया है। इसीलिए यहाँ यहाँतक कह दिया कि ज्ञान से अन्य जो कुछ भी है, वह आत्मा नहीं है। ऐसा कहकर जब अन्य गुणों एवं भेदों का भी निषेध कर दिया है तो दया, दान, भक्ति, तप आदि के विकल्प की तो बात ही क्या है? जितना यह ज्ञान है, उतना ही सत्यार्थ आत्मा है – ऐसा कहकर शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ एवं रागादि आत्मा नहीं है–ऐसा कहा है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २५६

यहाँ अस्ति से तो यह कहा है कि ज्ञानमात्र ही आत्मा है–ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र वस्तु में ही रति कर, रुचि कर तथा नास्ति से यह कहा है कि राग, पुण्य व निमित्त की रुचि छोड़ दे–इसप्रकार अस्ति व नास्ति से दोनों कथन आ गये हैं।[१]

देखो, यहाँ सारांशरूप में तीन बोल कहे गये हैं, जो इसप्रकार हैं –

(१) भगवान आत्मा ज्ञानप्रमाण–ज्ञानमात्र है; उसमें रति कर!

(२) भगवान आत्मा, जो ज्ञानप्रमाण–ज्ञानमात्र है; उसी में संतुष्ट रह!

(३) भगवान आत्मा, जो ज्ञानप्रमाण है; उसका अनुभव करके सदा उसी में तृप्ति प्राप्त कर!

भाई! पहले निर्णय तो कर कि अन्तर में यदि कोई अनुभव करने लायक है तो यह एक आत्मा ही है। ऐसा निर्णय करके उसी में प्रीति कर! उसी में संतुष्ट रह!! और उसी में तृप्ति को प्राप्त कर!!! आत्मा में ही लीन, संतुष्ट व तृप्त जीवों को वचन से अगोचर सुख प्राप्त होगा; अतीन्द्रिय आनन्द एवं शान्ति प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में कहें तो यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है।[२]''

अब उक्त ज्ञानानुभव की ही महिमा बताते हुए आगामी गाथा की विषयवस्तु की सूचना देनेवाला काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(उपजाति)

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देव,
श्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते;
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १४४॥

(दोहा)

अचिंत्यशक्ति धारक अरे चिन्तामणि चैतन्य ।
सिद्धारथ यह आतमा ही है कोई न अन्य ॥
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं फिर क्यों पर की आश ।
ज्ञानी जाने यह रहस करे न पर की आश ॥ १४४॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २५६
२. वही, पृष्ठ २५८

यह ज्ञानी आत्मा स्वयं ही चिन्मात्रचिन्तामणि है और अचिन्त्यशक्तिवाला देव है; इसकारण इसके सर्व प्रयोजन स्वयं ही सिद्ध हैं। इसलिए अब इसे अन्य किसी पदार्थ के परिग्रह (संग्रह) से क्या प्रयोजन है?

यद्यपि इस कलश में समागत अचिन्त्यशक्ति, चिन्मात्रचिन्तामणिदेव एवं सर्वार्थसिद्धात्मा–ये विशेषण त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के हैं; तथापि जब ज्ञानी आत्मा उक्त त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही अपनापन स्थापित कर लेता है, तब वह स्वयं ही ऐसा अनुभव करने लगता है कि मैं स्वयं ही अचिन्त्यशक्ति का धारक देवाधिदेव हूँ, चिन्मात्रचिन्तामणि हूँ और मेरे सभी प्रयोजन सिद्ध ही हैं अथवा ऐसी श्रद्धा होने से, ऐसा ज्ञान होने से मेरा अनन्तसुखी होने का प्रयोजन सहज ही सिद्ध हो गया है। इसप्रकार की अनुभूति करनेवाले ज्ञानी जीवों को अन्य पर पदार्थों के परिग्रह से क्या प्रयोजन रह जाता है, शुभाशुभ भावों और शुभाशुभ क्रियाकाण्डों से भी क्या प्रयोजन रह जाता है?

कलश टीकाकार ने 'किमन्यस्य परिग्रहेण' का अर्थ करते हुए यह स्पष्ट किया है कि शुद्धस्वरूप के अनुभव से भिन्न सभी शुभ-अशुभ क्रियायें, रागादिरूप विकल्पों अथवा द्रव्यों के भेदविचाररूप भावों से भी कोई सिद्धि होनेवाली नहीं है। इसलिए इनके ग्रहण से भी क्या प्रयोजन है? उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"शुद्धस्वरूप अनुभव उससे बाह्य हैं जितने विकल्प। विवरण-शुभ-अशुभ क्रियारूप अथवा रागादिविकल्परूप अथवा द्रव्यों के भेद विचाररूप ऐसे हैं जो अनेक विकल्प उनका सावधानरूप से प्रतिपालन अथवा आचरण अथवा स्मरण उसके द्वारा कौन कार्यसिद्धि, अपितु कोई कार्यसिद्धि नहीं। इस बात को निश्चय जानना, धोखा कुछ नहीं है। भावार्थ इसप्रकार है कि जिसप्रकार किसी पुण्यवान जीव के हाथ में चिन्तामणिरत्न होता है, उससे सब मनोरथ पूरा होता है; वह जीव लोहा, ताँबा, रूपा ऐसी धातु का संग्रह करता नहीं; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के पास शुद्ध-स्वरूप-अनुभव ऐसा चिन्तामणिरत्न है, उसके द्वारा सकल कर्मक्षय होता है। परमात्मपद की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। वह

सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-अशुभ रूप अनेक क्रियाविकल्प का संग्रह करता नहीं, कारण कि इनसे कार्य सिद्धि नहीं होती।''

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''भगवान आत्मा अचिन्त्यशक्तिवाला देव है। 'अचिन्त्यशक्ति' अर्थात् जिसके अद्भुत गुण, असीम शक्तियाँ और अनेक विशेषताएँ हमारे सीमित चिन्तन के विषय ही न बन सकें, जिन्हें हम अपने विकल्पों की सीमा में समेट ही न पायें। जिनको ग्रहण कर पाने में हमारा क्षयोपशमज्ञान बौना साबित हो गया है – ऐसे भगवान आत्मा की शक्तियाँ वस्तुतः अचिंत्य हैं, असीमित हैं।[१]

गजब बात है भाई! कहते हैं कि ज्ञानी को अन्य परिग्रह से अर्थात् शुभाशुभ क्रियाओं से, पुण्य-पाप के परिणामों से तथा द्रव्य-गुण आदि के भेद के विचारों से अब क्या काम है? जब उसे अन्तर में चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा प्राप्त हो गया है।[२]

जिसे अनंतगुणों का गोदाम, अनंतशक्तियों का संग्रहालय चिन्तामणि स्वरूप भगवान आत्मा मिल गया हो, उसे अब इन जड़ विकल्पों के संग्रह करने से क्या प्रयोजन? जिसतरह किसी को लोक में सर्वसिद्धिदायक चिन्तामणिरत्न मिल जाता है तो वह फिर धनादि का संग्रह नहीं करता; क्योंकि उसे जब जिस वस्तु की जरूरत होगी, तभी उसे वह वस्तु चिन्तन करने मात्र से उपलब्ध हो जायेगी। उसीप्रकार भगवान आत्मा जब स्वयं दिव्यशक्ति का धारक चैतन्यचिन्तामणिदेव है, जब ऐसा भान हो गया, तब फिर उसे रुपये-पैसों और शरीर की सुन्दरता तथा वचन की मधुरता से क्या काम? वह फिर किसी प्रकार के विकल्पों के परिग्रह में नहीं पड़ता; क्योंकि स्वरूप में एकाग्र होते ही उसे निराकुल आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।[३]

यद्यपि धर्मी को भूमिकानुसार विकल्प भी आते हैं, व्यवहार भी होता है; परन्तु उसे उनसे कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि व्यवहार से व विकल्पों से मोक्षमार्ग व मोक्ष के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। तथा जिससे मोक्षमार्ग का

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २६३
२. वही, पृष्ठ २६५
३. वही, पृष्ठ २६५

प्रयोजन पूरा होता है, वह चिन्मात्रचिन्तामणि भगवान आत्मा उसे प्राप्त हो गया है। इसलिए वह दूसरों को ग्रहण करके, अपनाकर क्या करे? उसे विकल्पों में पड़ने से क्या काम? इसी भावना से ज्ञानी को निर्जरा होना कहा गया है।[१]"

इस १४४ वें कलश को कविवर बनारसीदासजी ने अनुभव की महिमा के रूप में देखा है। यही कारण है कि वे इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(कुंडलिया)

अनुभव चिंतामनि रतन, जाके हिय परगास ।
सो पुनीत सिवपद लहै, दहै चतुरगतिवास ॥

दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै ।
नूतन बंध निरोधि, पूब्बकृत कर्म बिहंडै ॥
ताके न गनु विकार, न गनु बहु भार न गनु भव ।
जाके हिरदै मांहि, रतन चिंतामनि अनुभव ॥ २८॥

जिसके हृदय में अनुभवरूपी चिन्तामणिरत्न प्रकाशित हो रहा है, वह आत्मा चतुर्गतिरूप आवास को जलाकर पवित्र शिवपद को प्राप्त करता है।

चतुर्गतिरूप आवास को जलानेवाला वह आत्मानुभवी जीव भूमिकानुसार सहजभाव से जो होता है, वह होता है; किन्तु कोई भी लौकिक या धार्मिक क्रिया किसी फल की आशा रखकर नहीं करता। वह आत्मानुभवी जीव कर्मों के नवीन बंध को रोकता है और पुराने कर्मों की निर्जरा करता है।

अधिक क्या कहें, जिसके हृदय में अनुभवरूपी चिन्तामणिरत्न है; उसकी दृष्टि में राग-द्वेषरूप विकार, परिग्रह का भार और आगामी दो-चार भवों की कोई गिनती नहीं है, कोई कीमत नहीं है।

तात्पर्य यह है कि उसकी दृष्टि में तो एकमात्र त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही रहता है, वह तो उसी में मग्न रहता है। भूमिका के योग्य जो रागादिभाव, संयोगी पदार्थ और दो-एक भव पर्याय में पाये जाते हैं; वे सब उसकी दृष्टि में नगण्य ही हैं, कुछ भी नहीं हैं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २६५

अनुभव की महिमा का गुणगान करने में कविवर बनारसीदासजी का मन ऐसा लगा कि वे इस प्रसंग पर अनुभव की महिमा का एक छन्द और भी समर्पित करते हैं, जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जिन्ह के हिये मैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यातम नष्ट है ।
जिन्ह की सुदिष्टि मैं न परचै विषमता सौं,
समता सौं प्रीति ममता सौं लष्ट पुष्ट है ॥
जिन्ह के कटाक्ष मैं सहज मोख पंथ सधै,
मन कौ निरोध जाके तन कौ न कष्ट है ।
तिन्ह के करम की कलोलैं यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है ॥

जिनके हृदय में अनुभवरूपी सत्य के सूर्य का उदय हुआ है और जिनकी सुबुद्धिरूपी किरणों ने फैलकर मिथ्यात्व के अंधकार को नष्ट कर दिया है; जिनकी सम्यक्दृष्टि में विषमता नहीं है, ममता नहीं है और जिन्हें समता से प्रीति है; जिनकी चितवन (दृष्टि) मात्र से मुक्ति का मार्ग सहज ही सधता है और जो तन को कष्ट दिये बिना ही मन का निरोध कर लेते हैं; उन आत्मानुभवी जीवों का कर्मों से कल्लोलें करना ही समाधि है, उनका डोलना ही योगासन है और बोलना ही मौनव्रत है।

तात्पर्य यह है कि आत्मानुभवी सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा जीवों का समस्त जीवन ही धर्ममय होता है; क्योंकि उनका अपनापन अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में हो गया है। यद्यपि आत्मानुभवी जीवों के जीवन में भी पूर्वकर्मोदयों के उदयानुसार अनेकप्रकार के संयोग और संयोगी भाव देखे जा सकते हैं और देखे भी जाते हैं; तथापि उनकी दृष्टि के जोर से कर्मोदयजन्य भोग भी योग का काम करते हैं, योगों का डोलना भी योगासन का काम करता है तथा बोलना भी मौनव्रत का फल प्रदान करता है। आत्मानुभव की कुछ ऐसी ही विचित्र महिमा है।

समयसार गाथा २०७

इस २०७वीं गाथा की उत्थानिका के रूप में समागत १४४ वें कलश में यह कहा गया था कि ज्ञानी को अन्य परिग्रह से क्या प्रयोजन है? अब इस गाथा में उसी बात की पुष्टि इसप्रकार करते हैं –

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७॥

आतमा ही आतमा का परिग्रह यह जानकर ।
'पर द्रव्य मेरा है' बताओ कौन बुध ऐसा कहे? ॥ २०७॥

अपने आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता हुआ कौनसा ज्ञानी यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है?

लौकिक सज्जन पुरुष भी लोक में पर पदार्थ को अपना नहीं कहता, उस पर अधिकार करने की चेष्टा नहीं करता; तो फिर अलौकिक आत्मज्ञानी पुरुष पर को अपना कैसे मान सकता है, जान सकता है और उनसे चिपटा भी कैसे रह सकता है?

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जो जिसका स्वभाव है, वह स्वभाव उसका 'स्व' है और वह उस स्वभाव का स्वामी है– इसप्रकार तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से ज्ञानी अपने आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह (सर्वस्व) जानता है; इसलिए 'यह मेरा स्व नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' – ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता अर्थात् परद्रव्य को अपना नहीं मानता।"

इस गाथा के सन्दर्भ में दो बातें विशेष जानने योग्य हैं –

पहली बात तो यह कि यहाँ पर परिग्रह का अर्थ मूर्च्छा या संयोगी पदार्थ नहीं है; क्योंकि अपना आत्मा स्वयं के लिए न तो संयोगी पदार्थ ही है और न ज्ञानी को उसमें मूर्च्छा ही होती है। यहाँ तो 'परि' माने चारों ओर से 'ग्रह'

माने ग्रहण करना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी वस्तु को चारों ओर से ग्रहण करना ही परिग्रह है। यह आत्मा अपने आत्मा को चारों ओर से ग्रहण करता है, ग्रहण किये रहता है; इसीलिए यह कहा गया है कि निज आत्मा ही आत्मा का परिग्रह है। अपने आत्मा को ही निजरूप जानना-मानना ही चारों ओर से ग्रहण करना है।

और दूसरी बात यह कि यहाँ 'स्व' की सीमा में अपना आत्मद्रव्य, उसमें विद्यमान अनन्त गुण और उन गुणों की आत्मोन्मुखी निर्मल पर्यायें ही आती हैं; विकारी पर्यायें या संयोगी पदार्थ नहीं आते।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"**प्रश्न :** क्या आत्मा को आत्मा का परिग्रह होता है?

समाधान : हाँ, क्योंकि ज्ञानी ने आत्मा को ग्रहण किया है न? 'परि' अर्थात् चारों ओर से तथा 'ग्रह' अर्थात् ग्रहण करना। इसप्रकार ज्ञानी ने एक अपने निज आत्मा को ही सब ओर से ग्रहण कर रखा है – इस अपेक्षा यह कहा है कि आत्मा के तो एकमात्र अपने आत्मा का ही परिग्रह है।

प्रश्न : यह तो एक नया परिग्रह ही सुना, हम तो अब तक पैसा आदि को ही परिग्रह मानते थे।

समाधान : आपकी मान्यता को बलिहारी है। अरे भाई! यह नया तो नहीं है, अनादिकाल से आत्मा को तो वस्तुतः एक आत्मा का ही परिग्रह है। भाई! पैसा, हीरा, मोती, माणिक आदि तो सब धूल-पुद्गल का परिग्रह है, पर है; वह आत्मा का परिग्रह कैसे हो सकता है; क्योंकि वास्तव में तो आत्मा उसे ग्रहण ही नहीं कर सकता। उसने उसे तो भ्रम से भूलकर अपना मान रखा है।[१]

'मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' – इसप्रकार जिसको अन्तर में आत्मा की पकड़ हो गई है, उसे अपना आत्मा ही परिग्रह है। देखो, भरतचक्रवर्ती के छह खण्ड का राज्य था, ३२ लाख विमानों का स्वामी स्वर्ग का इन्द्र जिसका मित्र था; तथापि उसके अन्तर में यह पक्का निर्णय था कि ज्ञानानन्दस्वभावी मेरा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २६९

आत्मा ही मात्र मेरा परिग्रह है। यह चक्रवर्ती पद, छह खण्ड का राज्य, ये मित्र, ये रानियाँ तथा इनके प्रति हुआ राग - ये मेरी वस्तु नहीं हैं, मैं इनका स्वामी नहीं हूँ।[१]

अहा! आत्मा का ज्ञान व आनन्द ही असली, अकृत्रिम व स्थिर रहनेवाला स्वभाव है। उसके अन्तर में जहाँ दृष्टि गई, वहीं पर्याय में उस ज्ञान व आनन्द की निर्मलदशा प्रगट हो जाती है। वह निर्मलपर्याय ही अपना स्व है। अहा! द्रव्य-गुण व उसकी निर्मल पर्याय ही आत्मा के स्व हैं तथा उनका स्वामी स्वयं धर्मात्मा है।

देखो, आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें एक 'स्व-स्वामीसम्बन्ध' शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है, वह मैं हूँ। आत्मद्रव्य स्व, त्रिकाली पूर्णशुद्ध गुण मेरे स्वरूप हैं तथा उनकी जो निर्मल शुद्धस्वभाव पर्याय प्रगट होती है, वह भी मेरा 'स्व' है अर्थात् अपने शुद्धद्रव्य-गुण और शुद्ध पर्याय मेरे अपने स्व हैं तथा धर्मी आत्मा उनका स्वामी है।[२]"

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि ज्ञानी जीव अपने आत्मा को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ या विकारीभावों को अपना नहीं जानते, अपना नहीं मानते। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २७०
२. वही, पृष्ठ २७२

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के कर्तृत्व में अथवा वह पर्याय ही अपने परिणमन में पूर्ण समर्थ है। हे आत्मन्! तुझे उसमें कुछ भी नहीं करना है, तू व्यर्थ ही उसकी चिन्ता में अपना भव बिगाड़ रहा है। जिस द्रव्य अथवा पर्याय के परिणमन की चिन्ता तू अपने सिर पर लिए घूम रहा है, झूम रहा है; उसे तेरी अथवा तेरे सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है, परवाह नहीं है; तू ही बलिष्ठ बैलों द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी के नीचे-नीचे चलकर 'मैं ही गाड़ी खींच रहा हूँ' इस अभिमान से ग्रस्त कुत्ते की भाँति आकुल-व्याकुल हो रहा है। – **क्रमबद्धपर्याय**, पृष्ठ २८

समयसार गाथा २०८-२०९

जो बात विगत गाथा में कही गई है; अब उसी बात को सयुक्ति सिद्ध करते हुए आचार्यदेव ज्ञानी की भावना को, ज्ञानी के निश्चय को व्यक्त करते हैं –

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०८॥
छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०९॥

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे ।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ॥ २०८॥
छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो ।
जावे चला चाहे जहाँ पर परिग्रह मेरा नहीं ॥ २०९॥

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। चूंकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।

यह परद्रव्यरूप परिग्रह छिद जावे, भिद जावे, कोई इसे ले जावे अथवा नष्ट हो जावे, प्रलय को प्राप्त हो जावे; अधिक क्या कहें – चाहे जहाँ चला जावे; – इससे मुझे क्या? क्योंकि यह परिग्रह वास्तव में मेरा है ही नहीं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

''यदि अजीव परद्रव्यरूप परिग्रह को मैं अपना मानूँ तो वह अवश्य ही मेरा 'स्व' होगा और मैं उसका स्वामी हो जाऊँगा तथा जो अजीव का स्वामी होगा, वह वास्तव में अजीव ही होगा। इसप्रकार अवशत: (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़ेगा।

मेरा स्व तो एक ज्ञायकभाव ही है और मैं उसी का स्वामी हूँ; इसलिए मुझ को अजीवत्व न हो। मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा और परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।

परद्रव्य छिदे अथवा भिदे, अथवा कोई उसे ले जावे अथवा प्रलय को प्राप्त हो जावे अथवा चाहे जहाँ जाये; जो भी हो मैं परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता; क्योंकि परद्रव्य मेरा 'स्व' नहीं है और मैं उसका स्वामी नहीं हूँ; परद्रव्य ही परद्रव्य का 'स्व' है और परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है तथा मैं ही मेरा 'स्व' हूँ और मैं ही मेरा स्वामी हूँ; – ऐसा मैं जानता हूँ।''

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं की टीका के सन्दर्भ में कही गईं दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य है –

एक तो यह कि यहाँ मिथ्यात्व और रागादिभावों को ही परद्रव्यरूप जड़ परिग्रह कहा है और उनके ग्रहण से जड़त्व होना बताया है और दूसरे यहाँ छिदजाने का अर्थ दो टुकड़े हो जाना और भिदजाने का अर्थ छेद हो जाना किया गया है।

उक्त सम्पूर्ण कथन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि मिथ्यात्वादि विकारीभावरूप १४ प्रकार का अंतरंग परिग्रह और शरीर व धन-धान्यादि १० प्रकार का बाह्य परिग्रह – ये सभी मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ। इनका कुछ भी क्यों न हो, मुझे आकुलता करने की कोई आवश्यकता नहीं है – ज्ञानी जीव इस बात को भली-भाँति जानते हैं।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का प्रतिपादन इसप्रकार है –

''देखो, यहाँ जो अजीव शब्द आया, उसका अर्थ मात्र शरीर-मन-वाणी व धनादि ही नहीं है; किन्तु पुण्य-पापरूप जो रागादिभाव हैं, वे भी अजीव हैं। यह बात पहले जीव-अजीव अधिकार में भी आ गई है।

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा एवं पूर्णानन्दस्वभावी वस्तु है, वह पूर्णानन्दस्वभावी वस्तु मैं स्वयं हूँ; उसके जो अनंतगुण हैं, वह भी मैं हूँ तथा उसकी जो समय-समय की निर्मलपर्यायें होती हैं, वह भी मैं हूँ। इसप्रकार द्रव्य-गुण व उसकी शुद्धपर्यायें मेरे स्व एवं मैं उनका स्वामी हूँ। इसके विपरीत राग का यदि मैं स्वामी बनूँ अथवा राग को अपना जानूँ-मानूँ, उसे ग्रहण करूँ तो मैं अजीव हो जाऊँगा; क्योंकि राग जीव के स्वभाव से भिन्न अजीव है।

भाई! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प अथवा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प अजीव है। धर्मी कहते हैं कि यदि उसे मैं ग्रहण करूँ तो अवश्य ही वह मेरा 'स्व' हो जावेगा तथा मैं उसका (अजीव का) स्वामी बनूँ तो मैं स्वयं अजीव हो जाऊँगा।[१]

प्रश्न : मोक्षमार्ग प्रकाशक में तो ऐसा कहा है कि दान देने के समय जो राग होता है, वह भी जीव का अपना स्व है। हाँ, देने-लेने की क्रिया अपनी नहीं है।

समाधान : भाई! वहाँ तो पर्याय अपेक्षा से कहा है। राग अपने जीव की पर्याय में हुआ, इस अपेक्षा से विकारी पर्याय का ज्ञान कराने के प्रयोजन से जीव का कहा है, आश्रय करने के लिये नहीं। स्वभावदृष्टि में तो राग मेरा है ही नहीं - ऐसा यथार्थ समझना चाहिए। यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहा जा रहा है कि मेरा तो एकमात्र ज्ञायकभाव ही है, वही मेरा स्व है, शेष रागादि सर्व भाव पर हैं, अजीव हैं, मेरे नहीं हैं। भाई! यहाँ तो ऐसा है कि एक ओर राम (आत्माराम) और दूसरी ओर गाम (सारा जगत)। राम अर्थात् स्व और गाम अर्थात् सम्पूर्ण पर। बापू! वस्तुस्थिति तो यह है, वैसे व्यवहार में कोई कुछ भी कहे, उससे वस्तुस्वरूप नहीं पलट जाता। व्यवहार के कथनों की अपनी जुदी-जुदी अपेक्षाएँ होती हैं। अत: जहाँ जो अपेक्षा योग्य हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए।

देखो, यहाँ अस्ति-नास्ति से कह रहे हैं कि एक ज्ञायकभाव ही मेरा 'स्व' है तथा मैं उसका स्वामी हूँ। तथा रागादि अजीव मेरे 'स्व' नहीं हैं और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ।[२]''

उक्त गाथाओं में चौबीसों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ने की बात सामान्यत: कही गई है और अब आगामी गाथाओं में उन्हीं परिग्रहों को छोड़ने की बात विशेषरूप से कहेंगे। इस बात का संकेत इन गाथाओं के बाद आने वाले कलश में किया गया है; जो इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २७४
२. वही, पृष्ठ २७६, २७७

(वसंततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १४५॥

(सोरठा)

सभी परिग्रह त्याग इसप्रकार सामान्य से ।
विविध वस्तु परित्याग अब आगे विस्तार से ॥ १४५॥

इसप्रकार समस्त परिग्रह को सामान्यत: छोड़कर अब स्वपर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने में मनवाला ज्ञानी जीव पुन: उसी परिग्रह को विशेष रूप से छोड़ने के लिये प्रवृत्त हुआ है।

इस छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया जा सकता है –

इसप्रकार स्वपर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को सामान्यत: छोड़कर अब अज्ञान को छोड़ने का मनवाला जीव पुन: उस परिग्रह को ही विशेष रूप से छोड़ने के लिये प्रवृत्त हुआ है।

इस कलश में मात्र यही कहा है कि अबतक सभी परिग्रह के त्याग की चर्चा बिना किसी परिग्रह के नामोल्लेख किये सामान्यरूप से की गई है और अब उसी बात को दृढ़ करने के लिये विशेष नामोल्लेखपूर्वक विस्तार से कहते हैं, जिससे परिग्रह त्याग की भावना बलवती हो।

सामान्य त्याग और विशेष त्याग का अन्तर स्पष्ट करते हुए कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में लिखते हैं –

(दोहा)

त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार ।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार ॥

'सभी परवस्तुयें त्याग करने योग्य हैं' – यह कथन सामान्य कथन है और अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं के नामोल्लेखपूर्वक त्याग करने की बात विस्तार से करना विशेष कथन है।

समयसार गाथा २१० से २१४

सामान्य त्याग की बात कहने के उपरान्त अब इन गाथाओं में नामोल्लेखपूर्वक विशेष त्याग की बात कह रहे हैं –

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१०॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २१३॥

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को ।
है परिग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे ॥ २१०॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को ।
है परिग्रह ना अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे ॥ २११॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को ।
है परिग्रह ना असन का वह असन का ज्ञायक रहे ॥ २१२॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को ।
है परिग्रह ना पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे ॥ २१३॥

इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को ।
सर्वत्र ही वह निरालम्बी नियत ज्ञायकभाव है ॥ २१४॥

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पुण्यरूप धर्म को नहीं चाहता; इसलिए वह पुण्यरूप धर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पापरूप अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए वह अधर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता है; इसलिए वह भोजन का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पेय को नहीं चाहता; इसलिए वह पेय का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

इसीप्रकार और भी अनेकप्रकार के सभी भावों को ज्ञानी नहीं चाहता; क्योंकि वह तो सभी भावों से निरावलम्ब एवं निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

ये सभी गाथायें लगभग एकसी ही हैं। २१० से २१३ तक की गाथाओं में मात्र इतना ही अन्तर है कि २१०वीं गाथा की पहली पंक्ति में समागत **धम्मं** पद के स्थान पर २११वीं गाथा में **अधम्मं** २१२वीं गाथा में **असणं** और २१३वीं गाथा में **पाणं** हो गया है। इसीप्रकार २१०वीं गाथा की दूसरी पंक्ति में समागत **धम्मस्स** पद के स्थान पर २११वीं गाथा में **अधम्मस्स** २१२वीं गाथा में **असणस्स** और २१३वीं गाथा में **पाणस्स** हो गया है।

इन गाथाओं के बाद समागत २१४ वीं गाथा में कहा गया है कि जिसप्रकार ज्ञानी आत्मा पुण्य-पाप और खान-पान की वांछा नहीं रखने से इनका परिग्रही नहीं, ज्ञायक ही है; उसीप्रकार अन्य सभी प्रकार के भावों का भी इच्छुक नहीं होने से परिग्रही नहीं, ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार की एकरूपता उक्त गाथाओं में पाई जाती है; उसीप्रकार की एकरूपता आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति और आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति में भी पाई जाती है। यही कारण है कि हम यहाँ आत्मख्याति का अर्थ करते समय चारों गाथाओं का अर्थ पुनरुक्ति से बचते हुए कर रहे हैं; जो इसप्रकार है –

"इच्छा परिग्रह है; जिसको इच्छा नहीं है, उसको परिग्रह भी नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही होता है; अतः ज्ञानी के अज्ञानमयभावरूप इच्छा का अभाव होने से ज्ञानी पुण्य को नहीं चाहता, पाप को नहीं चाहता, भोजन को नहीं चाहता, पेय पदार्थ को नहीं चाहता तथा अनेक प्रकार के अन्य सभी भावों को भी नहीं चाहता; इसकारण ज्ञानी के पुण्य-पाप और खान-पान तथा अन्य सभी भावों का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण पुण्य-पाप, खान-पान और अन्य सभी भावों का ज्ञायक ही है।

गाथा में समागत धर्म, अधर्म, असन और पान पदों के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन – ये सोलह पद लगाकर सोलह गाथायें बनाकर उनका व्याख्यान करना चाहिए। इस उपदेश से और दूसरे भी विचार कर लेना चाहिए।

इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब इसप्रकार समस्त अन्य भावों के परिग्रह से शून्यत्व के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है, ऐसा ज्ञानी सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावरूप रहता हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।"

गाथाओं और उनकी टीका का भाव एकदम स्पष्ट है; अतः यहाँ कुछ विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है; फिर भी यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि गाथा और आत्मख्याति टीका दोनों में धर्म और अधर्म पद का प्रयोग है; पर यहाँ उनका अर्थ पुण्य और पाप क्यों किया गया है?

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन शब्दों का अर्थ स्पष्टरूप से पुण्य और पाप ही करते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति। ततः कारणात् पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रुपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति।

इसलिए स्वसंवेदन ज्ञानी शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप व्यवहार धर्म अर्थात् पुण्य की इच्छा नहीं करते। इसकारण से ज्ञानी पुण्यरूप धर्म का अपरिग्रहवाला होकर, 'यह पुण्य मेरा स्वभाव नहीं है' – यह जानकर, उसरूप परिणमित न होकर उससे अतन्मय रहकर दर्पण में बिम्ब के समान ज्ञायक ही रहता है।"

इसीप्रकार का कथन अधर्म के अर्थ के सन्दर्भ में भी किया गया है।

इसप्रकार यहाँ धर्म शब्द का अर्थ पुण्य और अधर्म शब्द का अर्थ पाप करना आगम संमत ही है।

आत्मख्याति में समागत २११वीं गाथा के बाद एक गाथा आचार्य जयसेन की टीका में आई है, जो आत्मख्याति में नहीं है, वह गाथा इसप्रकार है –

धम्मच्छि अधम्मच्छि आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइयं ॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के सूत्र तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरकादि पर्यायें एवं सभी प्रकार के परिग्रह – ये सब ज्ञेय हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी इन ज्ञेयों की इच्छा नहीं करता, इनका मात्र ज्ञायक ही रहता है।

जो बात २१० एवं २११वीं गाथा में पुण्य और पाप के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात इस गाथा में धर्मद्रव्यादि के बारे में कही गई है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानी को खाने-पीने की इच्छा नहीं है; तो क्या ज्ञानीजन भोजन नहीं करते, पानी नहीं पीते?

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा २१२वीं गाथा के भावार्थ में स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान इसप्रकार करते हैं –

"ज्ञानी को आहार की भी इच्छा नहीं होती; इसलिए ज्ञानी का आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि आहार तो मुनि भी करते हैं, उनको इच्छा है या नहीं? इच्छा के बिना आहार कैसे किया जा सकता है?

समाधान : असाता वेदनीय कर्म के उदय से जठराग्नि रूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है, उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुराग रूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे; इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता; इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। इसप्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए।"

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का प्रतिपादन इसप्रकार है –

"देखो यहाँ मिथ्यात्वसहित इच्छा को इच्छा कहा है। ज्ञानी को जो अस्थिरता जनित इच्छा होती है, उसे यहाँ इच्छा नहीं गिना अर्थात् अस्थिरता जनित इच्छा यहाँ गौण है; क्योंकि उसे तो ज्ञानी परज्ञेयरूप से मात्र जानता है।[१]

यहाँ पुण्य, पाप, आहार व पानी – इन चार की चर्चा करेंगे; क्योंकि यहाँ मुनि की मुख्यता से कथन है न! और मुनि के तो ये चार ही मुख्य परिग्रह होते हैं। अन्य कोई परिग्रह तो मुनिराज के होता ही नहीं है। ज्ञानी के पुण्य का भाव आता है, पर उसे इसकी इच्छा नहीं है, एकत्वबुद्धि नहीं हैं।

देखो, ज्ञानी के जिस क्षण धर्म की उत्पत्ति है, उसी क्षण पुण्य की उत्पत्ति भी है; तथापि धर्मी को जिसप्रकार धर्म की भावना है, उसप्रकार पुण्य की भावना या रुचि नहीं है; पुण्यभाव की इच्छा ज्ञानी के होती ही नहीं है।

भाई! जो पुण्य को कमाने में लगे हैं, वे सब संसार के-दुःख के मार्ग में पड़े हैं, वे चारगति में भ्रमण करेंगे। तथा जिन्होंने आत्मा का स्व-संवेदनज्ञान प्रगट कर लिया है, वे धर्म के-सुख के पंथ में है। जिसने निर्मल स्वानुभूति में चिदानन्दघनस्वरूप भगवान आत्मा को पकड़ लिया है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। उस आनन्द के काल में उसे शुभभाव भी होता है; तथापि उस शुभभाव का उस समय वह मात्र ज्ञाता ही रहता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २८९

वस्तुतः तो वह अपना ही ज्ञायक है; परन्तु ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है, इससे वह शुभभाव को भी प्रकाशित करता है। जो शुभभाव होता है, ज्ञानी उसका मात्र ज्ञायक रहता है तथा उसे जानने की पर्याय भी स्वयं से स्वतंत्र हुई है। शुभभाव है, इसकारण उस शुभभाव का ज्ञान नहीं हुआ, बल्कि उस समय ज्ञान की पर्याय ऐसी ही स्वपरप्रकाशकरूप से स्वयं उत्पन्न होती है। इसलिए उस राग को ज्ञानी ग्रहण नहीं करता, किन्तु राग सम्बन्धी जो अपना ज्ञान है, उस ज्ञान को जानता है।

२१०वीं गाथा की आचार्य अमृतचंद्र की आत्मख्याति टीका में जो 'धर्म' शब्द आया है, उसका अर्थ पुण्य किया है। देखो, दूसरे टीकाकार श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं कि जो शुभोपयोगरूप धर्म-पुण्य है, स्वसंवेदनज्ञानी-धर्मी को उसकी भावना नहीं होती। अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानी शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहते। ज्ञानी के तो आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की भावना होती है, शुद्धोपयोगरूप धर्म की भावना होती है।

अब २११वीं गाथा पाप की है। अहा! ज्ञानी को जहाँ पुण्य की भी भावना नहीं है तो पाप की तो कैसे होगी? ज्ञानी के पापभाव भी आता तो अवश्य है, उसके पापभाव-विषयवासना संबंधी राग-आसक्ति होती है; परन्तु वह सब है पर, वह अपना निज का स्वरूप नहीं है-ज्ञानी ऐसा मानते हैं।[१]

प्रश्न : क्या ज्ञानी के मिथ्यात्वसहित अज्ञानमयभाव होते हैं।

समाधान : ज्ञानी के मिथ्यात्वसहित अज्ञानमयभाव तो नहीं होते; परन्तु अज्ञानमय का अर्थ सर्वत्र मिथ्यात्वसहित नहीं होता। ज्ञानी के जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, उनमें चैतन्य की किरण न होने की अपेक्षा उन्हें भी अज्ञानमयभाव कहा जाता है। ज्ञानी के पुण्य-पाप के परिणामों में ज्ञानस्वभाव का अंश नहीं है, इस अपेक्षा उन्हें अज्ञानमय भाव कहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २९२, २९३

अत: जहाँ ऐसा कहा गया हो कि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते, वहाँ मिथ्यात्वसहित भाव को अज्ञानभाव समझना और पुण्य-पाप भावों को दृष्टि में गौण कर दें तो भी ऐसा कहा जा सकता है कि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव नहीं होते।[१]

प्रश्न : इच्छा की इच्छा नहीं है, इसका क्या अर्थ है?

समाधान : ज्ञानी के इच्छा तो है; परन्तु यह इच्छा ठीक है, ज्ञानी के ऐसा मिथ्याभाव नहीं है अर्थात् ज्ञानी इच्छा को उपादेय नहीं मानता; क्योंकि इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के होता नहीं है। इच्छा मात्र में ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की चैतन्यज्योति के तेज का अभाव है, इच्छा में आत्मा के चैतन्य की किरण नहीं है। इसकारण इच्छा को अज्ञानमयभाव कहा है। ज्ञानी के इच्छा का स्वामित्व नहीं होता। इच्छा राग है, अज्ञान है। यहाँ अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है, बल्कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा जिसतरह ज्ञानमय है, उसीतरह राग-इच्छा ज्ञानमय नहीं है। बस, इसीकारण इच्छा को अज्ञानमय कहा है।[२]

प्रश्न : इस कथन से तो यही सिद्ध होता है कि राग कर्म का कार्य है, आत्मा का नहीं?

समाधान : भाई! रागरूपी कार्य अपना (आत्मा का) स्वभाव नहीं है - इस अपेक्षा से ऐसा कहा है। वैसे देखा जाय तो राग है तो आत्मा की पर्याय का ही कार्य; परन्तु वह अपने स्वभाव का कार्य नहीं है तथा निमित्त के साथ हुआ है। इस अपेक्षा से वह कर्मोदय का कार्य कहा गया।[३]"

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि ज्ञानी पुण्य-पाप, खान-पान, आकाशादि द्रव्यों और रागादिभावों को अपना नहीं जानता, अपना नहीं मानता और उनरूप परिणमित भी नहीं होता; इसकारण उसे इनका परिग्रह नहीं है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ६, पृष्ठ २९४
२. वही, पृष्ठ ३०२
३. वही, पृष्ठ ३०४

अब इन गाथाओं में समागत भाव का पोषक कलश काव्य कहते हैं –

(स्वागता)

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्,
ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्;
नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥ १४६ ॥

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।
परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग ॥ १४६ ॥

पहले बंधे कर्मों के उदय के कारण यदि ज्ञानी के उपभोग हो तो हो; परन्तु राग के वियोग के कारण वे भोग उसके लिए परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होते। तात्पर्य यह है कि बंध तो आत्मा के रागादिभावों से होता है। पूर्वबद्ध कर्मोदयवशात् यदि ज्ञानी को भोग देखने में आवें; तो भी रागादिभावों के अभाव के कारण उसे बंध नहीं होता।

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(चौपाई)

पूरब करम उदै रस भुंजै, ग्यानमगन ममता न प्रयुंजै ।
उरमैं उदासीनता लहिये, यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये ॥

ज्ञानी जीव पूर्व कर्मोदयों के वश लौकिक सुख-दुख भोगते हैं, किन्तु वे उनमें ममत्व नहीं रखते, लीन नहीं होते; ज्ञान (स्वयं) में ही मगन रहते हैं; उनके हृदय में भोगों के प्रति हमेशा उदासीनता ही रहती है; इसकारण ज्ञानी जीवों को निष्परिग्रही ही कहा है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''देखो, यहाँ कहते हैं कि जिसके अन्तर में स्वानुभव प्रगट हो गया है, उसको पूर्व के अज्ञानभाव में बंधे कर्मोदय से संयोग हो तो हो तथा संयोगों

के प्रति लक्ष्य जाने से संयोगीभाव रूप अस्थिरता का अंश भी हो तो हो; परन्तु उसे संयोग में, राग में या संयोगों के फल में रुचि नहीं होती तथा मिथ्यात्व सहित राग का अभाव होने से उसके उस संयोग व संयोगीभाव का परिग्रह नहीं है।[१]

प्रवचनसार की ४५वीं गाथा में भी ऐसा आता है कि अरहंत भगवान के पुण्य के फल में अतिशय वगैरह होते हैं, परन्तु भगवान की वह औदयिक क्रिया क्षण-क्षण में खिर जाती है। इसलिए उनकी उस औदयिक क्रिया को क्षायिकी कहा है। उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि साधक अवस्था में जो जीव स्वभावसन्मुख हुआ है, उसे वर्तमान में रागादि भी होते हैं; परन्तु वह राग की क्रिया उदय में आकर खिर जाती है, निर्जर जाती है। इसलिए ज्ञानी साधक के निर्जरा है।

भगवान केवली को वाणी, गमन आदि मात्र जड़ की क्रियाओं का ही उदय है, जबकि साधक के तो रागादि हैं, तथापि वे खिर जाते हैं; अतः उसके निर्जरा कही गई है।[२]

अरहंत भगवान के उदय का निश्चित रूप से नाश ही होता है, इसलिए उसे क्षायिकी कहते हैं तथा धर्मी के जो राग होता है, वह निर्जर जाता है; इसलिए उसे निर्जरा कहा है।[३]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी के पूर्वकर्मोदयानुसार कदाचित् भूमिकानुसार भोग भी दिखाई दें; तो भी मिथ्यामान्यतारूप राग के अभाव के कारण उसे तत्संबंधी बंध नहीं होता; वे भोग उसके लिए परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होते। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ २
२. वही, पृष्ठ ३
३. वही, पृष्ठ ४

अखण्ड आत्मा की उपलब्धि की जीवन की सार्थकता है।
– आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ३२

समयसार गाथा २१५

विगत कलश में कहा गया था कि पूर्वबद्ध कर्मोदय से ज्ञानी के भोग विद्यमान होने पर भी उसे बंध नहीं होता; वे भोग उसके लिए परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होते। अब इस गाथा में युक्ति से इसी बात को सिद्ध कर रहे हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

उप्पण्णोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥ २१५॥

उदयगत जो भोग हैं उनमें वियोगीबुद्धि है।
अरअनागत भोग की सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं ॥ २१५॥

जो वर्तमान में उत्पन्न उदय का भोग है, वह ज्ञानी के सदा ही वियोगबुद्धिपूर्वक होता है और ज्ञानी आगामी उदय की वांच्छा नहीं करता।

आचार्यदेव इस गाथा में यही बताना चाहते हैं कि भूतकाल के भोग तो गये, काल के गाल में समा गये और वर्तमान के भोगों में वियोगबुद्धि होने से तथा आगामी भोगों की चाह न होने से ज्ञानी तीनों कालों के भोगों से ही विरक्त है; इसकारण उसे न तो इनका परिग्रह ही होता है और न इनसे होनेवाला बंध ही होता है।

इसी बात को आचार्य अमृतचंद्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"कर्मोदय से होनेवाला उपभोग अतीत, वर्तमान और अनागत के भेद से तीन प्रकार का होता है। अतीत का उपभोग तो अतीत (समाप्त) हो जाने से परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। अनागत (भविष्य का) उपभोग वांच्छित होने पर ही और वर्तमान का उपभोग रागबुद्धिपूर्वक प्रवर्तमान होने पर ही परिग्रहभाव को धारण करता है।

वर्तमानकालिक कर्मोदयजन्य उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धिपूर्वक होता दिखाई नहीं देता; क्योंकि उसके अज्ञानमयभावरूप रागबुद्धि का अभाव है।

केवल वियोगबुद्धिपूर्वक राग होने से उसके परिग्रह नहीं है। इसकारण ज्ञानी के वर्तमान कर्मोदयजन्य उपभोग परिग्रहरूप नहीं है।

अनागत उपभोग तो वस्तुतः ज्ञानी के वांछित ही नहीं है; क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभावरूप वाँच्छा का अभाव है। इसलिए अनागत कर्मोदयजन्य उपभोग ज्ञानी के परिग्रहरूप नहीं हैं।''

आचार्य जयसेन वियोगबुद्धि का अर्थ हेयबुद्धि करते हैं।

उक्त कथन के भाव को सरल भाषा में पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। अनागत उपभोग की वांच्छा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्म को अहितरूप जानता है, उसके आगामी उदय के भोग की वांच्छा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है, उसके प्रति राग कैसे हो सकता है? इसप्रकार ज्ञानी के जो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है, वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती, उसका उपचार करता है – जैसे रोगी रोग का उपचार करता है। यह अशक्ति का दोष है।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''देखो, ज्ञानी के राग है तो अवश्य; पर वह उसमें केवल वियोगबुद्धि से हेयबुद्धि से प्रवर्तता है। ज्ञानी रागबुद्धि से नहीं प्रवर्तता – ऐसा पहले नास्ति से कहा था और अब यहाँ वह केवल वियोगबुद्धि से ही प्रवर्तता है – ऐसा अस्ति से कहा है। ज्ञानी (राग में) हेयबुद्धि से प्रवर्तमान है; क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय का राग भी अपनी चीज नहीं – ऐसा वह मानता है। इसप्रकार केवल हेयबुद्धि से ही प्रवर्तमान ज्ञानी के वस्तुतः राग का परिग्रह नहीं है।

यहाँ वियोगबुद्धि का अर्थ है सम्बन्धबुद्धि का न होना, एकत्वबुद्धि न होना। अहा! ज्ञानी के राग में एकत्वबुद्धि नहीं है; इसकारण ज्ञानी के वर्तमान भोग का परिग्रह नहीं है। जहाँ राग का परिग्रह नहीं है, वहाँ पैसा आदि के परिग्रह की तो बात ही क्या है?

अनागत अर्थात् भविष्य के उपभोग की वांच्छा भी ज्ञानी के नहीं होती; क्योंकि उसे भविष्य में तो वर्तमान एकाग्रता की पूर्णतारूप मोक्ष की ही वांच्छा है। ज्ञानी के अज्ञानमयभावरूप वाँछा का अभाव होने से अनागत कर्मोदयजन्य उपभोग का परिग्रह नहीं है। जहाँ उसे राग का परिग्रह नहीं है; वहाँ लक्ष्मी, कीर्ति या चक्रवर्ती का वैभव भले हो; पर उसमें उसकी पकड़ कैसे हो सकती है? इसप्रकार ज्ञानी के तीनों काल संबंधी उपभोग परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता।[१]

सारांश यह है कि ज्ञानी के जो भूत, वर्तमान व भविष्य संबंधी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है; क्योंकि ज्ञानी के ज्ञान व आनन्द की ही भावना है, राग की भावना नहीं है। इससे ज्ञानी का तीनों काल संबंधी उपभोग परिग्रह को प्राप्त नहीं होता।

अब कहते हैं कि ज्ञानी जो वर्तमान में उपभोग की साधन सामग्री एकत्रित करता है, वह तो अपनी वर्तमान असह्य पीड़ा का इलाज मात्र है। वह भी निमित्त की मुख्यता से विचार करें तो अन्यथा बाह्य साधनों को भी कौन मिला सकता है? वर्तमान कमजोरी के कारण उसप्रकार का राग आया है, इसकारण साधन जुटाने का प्रयत्न करता है।

देखो, ज्ञानी पुरुष भी विवाहादि करते हैं; परन्तु वे उस विवाह के राग को दु:खरूप व हेय ही मानते हैं। यह विवाह तो रागरूपी रोग के इलाज के रूप में किया गया एक तात्कालिक उपाय मात्र है, अस्थाई इलाज है; अत: उसमें ज्ञानी की एकत्वबुद्धि नहीं है।

तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरनाथ तीनों ही जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी, क्षायिकसम्यग्दृष्टि थे तथा तीनों चक्रवर्ती, कामदेव व तीर्थंकर पद के धारक भी थे; परन्तु उनकी उस राग में हेयबुद्धि थी। वे राग के एक अंश को भी अपना नहीं मानते थे। मात्र रागरूपी रोग का उपचार करते थे; परन्तु अज्ञानी को तो ज्ञानी केवल बाह्य उपभोग के साधन इकट्ठा

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ९, १०

करता हुआ दिखाई देता है। तथा यदि कहीं शास्त्र में ऐसा लिखा मिल गया कि 'ज्ञानी वर्तमान में उपभोग के साधन इकट्ठे करता है' तो बस उसी बात को लेकर स्वयं उसे अपना कर्त्तव्य और उपादेय मान लेता है। वह यह नहीं विचारता कि यह बात किस अपेक्षा से कही गई है।[१]''

इसप्रकार इस गाथा में सतर्क यही कहा गया है कि ज्ञानी के तीनों काल के भोग परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होते। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ९, ११

जिसप्रकार किसी प्रयोजन विशेष के आग्रह से एक आँख फोड़ लेनेवाले की मात्र वह एक आँख ही नहीं फूटेगी, अपितु वह व्यक्ति ही काना हो जाएगा। उसीप्रकार एक नय के आग्रह से दूसरे नय का निषेध करने में मात्र उस नय का ही निषेध नहीं होगा, अपितु प्रमाणज्ञान भी खण्डित हो जाएगा, सम्यग्ज्ञान ही नहीं रहेगा; क्योंकि अंशों के निषेध से अंशी का निषेध एवं अंशी के निषेध से अंशों का निषेध सहज ही हो जाता है। अत: आत्मार्थी किसी भी नय का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता।

गौणता कोई दोष नहीं है, वह तो नयों के स्वरूप में ही समाहित है; अत: 'सर्वथा गौण' शब्द से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है, पर अपरनय का 'सर्वथा निषेध' इष्ट नहीं है। यदि जिनवाणी में भी कहीं 'निषेध' शब्द का प्रयोग हो तो उसे भी 'गौण' के अर्थ में ही समझना चाहिए।

भाई! वस्तु का स्वरूप अगाध है, अपार है; उसका तल एवं पार पाना असंभव तो नहीं, पर गंभीर अध्ययन-चिन्तन-मनन की अपेक्षा अवश्य रखता है। जिसप्रकार वस्तु का स्वरूप अगाध और अपार है, उसीप्रकार उसका प्रतिपादन करनेवाली प्रमाणनयात्मक शैली भी कम गम्भीर नहीं है। जटिल विषय आने पर निराश नहीं होना चाहिए, उदास नहीं होना चाहिए; इसके अध्ययन से विरत भी नहीं होना चाहिए, अपितु दूने उत्साह से समझने का यत्न करते रहना चाहिए। सतत प्रयास चालू रखना चाहिए, क्योंकि मार्ग प्राप्त करने का यही मार्ग है।

– परमभाव-प्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १९७-१९८

समयसार गाथा २१६

विगत गाथा में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था कि ज्ञानी अनागत (भावी) कर्मोदय के उपभोग की वांच्छा नहीं करता। अत: अब इस गाथा में उसी बात को युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय के उपभोग की वांच्छा क्यों नहीं करता?

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि ॥ २१६॥

वेद्य-वेदक भाव दोनों नष्ट होते प्रतिसमय ।
ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना उभय की कांक्षा करे ॥ २१६॥

वेदन करने वाला भाव और वेदन में आने वाला भाव – दोनों ही समय-समय पर नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार जानने वाला ज्ञानी उन दोनों भावों को कभी भी नहीं चाहता।

वेदन करने वाले भाव को वेदकभाव कहते हैं और जिस भाव का वेदन किया जाता है, उसे वेद्यभाव कहा जाता है। ये दोनों ही भाव उत्पन्न होते ही एक समय में नाश को प्राप्त हो जाते हैं; इसकारण इनका मेल बैठना सम्भव नहीं होता; क्योंकि जब जीव किसी पदार्थ को भोगने का भाव करता है, तब वह पदार्थ उपलब्ध नहीं होता और जब वह पदार्थ उपलब्ध होता है, तबतक जीव को उसे भोगने का भाव समाप्त हो जाता है। इसप्रकार विनाशशील होने से वेद्य-वेदक भाव का मेल नहीं बैठता। यही कारण है कि ज्ञानी इन दोनों भावों की ही कामना नहीं करता।

इस बात को पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसी गाथा के भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वेदकभाव और वेद्यभाव में कालभेद है। जब वेदकभाव होता है, तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है, तब वेदकभाव नहीं होता। जब

वेदकभाव आता है, तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? और जब वेद्यभाव आता है, तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का कौन वेदन करेगा? ऐसी अव्यवस्था को जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांच्छा नहीं करता।

यहाँ **प्रश्न** होता है कि आत्मा तो नित्य है, इसलिये वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है; तब फिर ज्ञानी वांच्छा क्यों न करे?

समाधान – वेद्य-वेदक भाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिये वे विनाशीक हैं; अत: वांछा करने वाला वेद्यभाव जबतक आता है, तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है और दूसरा वेदकभाव आये तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग तो नहीं होता। इसलिये ज्ञानी निष्फल वांच्छा क्यों करे? जहाँ मनोवांछित का वेदन नहीं होता, वहाँ वांच्छा करना अज्ञान है।''

इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार सतर्क सिद्ध करते हैं –

''स्वभाव के ध्रुव होने से ज्ञानी तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावस्वरूप नित्य है और विभावभावों के उत्पाद-व्ययरूप होने से वेद्यवेदकभाव क्षणिक हैं। वहाँ कांक्षमाण (जिसकी कांक्षा की जावे, उस) वेद्यभाव का वेदन करने वाला वेदकभाव जबतक उत्पन्न होता है, तबतक कांक्षमाण वेद्यभाव नष्ट हो जाता है। उस वेद्यभाव के नष्ट हो जाने पर वेदकभाव किसका वेदन करे ?

यदि यह कहा जाय कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद होने वाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है तो यह बात भी संभव नहीं है; क्योंकि उस अन्य वेद्यभाव के उत्पन्न होने के पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस अन्य वेद्यभाव का वेदन कौन करता है?

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि उस वेदकभाव के बाद होने वाला अन्य वेदकभाव उसका वेदन करता है तो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि उस अन्य वेदकभाव के उत्पन्न होने के पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करता है?

इसप्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन में अनवस्था दोष आता है। उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।''

इस गाथा और उसकी टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''ज्ञानी की दृष्टि में तो अपना ध्रुवस्वभावभाव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता है तथा वर्तमान में वह जिसकी इच्छा करता है, वह वेदने लायक वस्तु तत्काल तो है नहीं तथा जबतक वेदने लायक वस्तु उत्पन्न होती है, तबतक वेदकरूप जो इच्छा हुई थी, वह रहती नहीं है, व्यय हो जाती है। इस वस्तुस्थिति को ज्ञानी जानता है; अतः ज्ञानी अनागत उपभोग की वांछा नहीं करता।[१]

देखो, यहाँ यह कहते हैं कि जब अमुक वस्तु को भोगने की इच्छा है, तब वह वस्तु उपलब्ध नहीं है और जबतक वस्तु उपलब्ध हुई, तबतक भोगने की इच्छा नहीं रही। यदि इच्छा के काल में वस्तु सदा उपलब्ध रहे तो इच्छा होगी ही क्यों? तात्पर्य यह है कि वेदन के काल में इच्छा नहीं रहती और इच्छा के काल में वेदन (उपभोग) नहीं हो पाता। इस तरह जो वेद्य-वेदक भाव हैं, उन विभावभावों का उत्पन्न व विनाश स्वभाव होने से वे क्षणिक हैं।

प्रश्न : तो क्या ज्ञानी के भोग भोगते हुए भी भोगने की इच्छा नहीं होती?

उत्तर : अरे भाई! कहने का अभिप्राय और नयविवक्षा समझना चाहिए। यहाँ जो यह कहा है कि ज्ञानी के भोगने की इच्छा नहीं है; उसका अभिप्राय तो मात्र इतना है कि उसकी भोगों की रुचि नहीं रही, उसका भोगों का रस फीका पड़ गया। वह राग को रोग की तरह मानता है।[२]

इच्छा का काल और भोग की प्राप्ति का काल दोनों मेल नहीं खाते। इच्छा के समय कांक्षमाण पदार्थ नहीं होता और जबतक पदार्थ उपलब्ध होता है, उसके पहिले इच्छा का अभाव हो जाता है; क्योंकि वह एकसमय की क्षणिक पर्याय है। इस कारण वह इच्छा निरर्थक ही जाती है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १५, १६
२. वही, पृष्ठ १७

प्रश्न : फिर भी ज्ञानी वर्तमान में उपभोग की सामग्री इकट्ठी करता देखा जाता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर : यद्यपि यह बात पीछे २१५वीं गाथा के भावार्थ में आ चुकी है, फिर भी इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि वैसे तो ज्ञानी को वर्तमान में जो राग हुआ है, उसे वह अपने से भिन्न ही मानता है, फिर भी कमजोरी के कारण राग है और आसानी से छूटता भी नहीं है तो उसके उपचार के रूप में ज्ञानी भोग के साधन या उपभोग सामग्री एकत्रित करता है। जिसप्रकार रोगी औषधि से इलाज करता है, उसीप्रकार ज्ञानी वर्तमान राग का इलाज करता है। परन्तु भाई! वह उस राग व इलाज-दोनों को निरर्थक ही जानता है।[१]

ज्ञानी को तो अपने स्वानुभव का ही वेद्य-वेदकभाव है। ज्ञानी के आनन्द की अनुभूति का वेद्य-वेदकभाव है, पर का वेद्य-वेदकभाव नहीं है। देखो तो सही, तीन ज्ञान के धारी एवं क्षायिक समकिती तीर्थंकर अपनी गृहस्थ-अवस्था में यदि चक्रवर्ती भी हों तो ९६ हजार स्त्रियों के पति हों, तो भी उन्हें भोगने की इच्छा नहीं है। गजब की बात है। भोगने का राग तो है, परन्तु उस राग के प्रति राग नहीं है अर्थात् वे उस राग के स्वामी नहीं बनते; क्योंकि उनकी भावना तो निरन्तर स्वभावसन्मुखता की ही रहती है और अज्ञानी तो निरन्तर इच्छायें ही किया करता है।[२]"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि यहाँ जो यह कहा गया है कि ज्ञानी के इच्छा नहीं, राग नहीं है, भोगों की आकांक्षा नहीं है; इसकारण भोग भोगते हुए भी उसे बंध नहीं होता; उसका आशय दर्शनमोह संबंधी इच्छा से है, तत्संबंधित राग से है, राग के प्रति होनेवाले राग से है, राग के प्रति होनेवाले एकत्व-ममत्व से है, राग के प्रति उपादेय बुद्धि से है, राग में सुख बुद्धि से है।

इसीप्रकार बंध के संबंध में भी समझना चाहिए; क्योंकि चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के दर्शनमोह संबंधी बंध का ही अभाव होता है, चारित्रमोह संबंधी बंध का नहीं।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १८
२. वही, पृष्ठ १९

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्,
वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्;
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७॥

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं ।
क्योंकि पल-पल प्रलय पावें वेद्य-वेदक भाव सब ॥
बस इसलिए सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा ।
चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ॥ १४७॥

वेद्य-वेदकरूप विभाव भावों की अस्थिरता होने से कांक्षित भोगों (जिसे भोगना चाहते हैं, उन) का वेदन नहीं होता; इसलिए विद्वानजन (ज्ञानी) कुछ भी वांच्छा नहीं करते, सबके प्रति अत्यन्त विरक्त ही रहते हैं।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जे जे मनवांछित विलास भोग जगत मैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं ।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं ।
एकता न दुहूँ मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारज कौं मूरख चहत हैं ।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंत कौ अवंछक कहत हैं ॥

जगत में जो भी भोग-विलास की सामग्री है, वह सभी विनाशीक है, सुरक्षित रखने से सुरक्षित नहीं रहती। इसीप्रकार उस भोगसामग्री को भोगने

की अभिलाषारूप जो चित्त के भाव हैं, वे भी विनाशीक हैं और निरन्तर धाराप्रवाहरूप से बहते रहते हैं। भोगसामग्री और भोगने के भाव – इन दोनों में समकाल का अभाव होने से इन भोगों में ज्ञानी जीवों की वांच्छा स्फुरायमान नहीं होती; क्योंकि ऐसे भ्रमपूर्ण कार्यों को मूरख ही चाहते हैं। ज्ञानी जीव तो निरन्तर अपने में सावधान रहते हैं, परपदार्थों से एकत्वपूर्वक अनुराग नहीं करते; इसीकारण उन्हें निर्वांच्छक कहा जाता है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानी धर्मात्माओं को निर्वांछक कहने की अपेक्षा क्या है? •

एक समय की भी पर्याय को बदलने के लिए अर्थात् उसे स्वसमय से हटाने और उसके स्थान पर दूसरी पर्याय लाने के लिए यदि सारा जगत भी एक साथ यत्न करे तो भी वह सफल नहीं होगा, वह उस पर्याय को स्वस्थान से हटा नहीं सकेगा। द्रव्यस्वभाव तो अनन्तशक्तिशाली है ही, पर पर्यायस्वभाव में भी अपनी सीमा को सुरक्षित रखने की अनन्त सामर्थ्य है, कोई उसकी सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता। उसमें फेर-फार करने की बुद्धिवाले जगत को अन्ततः हार ही हाथ लगेगी।

द्रव्य यदि त्रिकाल सत् है तो पर्याय भी स्वकाल की सत् है अर्थात् सती है। इतिहास और पुराण इसके साक्षी हैं कि सती का सत् (सतीत्व) लूटने वाले कभी सफल नहीं हुए हैं, अपितु उन्हें अपने उस अक्षम्य अपराध का कठोरतम दण्ड भुगतना पड़ा है। ध्यान रहे सती पर्याय से छेड़-छाड़ करने अर्थात् उसे बदलने की वृत्तिवाले अपराधियों को भी उसका दण्ड भोगना होगा, अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करना होगा। पर्याय के सत् का अपमान करने के इस महापाप (मिथ्यात्व) से वे बच न सकेंगे। – **क्रमबद्धपर्याय**, पृष्ठ ३८

समयसार गाथा २१७

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७॥

बंध भोग निमित्त में अर देह में संसार में ।
सद्ज्ञानियों को राग होता नहीं अध्यवसान में ॥ २१७॥

बंध और उपभोग के निमित्तभूत संसारसंबंधी और देहसम्बन्धी अध्यवसान के उदयों में ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता।

उक्त गाथा की उत्थानिका आत्मख्याति में '**तथाहि**' लिखकर दी गई है, जिसका आशय यही है कि जो बात विगत कलश में कही गई है, उसी को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"इस लोक में जो भी अध्यवसान के उदय हैं, उनमें कुछ तो संसारसंबंधी हैं और कुछ शरीरसंबंधी। उनमें से जो संसारसंबंधी हैं, वे तो बंध के निमित्त हैं और जो शरीरसंबंधी हैं, वे उपभोग के निमित्त हैं। जो बंध के निमित्त हैं, वे राग-द्वेष-मोहादिरूप हैं और जो उपभोग के निमित्त हैं, वे सुख-दुखादिरूप हैं। इन सभी में ज्ञानी को राग नहीं हैं; क्योंकि उनके नाना द्रव्यस्वभाववाले होने से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव वाले ज्ञानी के उनका निषेध है।"

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मोह-राग-द्वेष को संसारसंबंधी अध्यवसान बताकर बंध का कारण बताया गया है और सांसारिक सुख-दुखों को शरीरसंबंधी अध्यवसान बताकर उपभोग का कारण बताया गया है; क्योंकि बंध के कारण मोह-राग-द्वेष ही हैं, सुख-दुखादि नहीं। सुख-दुखादि भोगने तो पड़ते हैं, पर उनके भोगने मात्र से बंध नहीं होता। बंध तो जब मोह-राग-द्वेष होते हैं, तभी होता है, मोह-राग-द्वेष से ही होता है।

स्वामीजी इन्हें कर्तृत्व और भोक्तृत्व से भी जोड़ते हैं। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"ज्ञानी के सभी प्रकार के रागादि विभावभाव नहीं हैं। न तो उसके संसारसम्बन्धी कर्तृत्व का राग है और न शरीरसम्बन्धी भोक्तृत्व का राग है; क्योंकि अपने निराकुल आनंद के स्वाद के समक्ष उसके कर्तृत्व व भोक्तृत्व सम्बन्धी सभी प्रकार के राग का रस फीका पड़ गया है, पर के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का उत्साह सम्पूर्णतया समाप्त हो गया है।[१]

संसारसम्बन्धी कर्त्तापने के भाव राग-द्वेषादि तथा शरीरसम्बन्धी भोक्तापने के भाव सुख-दुखादि कल्पनायें – इन सब में ज्ञानी को राग नहीं है, रुचि नहीं है। जिसे शुद्ध ज्ञायक की रुचि जगी, उसे राग की रुचि नहीं रहती।[२]

भगवान आत्मा में संसारसम्बन्धी कर्तृत्वरूप जो अध्यवसानभाव हैं, वे बंध के कारण हैं तथा वे राग-द्वेष-मोह हैं। तथा जो देहसम्बन्धी अध्यवसानभाव हैं, भोक्तृत्व के भाव हैं, वे सुख-दुखादि हैं। इसमें पहले कर्तृत्व की बात कही, पश्चात् भोक्तृत्व की बात कही है।

वे सब अर्थात् संसारसम्बन्धी मिथ्यात्व व पुण्य-पाप के भाव बंध के कारण हैं तथा भोग सम्बन्धी सुख-दुख सभी 'नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं' वे एक शुद्ध चैतन्यद्रव्य के स्वभाव नहीं हैं।

भाई! व्यवहाररत्नत्रय के भाव भी यदि कर्ताबुद्धि से हुए हैं तो वे भी बन्धभाव हैं। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम शुभभाव हैं और उनमें कर्तृत्वबुद्धि संसारसम्बन्धी बन्ध का भाव है तथा त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ शुद्धरत्नत्रय का परिणाम द्रव्यस्वभाव होने से अव्यभिचारीभाव है।

यह बात पुण्य-पाप अधिकार के कलश १०६-१०७ में भी आ गई है कि ज्ञान का होना एकद्रव्यभाव होने से शुद्ध है, पवित्र है, मोक्ष का कारण है; जबकि कर्म (राग) का होना अन्यद्रव्य के स्वभावरूप होने से मोक्ष का कारण नहीं है, बंध का कारण है।[३]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३३
३. वही, पृष्ठ ३६-३७

अब इसी भाव के पोषक और आगामी गाथाओं की उत्थानिका रूप कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं –

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं,
कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे;
स्वीकृतैव हि बहिर्लुंठतीह ॥ १४८ ॥

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः,
स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः;
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९ ॥

(हरिगीत)

जबतक कषायित न करें सर्वांग फिटकरि आदि से ।
तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥
बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते पर परीग्रहभाव को ना प्राप्त हों ॥ १४८ ॥

रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में ।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥ १४९ ॥

जिसप्रकार जो वस्त्र नमक और फिटकरी आदि से कषायला नहीं किया गया हो, उस वस्त्र पर रंग सर्वांग नहीं चढ़ता है, रंग उस वस्त्र के बाहर ही लोटता रहता है; उसीप्रकार रागरस से अकषायित ज्ञानियों के भी कर्म परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते, बाहर ही लोटते रहते हैं।

क्योंकि ज्ञानी जीव निजरस से सम्पूर्ण रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला होता है; इसकारण वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ होने पर भी सभी प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता।

इन छन्दों का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"ज्ञानी रागरस से रिक्त है। ज्ञानी को चिदानन्दरूप भगवान आत्मा के प्रेम के कारण राग का प्रेम छूट गया है। राग नहीं छूटा, पर का, राग का रस फीका

पड़ गया है, राग के प्रति राग नहीं रहा, इसकारण उसे राग की क्रिया में एकत्व-ममत्व नहीं रहा।

अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आनन्दरस की रुचि में ज्ञानी के बन्धभावस्वरूप राग का रस उड़ गया है। इसकारण उनके पुण्य-पापरूप कर्म परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होते। ज्ञानी पुण्य-पाप की क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता।

यद्यपि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि क्रिया ज्ञानी के होती हैं; परन्तु उसमें उसे अपनापन नहीं है। इसकारण वह परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होती। जबतक पूर्ण वीतराग न हो जाय, तबतक ज्ञानी के यथासंभव रागभाव आता है; परन्तु वह उसका हेयरूप आचरण है, रुचि व उत्साहपूर्वक नहीं।

यह बात शुभराग के रसिकों को अटपटी लगती है, उनके गले नहीं उतरती; पर क्या करें, बात तो यही यथार्थ है। अन्ततः तो यही स्वीकार करना होगा, धर्म करने और सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

ज्ञानी के रागरूप रस नहीं है – इसका अर्थ यह नहीं लेना कि उसके राग ही नहीं है; राग तो है, पर उसमें रुचि नहीं है। यदि राग ही न रहा हो, तब तो उसे पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ परमात्मा बन जाना चाहिए। पर ऐसा तो हुआ नहीं। अतः राग में रस नहीं का अर्थ उसमें एकत्व, ममत्व या हितबुद्धि का न होना ही है।[१]

अब कहते हैं कि ज्ञानी कर्मों के मध्य पड़ा होने पर भी सर्वकर्मों से निर्लिप्त रहता है। तथा कर्मजनितसामग्री – स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी आदि के मध्य रहता है एवं अन्दर में रागादि पुण्य-पाप होते हैं, उन सब क्रियाओं को करता हुआ भी वह कर्मों से लिप्त नहीं होता।[२]"

उक्त छन्दों का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ४२-४३
२. वही, पृष्ठ ४८

(सवैया इकतीसा)

जैसें फिटकड़ी लौद हरड़े की पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीर मैं ।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीर मैं ॥
तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रह की भीर मैं ।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करैं,
जाचै न जगत सुख राचै न सरीर मैं ॥

(दोहा)

ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोई ।
चित उदास करनी करै, करम बंध नहिं होइ ॥

जिसप्रकार फिटकरी, लोद और हरड़े का पुट दिये बिना सफेद वस्त्र को मजीठ रंग में चिरकाल तक डाले रखने पर, उसके भीगे रहने पर भी वह सम्पूर्णत: लाल नहीं होता, उसके अंतर में कहीं-कहीं सफेदी बनी ही रहती है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव यद्यपि दिन-रात परिग्रह की भीड़ में रहता है; तथापि मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण पूर्वसंचितकर्मों की निर्जरा करता है, नवीन बंध को रोकता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव न तो शरीर में मग्न रहते हैं और न ही विषयसुख की वांछा ही रखते हैं।

ऐसे ज्ञानी जीव रागद्वेषादि मल से अलिप्त रहकर अपने ज्ञानस्वभाव में ही मगन रहते हैं। जगत में अपनी भूमिकानुसार जो कार्य करते हैं, उसके प्रति भी उदास ही रहते हैं; इसकारण उन्हें कर्मों का बंध नहीं होता।

इस अवसर पर कविवर बनारसीदासजी एक छन्द और भी लिखते हैं, जिसमें सोदाहरण यह बात स्पष्ट करते हैं कि परिग्रह की भीड़ में रहकर भी ज्ञानी जीव किसप्रकार अलिप्त रहते हैं और कर्मबंध से बचे रहते हैं।

उनका कथन मूलत: इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू देस कौ बसैया बलवंत नर,
जंगल मैं जाइ मधु-छत्ता कौं गहतु है ।
वाकौं लपटांहि चहुंओर मधु-मच्छिका पै
कंबल की ओटसौं अडंकित रहतु है ॥
तैसैं समकिती सिवसत्ता कौ स्वरूप साधै,
उदै की उपाधि कौं समाधिसी कहतु है ।
पहिरै सहज कौ सनाह मन मैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है ॥

जिसप्रकार किसी देश का वासी कोई बलवान पुरुष जंगल में जाकर मधु-मक्खियों के छत्ते को ग्रहण करता है, तोड़ता है। इसकारण उस पर मधु-मक्खियाँ चारों ओर से आक्रमण करती हैं, उससे लिपट जाती हैं; फिर भी वह कम्बल की ओट ले लेने के कारण मधुमक्खियों के डंक से अडंकित ही रहता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी उदय की उपाधियों से घिरे रहने पर भी शिवसत्ता के स्वरूप को साधते हैं, मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, मानो समाधि में ही रहते हैं। वे सहजता का बख्तर पहिने रहते हैं, मन में अति उत्साहित रहते हैं, अतीन्द्रिय आनंद की राह में डटे रहते हैं और उद्वेग को प्राप्त नहीं होते। इसप्रकार उनके सहज ही मोक्षमार्ग सधता है।

इसप्रकार इन कलशों में यही कहा गया है कि कर्मों के मध्य में पड़े हुए भी ज्ञानीजन कर्मों से लिप्त नहीं होते, परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते। •

सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। – **आप कुछ भी कहो**, पृष्ठ १३

समयसार गाथा २१८-२१९

जो बात विगत कलश में कही गई है, अब वही बात आगामी गाथाओं में कहते हैं।

वे गाथायें इसप्रकार हैं –

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥ २१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहाँ लोहं ॥ २१९॥

पंकगत ज्यों कनक निर्मल कर्मगत त्यों ज्ञानिजन ।
राग विरहित कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥ २१८॥
पंकगत ज्यों लोह त्यों ही कर्मगत अज्ञानिजन ।
रक्त हों परद्रव्य में अर कर्मरज से लिप्त हों ॥ २१९॥

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ भी सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के प्रति राग छोड़ने वाला ज्ञानी कर्मों के मध्य में रहा हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता और जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों के प्रति रागी और कर्मरज के मध्य स्थित अज्ञानी कर्मरज लिप्त हो जाता है।

यहाँ कीचड़ में पड़े हुए सोने और लोहे का उदाहरण देकर ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति और उसके फल को बताया गया है।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र भी इसी बात को मात्र दुहरा देते हैं; जो इसप्रकार है –

"जिसप्रकार अपने अलेपस्वभाव के कारण कीचड़ में पड़ा सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार सर्व परद्रव्यों के प्रति होनेवाले राग के त्यागस्वभावी अलेपस्वभाववाला होने से ज्ञानी कर्मों के मध्यगत होने पर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता तथा जिसप्रकार अपने लेपस्वभाव के कारण कीचड़

में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है; उसीप्रकार सर्व परद्रव्यों के प्रति होने वाले राग के ग्रहणस्वभावी लेपस्वभाववाला होने से अज्ञानी कर्मों के मध्यगत होने पर कर्मों से लिप्त हो जाता है।''

इसी बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

''यहाँ तो यह सिद्धान्त है कि परद्रव्य के प्रति करने में आते हुए राग के त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी राग को ग्रहण नहीं करता, किन्तु राग को अपने ज्ञान का ज्ञेय मात्र बनाकर परज्ञेयरूप से केवल जानता ही है। ज्ञानी अपने में उत्पन्न हुए राग में लिप्त होकर राग को नहीं जानते हैं, किन्तु अपने में रहकर राग को छुए बिना ही उसको मात्र जानते हैं।

ज्ञानी के जो रागरूप व्यवहार होता है, वह तो उसे केवल ज्ञाता-दृष्टाभाव से जानता है, कुछ करता नहीं है।[१]

यह शुभराग साधन है, शरीर साधन है, वाणी साधन है, परद्रव्य साधन है – ऐसा पर से एकत्व मानने वाला वास्तव में अज्ञानी है और वह कर्म के बीच में रहता हुआ कर्म से लिप्त होता है। यहाँ कर्म के बीच रहता हुआ का अर्थ है व्रत, तप, भक्ति आदि क्रियायें करते हुए अज्ञानी कर्मों से लिप्त होता है – बंधता है।

देखो, जिसका स्वभाव शुभराग के ग्रहणरूप है, वह अज्ञानी है। अज्ञानी के राग को ग्रहणरूप स्वभाव है और ज्ञानी के राग का त्यागरूप स्वभाव है। दोनों में बड़ा भारी अन्तर है।[२]

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी शुभाशुभ परिणाम के मध्य में रहता है तो भी उसे कर्म बंध नहीं होता; क्योंकि शुभाशुभ के काल में भी उसकी दृष्टि शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर है। तथा अज्ञानी कर्म से बंधता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शुभाशुभभावों पर है। शुभाशुभपरिणाम ही मैं हूँ – ऐसी अज्ञानी की परिणाम ऊपर दृष्टि है, इसकारण वह बंधता है। ऐसी ज्ञान व अज्ञान की महिमा है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही, पृष्ठ ५६

अब विगत गाथाओं के भाव का पोषक और आगामी गाथाओं के कथन का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

याद्दक् ताद्दगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्याद्दशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १५० ॥

(हरिगीत)

स्वयं ही हों परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें ।
अर अन्य के द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें ॥
जिम परजनित अपराध से बंधते नहीं जन जगत में ।
तिम भोग भोगे किन्तु ज्ञानीजन कभी बंधते नहीं ॥ १५० ॥

इस जगत में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वह उसके ही कारण है, पूर्णतः स्वाधीन है; उसे अन्य वस्तुओं के द्वारा किसी भी रूप में अन्यरूप नहीं किया जा सकता, उसे बदला नहीं जा सकता। इसकारण जो ज्ञानी जीव निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होते हैं, वे कभी भी अज्ञानरूप नहीं होते। इसलिए हे ज्ञानी! तू कर्मोदयजनित उपभोग को भोग; क्योंकि पर के अपराध से उत्पन्न होने वाला बंध तुझे नहीं है। तात्पर्य यह है कि शारीरिक जड़क्रिया से तुझे बंध नहीं होता।

उक्त कलश में **ज्ञानिन् भुंक्ष्व** इस पद ने सभी टीकाकारों का ध्यान विशेष आकर्षित किया है। इस पद का सीधा अर्थ यही होता है कि हे ज्ञानी! तू भोगों को भोग।

यहाँ ऐसा लगता है कि यहाँ आचार्यदेव ज्ञानीजनों को भोग भोगने की प्रेरणा दे रहे हैं; जो प्रथम दृष्ट्या सभी को अटपटा लगता है। इसकारण सभी ने इसपर समुचित प्रकाश डाला है।

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"वस्तु का स्वभाव वस्तु के अपने आधीन ही है। इसलिये जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है; उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। ऐसा होने से यहाँ ज्ञानी से कहा है कि तुझे पर के अपराध से बंध नहीं होता; इसलिए तू उपभोग को भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोग के भोगने से मुझे बंध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से आत्मा का बुरा होता है' – ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जाएगा। – इसप्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिये कि भोग भोगने की प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है।"

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं –

"अब कहते हैं कि जब परद्रव्य से तू सदैव अप्रभावी ही है तो परद्रव्य के बीच रहने से क्यों डरता है? हे ज्ञानी! तू कर्मोदय जनित उपभोग को भोग – ऐसा कहकर आचार्यदेव यहाँ भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं और न स्वच्छन्द होने की बात कह रहे हैं।[१]

प्रश्न : यहाँ जो 'भुंक्ष्व' कहकर भोग भोगने की छूट दे दी है, वह तो ठीक है न?

उत्तर : भाई! यह कलश लिखने वाले मुनिराज हैं, वे भला भोग भोगने की छूट दे सकते हैं? क्या वे भोग भोगने के लिए कहेंगे? अरे भाई! कथन का अभिप्राय समझना चाहिए। भाई! ज्ञानी भोग भोगता ही कहाँ है? यहाँ 'भुंक्ष्व' का अर्थ तो यह है कि परद्रव्य से तुझे कोई हानि नहीं है – ऐसा कहकर आचार्य ने आत्मा की स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए तुझे निशंक किया है। शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया या बाह्यसंयोगों के कारण धर्मी को अपराध नहीं होता – ऐसा कहकर परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष कम करने एवं वहाँ से उपयोग हटाकर आत्मा में ले जाने के लिए वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराया है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ५८
२. वही, पृष्ठ ५९

तात्पर्य यह है कि कदाचित् तेरा उपयोग वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से बाह्यसामग्री में जावे तो तू चिन्ता मत कर। उस बाह्यसामग्री के कारण – पर के कारण तुझे कोई नुकसान नहीं होता। उन बाह्यसामग्रियों की चिन्ता मत कर। हाँ, तेरा लक्ष्य जो वहाँ गया है और विकल्प उठा है, वह तेरे ही पुरुषार्थ की कमजोरी है, तेरा ही दोष है; अपनी कमजोरी को देख। परवस्तु के कारण दोष नहीं हुआ, अत: पर से लक्ष्य हटा, उस पर रुष्ट-तुष्ट मत हो। जो पैसे का खूब संचय हुआ और शरीर की क्रिया विषय-कषायरूप हुई, उस पैसे या शरीर की क्रिया से हानि नहीं हुई, बल्कि उस समय जो तेरे भावों में उस वस्तु से एकत्व-ममत्व हुआ, वह विपरीत भाव ही तेरी हानि का कारण है, उस पर ध्यान दे।

अज्ञानी आजतक अपनी भूल को पर या संयोगों पर ही टालता रहा है – यह कलश इसी सत्य का उद्घाटन करने के लिए है, न कि भोग भोगने की छूट देने के लिए।[१]

यहाँ भोगने का अर्थ संयोगों के बीच रहना मात्र है, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि में संयोग तो परवस्तु है और परवस्तु में उसे अनुराग-एकत्व-ममत्व होता ही नहीं है; अत: उसके बंध कहाँ से होगा? बंध का कारण संयोग नहीं, उसमें एकत्व-ममत्व है, जो ज्ञानी के होता नहीं है।

भाई! यह सिद्धान्त स्वच्छन्दी होने के लिए नहीं है, किन्तु तुझे पर के कारण दोष होता है – ऐसी शंका से मुक्त होने के लिए है।

चक्रवर्ती को एक-एक मिनट की अरबों की आमदनी होती है, भारी नवनिधान होते हैं, तो भी उन्हें कभी ऐसी शंका नहीं होती कि इस वैभव और इन बड़े भारी संयोगों के कारण मुझे बंध हो रहा है या मैं अपराधी हूँ। भाई! बाह्य संयोगों से छोटे-बड़े अपराध का माप नहीं है और संयोगों को छोड़ा – इससे कोई निरपराधी नहीं हो जाता।[२]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ५९, ६०

२. वही, पृष्ठ ६२, ६३

उक्त सन्दर्भ में जो कुछ भी लिखा गया है, वह सर्वांग और पर्याप्त होने पर भी न मालूम क्यों पाठकों का उपयोग अधिकांश इसी बात पर केन्द्रित हो जाता है कि यहाँ आचार्यदेव भोग भोगने की पुष्टि नहीं कर रहे हैं; इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि आखिर आचार्यदेव उक्त शब्दों का प्रयोग करके हमें क्या समझाना चाहते हैं? वे क्या नहीं चाहते की अपेक्षा, वे क्या चाहते हैं? - यह जानना बहुत आवश्यक है।

यहाँ सर्वत्र ही ज्ञानी माने सम्यग्दृष्टि और अज्ञानी माने मिथ्यादृष्टि ही होता है। यद्यपि चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों के चक्रवर्ती के समान भोगसामग्री हो सकती है और भूमिकानुसार उसका उपभोग भी हो सकता है; तथापि उसे मिथ्यात्व की भूमिका में होनेवाला बंध तो होता ही नहीं है; गुणस्थानानुसार जो भी बंध होता है, वह भी परपदार्थों या उनके उपभोग के कारण नहीं होता, अपितु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप चारित्रमोह के उदयानुसार होने वाले स्वयं के रागादि भावों के कारण ही होता है।

वस्तुतः यह कथन इस महासत्य की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता है कि परद्रव्य की क्रिया के कारण आत्मा में कोई बंध नहीं होता। जैसा कि जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ में भी संकेत किया गया है; जो इसप्रकार है -

"यदि ऐसी शंका करेगा तो परद्रव्य से अपना बुरा होता है - ऐसी मान्यता का प्रसंग आयेगा। इसप्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की भूल मिटाई है।"

स्वामीजी भी इसी बात पर वजन देते हैं। उनका कथन इसप्रकार है -

"यहाँ यह सिद्धान्त प्रसिद्ध कर रहे हैं कि धर्मी की आत्मवस्तु का स्वभाव जो शुद्ध व पवित्र है, वह पर के कारण परिवर्तित नहीं होता। भले ही वह प· के बीच में रहे, तो भी परसामग्री से प्रभावित नहीं होता, कोई भी परद्रव्य उस· पररूप नहीं परिणमा सकता। परपदार्थ या कर्मोदय आदि के कारण भी आत्म। अपराधी नहीं होता।[१]

यहाँ कहते हैं कि ये कर्म, शरीर, लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि परद्रव्यों के कार०। आत्मा को अज्ञान व बंध नहीं होता। स्वयं को जो पूर्व में अज्ञान था, वह भी

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ५।

पर के कारण नहीं हुआ था, स्वयं ने ही पर से, राग से एकताबुद्धि की थी; उससे अज्ञान हुआ था और अब स्वयं ने स्वद्रव्य के लक्ष्य से अज्ञान टालकर ज्ञान प्राप्त किया है। कोई परद्रव्य किसी को अज्ञानरूप कर दे – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।[१]

अब कहते हैं कि यहाँ जो यह कहा है कि तुझे पर के अपराध से बंध नहीं होता, इसलिए तू परद्रव्य को भोग – इसका अर्थ यह है कि तू वर्तमान में भले ही परद्रव्य के संयोग में दिखाई दे, परन्तु उस संयोग से तुझे बंध नहीं होता। यहाँ भोगने का अर्थ यह है कि तू संयोग में हो तो हो, उससे तुझे बन्धन नहीं होता। तथा भले कोई बाहर के संयोगों को घटाकर त्यागी बन जाय, तो भी यदि आत्मानुभव नहीं हुआ तो केवल संयोग कम या अधिक होने से कर्म का बन्धन कम या अधिक नहीं होता, बल्कि संयोगीभाव टूटने से बन्धन कटता है।[२]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस कलश का पूरा वजन इस बात पर ही है कि शरीरादि जड़क्रिया के कारण बंध नहीं होता, अपने रागादि भाव ही बंध के मूल कारण हैं।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहू कौ सुभाउ न गहतु है ।
जैसें संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटी सौ न दीसै नित उज्जल रहतु है ॥
तैसे ग्यानवंत नाना भोग परिग्रह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है ।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ६२

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जो पदार्थ जैसा होता है, उसमें वैसा ही स्वभाव सिद्ध होता है। कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण नहीं करता। जिसप्रकार उज्वल वर्णवाला शंख अनेक रंगों की माटी का भक्षण करता है; परन्तु वह मिट्टी के रंग का दिखाई नहीं देता, अपितु निरन्तर उज्वल ही रहता है; उसीप्रकार ज्ञानीजन अनेक प्रकार भोगों को भोगते हैं और परिग्रह के संयोग में रहते हैं; फिर भी अज्ञानता को प्राप्त नहीं होते; बल्कि उनकी ज्ञानकला दिन-दूनी बढ़ती है, सभीप्रकार के द्वन्द समाप्त हो जाते हैं और उनकी भवस्थिति घट जाती है, संसार समुद्र का किनारा आ जाता है।

इस छन्द में जो शंख का उदाहरण दिया गया है; यद्यपि वह मूल कलश में नहीं है; तथापि वह आगामी गाथाओं में आया है; किन्तु बनारसीदासजी ने वहाँ से न लेकर राजमलजी की कलश टीका से लिया है। कलश टीका में इसे आगामी गाथाओं से लिया गया है; क्योंकि वे समयसार की टीका तो लिख नहीं रहे थे; यदि वे इसे यहाँ न लेते तो यह उपयोगी उदाहरण छूट ही जाता। विषयवस्तु के स्पष्टीकरण में उसकी उपयोगिता जानकर ही उन्होंने कलश टीका में उसे ले लिया है और बनारसीदासजी ने तो नाटक समयसार के अन्त में समागत प्रशस्ति में यह स्पष्ट कर ही दिया है कि वे यह नाटक समयसार की राजमली बालबोधनी कलश टीका के आधार पर लिख रहे हैं।

शंख संबंधी इस उदाहरण की चर्चा आगामी गाथाओं में विस्तार से होगी ही; अत: इस सन्दर्भ में यहाँ कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं है।

इसके बाद आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में तीन गाथायें आती हैं; जो आत्मख्याति में नहीं हैं। वे गाथायें इसप्रकार हैं –

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण॥
कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि॥

झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥

नागफणी की जड़, हथिनी का मूत्र, सिन्दूर एवं सीसा नामक धातु को धोंकनी से धोंक कर अग्नि पर तपाने से सुवर्ण बन जाता है।

कर्म कीट है, रागादि कालिमा है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परम औषधि है, ध्यान अग्नि है, बारह प्रकार का तप धोंकनी है, जीव लोह है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए उक्त धोंकनी को परमयोगियों को धोंकना चाहिए।

इन गाथाओं की टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में सोना बनाने की प्रक्रिया में अति महत्त्वपूर्ण एक बात और जोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि उक्त विधि से भी सोना तभी बनता है, जब हमारे उस जाति का पुण्योदय हो। पुण्योदय के अभाव में सोना बनना संभव नहीं है।

जिसप्रकार उक्त विधि से सोना बन जाता है; उसीप्रकार आसन्न भव्यजीव तपश्चरणरूपी धोंकनी से ध्यानरूपी अग्नि को धोंककर, जीवरूपी लोहे की द्रव्यकर्मरूपी किट्टिमा और रागादिविकाररूपी कालिमा को जलाकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी परमौषधि को प्राप्त कर अनन्त सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।

अत: परमयोगियों को तपश्चरणरूपी धोंकनी से ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए – यही भाव है उक्त गाथाओं का।

प्रश्न : मूल गाथाओं में तो सोना बनाने की विधि में पुण्योदय की शर्त नहीं है; फिर टीका में उसे क्यों जोड़ा गया ?

उत्तर : अरे, भाई! सोना बनाने की विधि तो मात्र उदाहरण के लिए दी है; मूल बात तो मोक्षसुख प्राप्त करने की है। यदि कोई व्यक्ति उक्त विधि से सोना बनाने का प्रयास करे और कदाचित् सोना न बने तो वह व्यर्थ की शंका-आशंकायें न करे – तदर्थ पुण्योदय की बात जोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ। एक बात यह भी तो है कि लोक में कहीं भी तो पुण्योदय के बिना सफलता नहीं मिलती। सोना बनाने की विधि में भी तो यह तथ्य लागू होगा ही। ●

समयसार गाथा २२० से २२३

जो बात १५०वें कलश में कही गई थी, अब उसी बात को आगामी गाथाओं में उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहे हैं, जो इसप्रकार है –

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं ॥ २२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥ २२१॥
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥ २२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥ २२३॥

ज्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते ।
भी संख के शुक्लत्व को ना कृष्ण कोई कर सके ॥ २२०॥
त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते ।
भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके ॥ २२१॥
जब स्वयं शुक्लत्व तज वह कृष्ण होकर परिणमे ।
तब स्वयं ही हो कृष्ण एवं शुक्ल भाव परित्यजे ॥ २२२॥
इस ही तरह जब ज्ञानिजन निजभाव को परित्यागकर ।
अज्ञानमय हों परिणमित तब स्वयं अज्ञानी बनें ॥ २२३॥

जिसप्रकार अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगते हुये, खाते हुये भी शंख का श्वेतभाव कृष्णभाव को प्राप्त नहीं होता, शंख की सफेदी को कोई कालेपन में नहीं बदल सकता; उसीप्रकार ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगे तो भी उसके ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

जिसप्रकार जब वही शंख स्वयं उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर कृष्णभाव (कालेपन) को प्राप्त होता है; तब काला हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञानी भी जब स्वयं ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानता को प्राप्त हो जाता है।

उक्त गाथाओं में शंख का उदाहरण देकर यही स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार श्वेत शंख काले पदार्थों को खाने से काला नहीं होता; अपितु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है, तब ही काला होता है। उसीप्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता, बँध को प्राप्त नहीं होता; किन्तु जब वह स्वयं अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानी हो जाता है और तभी उसे बँध भी होता है।

आत्मख्याति में इसी बात को जरा विस्तार से स्पष्ट किया गया है; जो इसप्रकार है –

"जिसप्रकार परद्रव्य के भोगने पर, परपदार्थों को खाने पर भी वे परपदार्थ शंख के श्वेतपन को कालेपन में नहीं बदल सकते; क्योंकि परद्रव्य किसी भी अन्यद्रव्य को परभावरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता; उसीप्रकार परद्रव्यरूप भोगों के भोगे जाने पर भी ज्ञानी के ज्ञान को वे परद्रव्य अज्ञानरूप नहीं कर सकते; क्योंकि परद्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य को परभावरूप करने का कारण नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त (कारण) से बंध नहीं होता।

और जब वही शंख परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ स्वयं ही श्वेतभाव को छोड़कर कृष्णभावरूप (कालेपनरूप) परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव को प्राप्त होता है। इसीप्रकार जब वही ज्ञानी परद्रव्यों को भोगता हुआ अथवा नहीं भोगता हुआ ज्ञानभाव को छोड़कर स्वयं ही अज्ञानभावरूप परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञानभावरूप हो जाता है। इसीलिए ज्ञानी के यदि बंध हो तो वह स्वयंकृत ही होता है, परकृत नहीं।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार शंख किसी अन्य पदार्थ के उपभोग के कारण कालेपन को प्राप्त नहीं होता, अपितु स्वयं ही होता है; उसीप्रकार ज्ञानी भी परपदार्थों के उपभोग के कारण बंध को प्राप्त नहीं होता, अपितु स्वयं के अपराध से ही बंध को प्राप्त होता है।

आत्मख्याति में समागत उक्त चार गाथाओं में से तीसरी गाथा के बाद एक गाथा तात्पर्यवृत्ति में आई है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा लगभग उक्त तीसरी गाथा के समान ही है। नीचे की पंक्ति तो दोनों में समान ही है, परन्तु ऊपर की पंक्ति में थोड़ा अन्तर है; जो इसप्रकार है –

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण

के स्थान पर नवीन गाथा में

जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण

पद पाया जाता है।

उक्त दोनों गाथाओं का अर्थ लगभग समान होने से आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में शंख के सजीव शंख और निर्जीव शंख – ऐसे दो भेद कर संगति बैठाई है। जिसप्रकार सजीव शंख अनेक प्रकार के परपदार्थों को भक्षण करता है, पर उन भक्ष्य पदार्थों के कारण श्वेत शंख का रंग बदलकर उन पदार्थों के रंगरूप नहीं हो जाता; उसीप्रकार अजीव श्वेत शंख पर भी चाहे जैसे पदार्थों का लेप हो, पर वह श्वेत शंख उन लेप वाले पदार्थों के कारण उनके रंगरूप नहीं हो जाता। इसप्रकार सजीव और अजीव शंखों को उदाहरण बनाकर वे एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं होता – इस महासिद्धान्त को समझाते हैं।

इसके अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति में समागत दो बातें और भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह कि वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि चतुर्थादि गुणस्थानों के योग्य सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को उपभोग करनेवाले ज्ञानी के स्वानुभूतिमय भेदविज्ञान को अज्ञानमय करने के लिए कोई भी शक्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि भोगों को चाहे जैसे भोगने की बात नहीं है, भूमिकानुसार उचित भोग भोगने की ही बात है और दूसरी बात यह है कि ज्ञानी के अज्ञानरूप

परिणमन में स्वकीय उपादानरूप अन्तरंग कारण ही समर्थ कारण है, निमित्तरूप बाह्य कारण नहीं।

उक्त दोनों बातों को उन्होंने पर्याप्त वजन के साथ प्रस्तुत किया है।

उक्त गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"टीका में दो शब्द आये हैं – **स्वयमेव** एवं **स्वयंकृत**। पहला शब्द है स्वयमेव अर्थात् स्वयं से ही। दूसरा शब्द है स्वयंकृत अर्थात् स्वयं से किया गया। तात्पर्य यह है कि वह शंख जब स्वयं से ही कृष्णभावरूप परिणत हुआ, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव को प्राप्त हुआ है।[१]

देखो, आत्मा स्वयमेव अज्ञानरूप से परिणमता है अर्थात् विषयभोगों में रुचि करके स्वयं ही अज्ञानभाव से परिणमित होता है। विषयभोगों में रसरूप-मिठासरूप जो अज्ञानभाव है, उसे अज्ञानी स्वयं ही करता है। मोहनीय कर्म का उदय उस अज्ञानभाव को नहीं करता; क्योंकि कर्म का उदयरूप निमित्त जीव के भावों को अज्ञानरूप नहीं करा सकता। जीव स्वयं ही अपने से ही अज्ञानभावों को करता है।

जब जीव स्वयमेव अज्ञानरूप से परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान भी स्वयंकृत अर्थात् अपने ही द्वारा अज्ञानरूप होता है, उसमें किसी अन्य का कर्तृत्व नहीं होता। देखो, दोनों ही कथनों में **स्वयमेव** व **स्वयंकृत** शब्द आते हैं। पहले शंख के दृष्टान्त में आया था कि शंख सफेद से स्वयं ही काला हुआ है तथा वह कालापन स्वयंकृत है, निमित्त से कराया हुआ नहीं है और अब सिद्धान्त में भी यही कहा है कि ज्ञान स्वयमेव अज्ञानरूप हुआ है तथा ज्ञान का अज्ञानरूप होना स्वयंकृत है, निमित्त से या कर्म से कराया हुआ नहीं है।[२]

प्रश्न : 'अपने ही अपराध के निमित्त से' का क्या अर्थ है?

उत्तर : इसका अर्थ यह है कि ज्ञान जो अज्ञानरूप होता है, वह अपने आत्मा के अपराध से ही होता है। शरीर की क्रिया या भोग की बाह्यक्रिया से

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ७, पृष्ठ ७३
२. वही, पृष्ठ ७४

नहीं। जब जीव स्वयं अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब उस अज्ञानरूप परिणमन से बंध होता है। पर में, विषय में मिठास आना अज्ञानकृत अपनी बुद्धि का ही परिणाम है; अत: उस अज्ञान से ही बन्ध होता है, भोग या विषयसामग्री से नहीं।[१]

भरत चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ थीं और उनके उन रानियों का उपभोग भी छह लाख पूर्व तक निरन्तर रहा। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं – ऐसे छह लाख पूर्व तक भरत के जीवन में भोगोपभोग सामग्री का संयोग रहा; परन्तु उसमें उन्हें एकपने की आसक्ति नहीं थी; इसकारण उनके बंध नहीं हुआ; परन्तु जितना-जितना अस्थिरताजनित राग था, उतने अंश में ज्ञानी के भी किंचित् अल्पराग होने से उतना अल्पबंध है।

वे सर्वथा अबंध ही हो गये थे – ऐसा इसका अर्थ नहीं समझ लेना। परन्तु इस अल्पबंध को यहाँ दृष्टि के विषय में गौण करके उन्हें अबन्ध कहा है। उस अल्पराग व तज्जनित बंध को यहाँ गिना नहीं है। देखो, वह अल्प दोष था; परन्तु ज्यों ही वे उग्र पुरुषार्थ करके अन्दर में ध्यान में चले गये तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। छहलाख पूर्व तक भोग की आसक्ति के दोष को अन्तर्मुहूर्त में फटाक से नष्ट कर दिया; उस अल्पदोष की क्या कीमत है, जिसे अन्तर्मुहूर्त में नष्ट किया जा सकता है। बस, इसीकारण उसे गौण कर दिया जाता है। तथा यहाँ इस प्रकरण में तो अज्ञानी के ही बन्ध है, ज्ञानी के नहीं – यह सिद्ध करना है।

देखो, राजा श्रेणिक ने सातवें नरक की तेंतीस सागर की आयु बांधी थी, परन्तु ज्यों ही उन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो एकदम तैंतीस सागर से घटकर केवल चौरासी हजार वर्ष की ही आयु रह गई।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि पर के कारण बन्ध नहीं, परन्तु पर में जो एकपने की आसक्ति है, उससे बन्धन होता है। ज्ञानी को पर में तीव्र आसक्ति नहीं है, इसकारण उसे वैसा बन्ध भी नहीं है। यत्किंचित् आसक्ति होने से यत्किंचित्

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ७, पृष्ठ ७४

बन्ध है, जिसकी यहाँ गिनती नहीं है; क्योंकि वह बन्ध अनन्तसंसार का कारण नहीं है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि ज्ञानीजन अपनी भूमिकानुसार जो भी भोग भोगते हैं; उन्हें उन भोगों के कारण कोई बंध नहीं होता। मिथ्यात्व की भूमिका में होने वाला अनन्त संसार का कारणरूप बंध तो ज्ञानी को होता ही नहीं है; चतुर्थादि गुणस्थानों की भूमिका में होने वाला जो भी अल्पबंध होता है, एक तो यहाँ उसे बंध के रूप में गिनते ही नहीं हैं और यदि गिनें भी तो भी वह भोगों के भोगने के कारण नहीं होता, तत्संबंधी रागादिभावों के कारण ही होता है; ज्ञानी की उपादानगत योग्यता के कारण ही होता है, परद्रव्यों के उपभोग के निमित्त से नहीं।

उक्त कथन का मर्म समझे बिना उसे ही आधार बनाकर भोगों में रत रहने वाले लोगों को सावधान करने की भावना से आचार्य अमृतचन्द उक्त गाथाओं की टीका लिखने के उपरान्त एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥ १५१ ॥

(हरिगीत)

कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं ।
फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से ।
तो बंध है बस इसलिए निज आतमा में रत रहो ॥ १५१ ॥

हे ज्ञानी! तुझे कभी भी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है; फिर भी यदि तू यह कहे कि 'परद्रव्य मेरा है ही नहीं और मैं उसे भोगता हूँ' – तो तू दुर्भुक्त

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ७, पृष्ठ ७६

ही है और यह महाखेद की बात है। यदि तू यह कहे कि 'सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता; इसलिये भोगता हूँ' तो क्या तू भोगने की इच्छा वाला है?

अरे भाई! तू ज्ञानरूप होकर शुद्धस्वरूप में निवास कर; अन्यथा यदि भोगने की इच्छा करेगा, अज्ञानरूप परिणमित होगा तो अवश्य ही अपने अपराध से ही बंध को प्राप्त होगा।

इस कलश के भाव को भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"ज्ञानी को कर्म करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्य के भोक्ता को तो जगत में चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा जाता है। और जो उपभोग से बंध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी के इच्छा बिना ही पर की जबर्दस्ती से उदय में आये हुये को भोगता है; वहाँ उसे बंध नहीं कहा। यदि यह स्वयं इच्छा से भोगे, तब तो स्वयं अपराधी हुआ और तब उसे बंध क्यों न हो?"

विगत कलश में जोर देकर यह कहा था कि तू भोगों को भोग! बंध के भय से भोगों से क्यों डरता है? ये भोग तो जड़ की क्रिया हैं, परद्रव्य की क्रिया हैं और परद्रव्य की क्रिया के कारण जीव को बंध नहीं होता; क्योंकि एक द्रव्य अन्य द्रव्य की क्रिया करने में समर्थ ही नहीं है। – इस बात को सुनकर यदि कोई निरर्गल भोगों में मग्न हो जावे तो उसे सावधान करते हुये इस कलश में कहा गया है कि भाई! तू यह क्यों नहीं समझता कि जिस अपेक्षा परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता, उस अपेक्षा तो कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता भी तो नहीं होता। अत: तुझे परद्रव्य को भोगने की भावना से विरक्त ही रहना चाहिए।

यदि यह बात परमसत्य है कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता तो यह भी तो परमसत्य ही है कि भोगने की भावना से, इच्छा से, कामना से बंध होता है। अरे भाई! तू भोगों की भावना रखे, कामना रखें और स्वयं को निर्बंध माने – यह तो उचित नहीं है, युक्तिसंगत नहीं है, शास्त्रसम्मत नहीं है। अत:

अब तू भोगने की भावना से विरत हो और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में निवास कर, उसी को जान, उसी का श्रद्धान कर और उसी का ध्यान कर; इससे ही तेरा कल्याण होगा।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जौलौं ग्यान कौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है ।
ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनि सौं,
जोगनि सौं उद्दम की रीति तैं बिछोहि है ॥
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंत कौ दिरोहि है ।
विषै सौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है ॥

अरे भाई! जबतक सम्यग्ज्ञान प्रकाशमान रहता है, तबतक बंध नहीं होता और जब मिथ्यात्वदशा वर्तती है, तब अनेक प्रकार का कर्मबन्ध होता है। रहस्य की इस बात को सुनकर भी तू विषयभोगों में लग गया है और तप-त्याग-संयम के प्रयत्न से बिछुड़ गया है। ऐसी स्थिति देखकर संत कहते हैं कि हे भाई! मेरी बात सुन!

अरे भाई! ऐसी स्थिति होने पर तू कहता है कि मैं सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हूँ। तेरी यह मान्यता तो एकान्त है और भगवान के प्रति विद्रोह का भाव है। इसलिये मैं कहता हूँ कि तू विषय-भोगों से विमुख होकर अनुभवदशा का आरोहण कर और मोक्ष सुख की टोह (खोज) में लग। तुझे ऐसी बुद्धि ही शोभा देती है।

इस संदर्भ में स्वामीजी का कहना यह है कि –

"जो ऐसा कहता है कि चाहे जैसा भी भोग क्यों न हो, तो भी उससे हमें क्या? वह वस्तुतः ज्ञानी ही नहीं है। ज्ञानी की ऐसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं होती। ज्ञानी को परद्रव्य के भोगने में किंचित् भी उत्साह नहीं होता, रुचि नहीं होती।

उसे तो भोग रोगवत् प्रतीत होते हैं। ज्ञानी को इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि नहीं होती।[१]

यदि कोई कहेगा कि परवस्तु के भोग से बन्ध नहीं होता – ऐसा शास्त्रों (सिद्धान्त) में कहा है, इसलिए भोगता हूँ, तो इसका अर्थ यह है कि उसे स्वयं तो भोगने की इच्छा है और शास्त्र का सहारा लेता है। उससे पूछते हैं कि तू तो यह बता कि तुझे स्वयं भोगने की भावना है कि नहीं, भोगने में रुचि व उत्साह है या नहीं? उत्साह है तो तुझे बंध अवश्य है; क्योंकि तू भोगने का रसिया है, तेरा चित्त भोगों से विरक्त (उदास) नहीं है। इसलिये कहते हैं तू तो ज्ञानरूप हो जा अर्थात् शुद्ध स्वरूप में निवास कर।[२]

यदि तू भोगने की इच्छा करेगा अथवा यदि तू अज्ञानरूप से परिणमित होगा तो निश्चित ही तू अपने अपराध से बंधेगा। अत: तू तो स्व-स्वरूप में निवास कर।

यहाँ यह नहीं कहा कि भोगोपभोग की सामग्री के कारण बंधेगा, बल्कि यह कहा है कि अपने शुद्ध चैतन्य रस को भूलकर विषयरस में – रागरस में जुड़ेगा तो वह तेरा ही अपराध है और उस अपराध से तू बंध को अवश्य प्राप्त होगा।[३]''

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि यद्यपि भोग भोगने रूप जड़ की क्रिया से बंध नहीं होता; तथापि भोगने की भावना और भोगों में सुखबुद्धि से बंध अवश्य होता है; अत: ज्ञानियों को भोगों से विरत ही रहना चाहिए।

अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाण: फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मण: ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनि: ॥ १५२॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग – ७, पृष्ठ ८०
२. वही, पृष्ठ ८१
३. वही, पृष्ठ ८२

(हरिगीत)

तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को ।
फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता ॥
फलाभिलाषाविरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें ।
सब कर्म करते हुए भी वे कर्मबंधन ना करें ॥ १५२॥

कर्म (कार्य) उसके कर्त्ता को फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता अर्थात् कर्म कर्त्ता से यह नहीं कहता कि तू मेरे फल को भोग; अपितु फल की इच्छावाला व्यक्ति ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को प्राप्त करता है। कर्म के प्रति राग नहीं रखनेवाले और ज्ञानरूप रहनेवाले मुनिराज कर्मफल के त्यागरूप स्वभाववाले होने से कर्म करते हुए भी कर्म से नहीं बंधते।

कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी इस कलश में समागत मुनि शब्द का अर्थ **शुद्धस्वरूप के अनुभव से विराजमान सम्यग्दृष्टि जीव** करते हैं। वे एक बार नहीं, अनेक बार सम्यग्दृष्टि शब्द का ही प्रयोग करते हैं, कलश का पूरा अर्थ सम्यग्दृष्टि पर ही घटित करते हैं। उनकी टीका के कतिपय अंश इसप्रकार हैं –

"इसलिए जिसप्रकार किसी जीव के अशुभ कर्म के उदय से रोग, शोक, दारिद्र आदि होते हैं, उन्हें छोड़ने को जीव बहुत ही प्रयत्न करता है; परन्तु अशुभ कर्म के उदय से नहीं छूटता है, इसलिए भोगना ही पड़े। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के, पूर्व में अज्ञान परिणाम के द्वारा बाँधा है जो सातारूप असातारूप कर्म, उसके उदय से अनेकप्रकार की विषयसामग्री होती है, उसे सम्यग्दृष्टि जीव दुखरूप अनुभवता है, छोड़ने का बहुत ही प्रयन्त करता है; परन्तु जबतक क्षपक श्रेणी चढ़े, तबतक छुटना अशक्य है; इसलिए परवश हुआ भोगता है। हृदय में अत्यन्त विरक्त है; इसलिए अरंजक है, इसलिए भोगसामग्री को भोगते हुए कर्म का बंध नहीं है, निर्जरा है।

भावार्थ इसप्रकार है कि जो क्रिया को नहीं करता; उसको क्रिया के फल की प्राप्ति नहीं होती। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव को बंध नहीं होता, निर्जरा होती है। कारण कि सम्यग्दृष्टि जीव भोगसामग्री क्रिया का कर्ता नहीं है, इसलिए क्रिया का फल नहीं है कर्म का बंध, वह तो सम्यग्दृष्टि के नहीं है।

जो कोई पुरुष क्रिया करता है, निरभिलाष होकर करता है; उसको तो क्रिया का फल नहीं है।''

इसीभाव को ग्रहण कर कविवर बनारसीदासजी अनेक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार हैं –

(चौपाई)

ग्यानकला जिनके घट जागी। ते जगमांहि सहज वैरागी ।
ग्यानी मगन विषैसुख मांही। यह विपरीत संभवै नांही ॥

(दोहा)

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधैं समकाल ।
ज्यों लोचन न्यारे रहैं, निरखैं दोउ नाल ॥

(चौपाई)

मूढ़ करम कौ करता होवै। फल अभिलाष धरै फल जोवै ।
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी। लगै न लेप निर्जरा दूनी ॥

(दोहा)

बंधै करम सौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम ।
खुलै करम सौं समकिती, गोरख धंधा जेम ॥

जिनके हृदय में ज्ञानकला जागृत हो जाती है, वे ज्ञानी जीव सहज ही वैरागी होते हैं; क्योंकि ज्ञानी जीव विषय-भोगों में मग्न रहें – यह बात जगत में संभव ही नहीं है।

जिसप्रकार दोनों आँखें जुदी-जुदी होने पर भी देखती तो एक साथ ही हैं; उसीप्रकार ज्ञान की शक्ति और वैराग्य का बल – यद्यपि जुदे-जुदे हैं, तथापि मुक्तिमार्ग को दोनों एककाल में एक साथ ही साधते हैं।

मूढ़ जीव परद्रव्यों के उपभोगरूप कार्यों का कर्त्ता बनता है और फल की अभिलाषा रखता है, उसी पर दृष्टि जमाये रखता है; किन्तु ज्ञानीजीव फल की कामना से रहित होकर उदयानुसार क्रिया में प्रवर्तते हैं; इसकारण उन्हें बंध नहीं होता और निर्जरा दुगुनी होती है।

जिसप्रकार रेशम का कीड़ा अपने शरीर पर अपने आप ही जाल पूर लेता है; उसीप्रकार मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं ही कर्मबंधन को प्राप्त होता है और

जिसप्रकार गोरखधंधा नामक कीड़ा स्वयं जाल से निकल जाता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव स्वयं कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है।

उक्त छन्दों में बनारसीदासजी ने कलश का अनुवाद न करके कलशटीका के भाव को आत्मसात करके उसे ही सहजता से अपनी भाषा में प्रस्तुत कर दिया है।

उक्त कलश का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"देखो, पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री यह नहीं कहती कि तू मुझे भोग। फल की इच्छावाला ही कर्म करता हुआ कर्म के फल को प्राप्त करता है।[१]

यहाँ कर्म शब्द का अर्थ क्रिया है। कर्म के उदय से मिली जो सामग्री, उसके उपभोग की जो क्रिया होती है, वह क्रिया बलजोरी से कर्त्ता को अपने फल के साथ नहीं जोड़ती। क्रिया किसी से भी जबरदस्ती से यह नहीं कहती कि हे आत्मा! तू मेरे फल के साथ अपने उपयोग को जोड़, मेरे फल में राग-द्वेष कर।[२]

उसके राग की क्रिया तो होती है, पर राग की भावना नहीं होती। 'यह राग ठीक है और इसका फल मुझे मिले' ऐसी भावना ज्ञानी के होती ही नहीं है। मेरे द्वारा जो यह शुभक्रिया हो रही है, इसके फल में मुझे स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो – ऐसी भावना ज्ञानी के नहीं है।

यह निर्जरा अधिकार है न? अत: यहाँ कर्म की निर्जरा बताना है। अत: कहते हैं कि कर्म का झरना, अशुद्धता का नाश और शुद्धता की उत्पत्ति में वृद्धि होना – इसतरह ज्ञानी के तीन प्रकार से निर्जरा होती है।

अज्ञानी ऐसा कहता है कि काम तो करो पर अनाशक्त भाव से करो, पर उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसके इस कथन में कर्तृत्व की गंध आती है, जबकि आत्मा तो परद्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता है ही नहीं।

ज्ञानी के जो पर में कुछ करने-कराने का राग आता है, वह तो उसकी पुरुषार्थ की कमजोरी से आता है। वह उस क्रिया का कर्त्ता नहीं बनता। उसे उस कर्तृत्व

१. प्रवचनरत्नाकर भाग – ७, पृष्ठ ८४
२. वही, पृष्ठ ८५

में तो किंचित् भी रस नहीं है। इसीकारण उसे उस क्रिया के निमित्त से होनेवाला बंध नहीं होता; बल्कि पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही हो जाती है।[१]

जिसने अपनी दृष्टि को निमित्त से, राग से व एक समय की पर्याय पर से हटाकर शुद्ध एक ज्ञायकभावरूप सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा पर लगा दी है, उसकी अन्य कहीं भी रुचि नहीं रहती। उसे भोगों का विकल्प आता है; परन्तु उसे उस विकल्प में रस नहीं है, उसे वे विकल्प जहर की भाँति लगते हैं। इसकारण उसके बंध नहीं होता। अज्ञानी को राग में मिठास आती है, उसे राग में रस है – इसकारण राग का फल वर्तमान की भाँति ही भविष्य में भी मिलेगा, ऐसी उसकी इच्छा होती है; किन्तु ज्ञानी के तो इच्छा की निर्जरा हो जाने से भविष्य में भी उसके फल में भोग प्राप्त नहीं होते।[२]''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि कलश टीकाकार ने यहाँ मुनि शब्द का अर्थ जो सम्यग्दृष्टि किया है; क्या वह अनुचित नहीं है?

नहीं, अनुचित नहीं है; क्योंकि जिन गाथाओं की उत्थानिका में यह कलश लिखा गया है; उन आगामी गाथाओं में स्पष्टरूप से सम्यग्दृष्टि शब्द का ही प्रयोग है और आगे आनेवाली गाथाओं में सम्यग्दृष्टि की महिमा और उसके आठ अंगों का विवेचन किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ मुनि शब्द से सम्यग्दृष्टि ही अपेक्षित हैं। अत: यहाँ किसी भी प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है।

एक बात यह भी तो है कि चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्धभगवान तक सभी सम्यग्दृष्टि ही तो हैं; अत: सम्यग्दृष्टियों में मुनिराज भी आ ही जाते हैं।

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि भोगरूप कर्म तो कर्त्ता आत्मा से यह नहीं कहते कि तुम हमें भोगो; किन्तु भोगों की वांच्छावाला अज्ञानी जीव स्वयं उनसे जुड़कर उन्हें भोगता है और कर्मबंधन को प्राप्त होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मुनि कर्मफल की वांच्छा से रहित होने के कारण, ज्ञानरूप रहने के कारण भोगरूप कर्म में प्रवर्तित होते हुए भी कर्मबंधन को प्राप्त नहीं होते। ●

१. प्रवचनरत्नाकर भाग – ७, पृष्ठ ८६
२. वही, पृष्ठ ८७

समयसार गाथा २२४-२२७

जो बात उत्थानिकारूप विगत कलश में कही गई है, अब उसी बात को गाथाओं में सोदाहरण समझाते हैं; जो इसप्रकार है –

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं ।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२५॥
जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं ।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए ॥ २२७॥

आजीविका के हेतु नर ज्यों नृपति की सेवा करे ।
तो नरपती भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥ २२४॥
इस ही तरह जब जीव सुख के हेतु सेवे कर्मरज ।
तो कर्मरज भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥ २२५॥
आजीविका के हेतु जब नर नृपति सेवा ना करे ।
तब नृपति भी उसके लिए उसतरह सुविधा न करे ॥ २२६॥
त्यों कर्मरज सेवे नहीं जब जीव सुख के हेतु से ।
तो कर्मरज उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे॥ २२७॥

जिसप्रकार इस जगत में कोई भी पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसे अनेक प्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है; उसीप्रकार जीवरूपी पुरुष सुख के लिए कर्मरज का सेवन करता है तो वह कर्म भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है।

जिसप्रकार वही पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री नहीं देता है;

उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयभोगों के लिए कर्मरज का सेवन नहीं करता तो वह कर्म भी उसे अनेकप्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री नहीं देता।

आचार्य अमृतचंद्र ने आत्मख्याति में उक्त चार गाथाओं का चार पंक्तियों में सीधा-सादा सा अर्थ कर दिया है; जो इसप्रकार है –

"जिसप्रकार कोई पुरुष फल के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा उसे फल देता है; उसीप्रकार जीव फल के लिए कर्म का सेवन करता है तो कर्म उसे फल देता है। तथा जिसप्रकार वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे फल नहीं देता; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म का सेवन नहीं करता तो कर्म भी उसे फल नहीं देता–यह तात्पर्य है।"

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का अर्थ दो प्रकार से करते हैं, जिसका भाव इसप्रकार है –

"जिसप्रकार कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो राजा भी उस सेवक को विविध सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव शुद्धात्मोत्थ सुख से च्युत होकर विषयसुख की प्राप्ति के लिए उदयागत कर्मरज का सेवन करता है तो वह पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मरूपी राजा उसे विषयसुख के उत्पादक, शुद्धात्मभावना के विनाशक एवं भोगाकांक्षारूप रागादिपरिणाम देता है।

दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि कोई जीव नवीन कर्मबंध करने के लिए भोगाकांक्षा निदानरूप से शुभकर्म का अनुष्ठान करता है तो वह पापानुबंधीपुण्यरूप राजा भी कालान्तर में उसे भोग दे देता है; किन्तु वे निदानबंध से प्राप्त हुए भोग रावणादि के समान नरकादिदुखों की परम्परा को प्राप्त कराते हैं।

और यदि वही पूर्वोक्त पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है तो राजा भी उसे विविध सुखोत्पादक भोग सामग्री नहीं देता है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मभावना से उत्पन्न वीतरागी सुख से च्युत होकर विषयसुख के लिए पूर्वोपार्जित उदयगत कर्मरज को उपादेयबुद्धि से सेवन नहीं करता है तो वह कर्म भी उसे विषयसुख के उत्पादक, शुद्धात्मभावना के विनाशक एवं भोगाकांक्षारूप रागादिपरिणाम नहीं देता।

दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि वही सम्यग्दृष्टिजीव निर्विकल्पसमाधि के अभाव से अशक्यानुष्ठान होने से विषयकषाय से बचने के लिए यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजा आदि शुभकर्मरूप अनुष्ठान करता है; तथापि भोगाकांक्षारूप निदान बंध से उस पुण्यकर्म का अनुष्ठान नहीं करता और वह पुण्यानुबंधीपुण्यकर्म भवान्तर में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के अभ्युदयरूप से उदय में आते हुए भी पूर्वभव में भावित भेदविज्ञान की भावना के बल से विषयसुख के उत्पादक, शुद्धात्मभावना के विनाशक एवं भोगाकांक्षा के निदानरूप रागादिपरिणाम भरतेश्वरादि के समान नहीं देता।''

इसी बात को स्पष्ट करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

''यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है – अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा करता है; इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता; इसलिए वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है – अज्ञानी सुख-रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की अभिलाषा से व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म करता है; इसलिए वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों को देता है। ज्ञानी के सम्बन्ध में इससे विपरीत समझना चाहिए।

इसप्रकार अज्ञानी फल की वांछा से कर्म करता है; इसलिए वह फल को पाता है और ज्ञानी फल की वांछा बिना ही कर्म करता है; इसलिए वह फल को प्राप्त नहीं करता।''

इस सन्दर्भ में स्वामीजी भी यही समझाते हैं –

''यहाँ आचार्य पूर्व गाथा के भाव को ही दृष्टान्त से समझाते हुए कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष यदि लौकिक फल की इच्छा से – धन-धान्य-जमीन-जायदाद, रुपया-पैसा प्राप्त करने की भावना से राजा की सेवा करता है तो

राजा उसे फलस्वरूप धनादि वांछित वस्तु देता ही है; उसीप्रकार जो कोई पुरुष फल की वांछा से कर्म (क्रिया) करता है तो वह क्रिया भी उसे फल देती है। तात्पर्य यह है कि भोग की वांछा से यदि कोई पुरुष व्रत-तप, दान-पूजा-पाठादि शुभक्रियायें करता है तो उसके फल में उसे बंध होता ही है तथा बंध होकर भोगादि संयोगों की प्राप्ति भी होती ही है।

इसी दृष्टान्त को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि जैसे वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे फल नहीं देता। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म अर्थात् क्रिया नहीं करता तो वह फल की वांछा से रहित होता है। इसकारण भविष्य में उसकी क्रिया भोगों में रंजितपरिणामरूप फल नहीं देती। ज्ञानी की क्रिया फल की वांछा से रहितपने होती है; इसीकारण वह क्रिया भविष्य में भोगों में एकपने से रंजितपरिणाम हो – ऐसा फल नहीं देती। ज्ञानी के ऐसा कभी नहीं होता कि उसे राग में उत्साह आवे। जिसे आत्मा के आनन्द का रंग लगा है उसे वर्तमान रागरूप क्रिया का रंग नहीं चढ़ता। इससे उसके फल में भी रंजित परिणाम नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता। 'राग की क्रिया से मुझे कोई अनुकूल भोगादि फल मिलें और मैं उन्हें भोगूँ' – ऐसा रंजित परिणाम ज्ञानी के नहीं होता; क्योंकि उसके राग का रस-रुचि नहीं है, राग में एकत्व नहीं है; इसकारण ज्ञानी के राग के फल में होनेवाला बंध नहीं होता।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु है। ऐसे भगवान आत्मा का जिसको रस लगा है, उसे चक्रवर्ती पद व इन्द्रपद में भी रस नहीं आता।

सारांश यह है कि अज्ञानी जो व्रत, तप आदि क्रियाएँ करता है, वह फल की वांछा सहित रागरस से क्रिया में एकाकार होकर करता है, इसकारण वह फल को प्राप्त करता है अर्थात् रंजित परिणाम को व बंध को प्राप्त होता है। जबकि ज्ञानी के जो व्रत, तप आदि क्रिया होती है, वह रागरस से रहित होती है, इससे उसे जो राग आता है, वह खिर जाता है; किन्तु फल नहीं देता, रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।[१]"

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ९१-९२

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि अज्ञानी भोगों की आकांक्षा से कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक शुभाशुभभावों में प्रवर्तता है; इसकारण वह अनंतसंसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों से बंधता है और ज्ञानी जीव भोगों की आकांक्षा से कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक शुभाशुभभावों में नहीं प्रवर्तता। यद्यपि उसके भी चारित्रमोह के उदय में भूमिकानुसार शुभाशुभभाव पाये जाते हैं; तथापि वह उनमें रत नहीं होता; इसकारण वह अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्वादि कर्मों से नहीं बंधता; अपितु उसके पूर्वकर्म निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

अब इसी भाव का पोषक कलश काव्य कहते हैं; जिसमें कहा गया है कि जो फल की वांच्छा नहीं रखता, उसे कर्त्ता कहना भी ठीक नहीं है।

कलश मूलतः इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥ १५३॥

(हरिगीत)

जिसे फल की चाह ना वह करे – यह जंचता नहीं ।
यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है ॥
अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते या नहीं – यह कौन जाने विज्ञजन ॥ १५३॥

जिसने कर्म का फल छोड़ दिया, वह कर्म करता है – ऐसी प्रतीति तो हमें नहीं होती; किन्तु यदि ज्ञानी को ऐसा कर्म अवशता से आ पड़ता है तो भी जो ज्ञानी अपने अकंप परमज्ञानस्वभाव में स्थित है; वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं – यह कौन जानता है?

यहाँ 'यह कौन जानता है' – कह कर ज्ञानीजन या सर्वज्ञ परमात्मा भी यह बात नहीं जानते – यह नहीं कहना चाहते हैं; बल्कि यह कहना चाहते हैं कि इस बात की गहराई को अज्ञानीजन नहीं जानते।

इस कलश में समागत कथन का मर्म पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार उद्घाटित करते हैं –

"ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं – यह कौन जानता है? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी की नहीं है।

अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमें से अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरतसम्यग्दृष्टि और आहार-विहार करते हुए मुनियों के बाह्यक्रियाकर्म होते हैं; तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे, बाह्यक्रियाकर्म के कर्त्ता नहीं है, ज्ञान के ही कर्त्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासम्भव कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने?"

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"**प्रश्न :** क्या एक ज्ञानी को दूसरे ज्ञानी की पहिचान हो जाती है?

उत्तर : अन्तरंग सूक्ष्म परिणति का पता तो नहीं चलता; परन्तु उसके प्रतिपादन एवं बाह्याचरण से बहुत-कुछ ख्याल तो आ ही जाता है। बिल्कुल ही पता नहीं चलता हो – ऐसा भी नहीं है। जो व्रत, तप, भक्ति आदि क्रियायें उसके होती हैं, वह तो मात्र उस क्रियाओं का ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्ता नहीं।

ज्ञानी के वर्तमान क्रिया में रस नहीं रहा और आगामी क्रिया की वांछा नहीं है; इसकारण यद्यपि वह क्रिया करते हुए दिखाई देता है; तथापि वह क्रिया का कर्त्ता नहीं है। अत: उसकी यह उदासीनता ज्ञानी से छिपी नहीं रहती। उसके ख्याल में स्पष्ट भासित हो जाता है कि अमुक ज्ञानी है; क्योंकि उसे क्रिया में कोई रस (उत्साह) नहीं है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ९४-९५

यद्यपि आत्मज्ञानी को साधुओं के व्यवहार एवं तत्वोपदेश की शैली से यह ख्याल में आ जाता है कि अमुक साधु को अंतरंग में निश्चयधर्म नहीं है; तथापि बाहर में आचरण बराबर आगमानुसार होता है तो वह प्रगट नहीं करता है। तथा वहाँ दूसरी बात यह भी कही है कि धर्मी को खबर पड़ जाती है कि इसको निश्चयधर्म नहीं है; पर बाह्य-आचरण, प्ररूपणा आदि यथार्थ है तो वह उसकी वंदनादि विनय भी करता है। जो बाहर से आचरण में आगमानुसार मुनिधर्म का निर्दोष आचरण करते हैं; समकिती उन्हें आचरण में अपने से बड़ा मानकर उनकी वंदना करते हैं; किन्तु यदि बाह्य-आचरण बराबर न हो तो समकिती उसे वन्दनादि नहीं करते, तटस्थ रहते हैं।[१]

अब कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानी के रागादि की इच्छा नहीं है; तथापि अवशपने से उसके राग आ जाता है। यहाँ **अवश** का अर्थ यह है कि कर्मोदय के निमित्त से एवं अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कदाचित् ज्ञानी के भी राग उत्पन्न होता है; पर ज्ञानी अपने अकम्प ज्ञानस्वभाव में ही स्थित रहते हैं; राग में स्थित नहीं होते; क्योंकि राग तो उन्हें जहर के समान लगता है, उन्हें राग में रस नहीं है।

जिसके राग की बुद्धि टूट गई, भोक्ताबुद्धि छूट गई है और स्वामित्व का भाव भी समाप्त हो गया है, वह कर्म करता है कि नहीं करता – इसे अज्ञानी क्या जाने? अज्ञानी ज्ञानी के हृदय को पहचान ही नहीं सकता। मात्र ज्ञानी ही ज्ञानी को, उसकी भावनाओं को एवं उसकी यथार्थ श्रद्धा की झलक को पहचान सकता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी ही ज्ञानी के अन्तर को पहचान पाते हैं, अज्ञानी नहीं।[२]

वास्तविक बात यह है कि ज्ञानी रागादि करता ही नहीं है, उसे रागादि होते हैं, पर वह उस राग का कर्त्ता नहीं है, ज्ञाता ही है; क्योंकि उसने तो राग एवं राग के फल को छोड़ ही दिया है।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ९६
२. वही, पृष्ठ ९६
३. वही, पृष्ठ ९७

देखो न! अज्ञानी भले बालब्रह्मचारी हो, तो भी उसे राग की एकताबुद्धि है तथा ज्ञानी के ९६ हजार स्त्रियाँ हों, तो भी उसके राग की एकताबुद्धि नहीं है। इस अन्तर को अज्ञानी कैसे जान सकता है?[१]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि कर्मफल की वांच्छा से रहित ज्ञानी जीवों के प्रत्याख्यानावरणादि कर्मों के उदय के अनुसार जो भी रागादिभाव और उन भावों के अनुसार जो भी बाह्य क्रियायें देखी जाती हैं; उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व से वे ज्ञानीजन भिन्न ही रहते हैं; उनका कर्त्ता-भोक्ता वे स्वयं को नहीं मानते; इसकारण उन्हें तत्संबंधी बंध भी नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं।

(सवैया तेईसा)

जे निज पूरब कर्म उदै, सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे ।
जे दुखमैं न विलाप करैं, निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे ॥
है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान, क्रिया करकैं फल कौं न चहैंगे ।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं, तिन्ह कौं करता हम तौ न कहैंगे ॥

जो जीव स्वयं के पूर्वकर्मोदयानुसार सुख भोगते हुए भी भोगों से उदास रहते हैं, पूर्व कर्मोदयानुसार प्राप्त होनेवाले दुखों के अवसर पर विलाप नहीं करते हैं, दुख के निमित्तों से बैर नहीं बाँधते हैं, शरीर संबंधी ताप को शान्तभाव से सहन करते हैं; जिनके हृदय में अत्यन्त दृढ़श्रद्धा के साथ आत्मज्ञान उदित हुआ है और जिनके जीवन में भूमिकानुसार शुभाशुभभाव और शुभक्रियायें तो पाई जाती है, पर वे उनके फल की वांच्छा नहीं करते हैं; वे अत्यन्त चतुर ज्ञायकस्वभावी अन्तर आत्मा हैं; उनको उक्त शुभाशुभभावों और क्रियाओं का कर्त्ता हम तो नहीं कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सम्यग्दृष्टिजीव कर्म करते हुए भी उनके कर्त्ता नहीं होते, भोगते हुए भी उनके भोक्ता नहीं होते और तत्संबंधी कर्मबंधन से बंधन को प्राप्त नहीं होते।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १०१

इस अवसर पर बनारसीदासजी यथार्थ ज्ञान के धारी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा साधुओं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए एक छन्द और भी लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकी सुदृष्टि मैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्ह कौ अचार सुविचार सुभ ध्यान है ।
स्वारथ कौं त्यागि जे लगे हैं परमारथ कौं,
जिन्ह कै बनिज मैं न नफा है न ज्यान है ॥
जिन्हकी समुझि मैं सरीर ऐसौ मानियत,
धान कौ सौ छीलक कृपान कौ सौ म्यान है ।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथ के,
तेई साधु तिन ही कौ जथारथ ग्यान है ॥

जिनकी सुदृष्टि में इष्ट और अनिष्ट – दोनों ही समान हैं, जिनका आचरण निर्मल है और विचार पवित्र हैं तथा जो धर्मध्यान में रहते हैं, स्वार्थ को त्यागकर जो परमार्थ में लग गये हैं, जो लौकिक लाभ-हानि में आत्मा का लाभ-हानि नहीं मानते, जिनकी समझ में शरीर ऐसा है कि जैसे अनाज का छिलका अथवा तलवार की म्यान होती है; जीवादि पदार्थों के जो पारखी हैं, सांसारिक भ्रमों और झंझटों के जो तटस्थ साक्षी हैं; वे सत्पुरुष ही सच्चे साधु हैं और उन्हीं को यथार्थ ज्ञान है।

अब इसके बाद आगामी गाथाओं में आचार्यदेव सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विवेचन आठ गाथाओं में करने जा रहे हैं; जिनमें सर्वप्रथम निशंकित अंग है, जो जिनोपदिष्ट तत्त्वज्ञान के संबंध में शंका-आशंकाओं के अभावरूप तथा सप्तभयों के अभावरूप होता है। अब यहाँ निशंकित अंग संबंधी गाथा की उत्थानिकारूप एक कलश काव्य आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्बज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥ १५४॥

(हरिगीत)

वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे ।
फिर भी अरे अतिसाहसी सद्दृष्टिजन निश्चल रहें ॥
निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें ।
निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें ॥ १५४॥

जिसके भय से चलायमान होते हुए तीनों लोक अपना मार्ग छोड़ देते हैं - ऐसा वज्रपात होने पर भी ये सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव से ही निर्भय होने से समस्त शंकाओं-आशंकाओं को छोड़कर ज्ञानशरीरी अपने आत्मा को अवध्य जानकर ज्ञान से च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने में मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ होते हैं।

लोक में कितनी ही विपरीत परिस्थितियाँ क्यों न आवें, मरण का अवसर भी उपस्थित क्यों न हो जावे; किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव आकुलित नहीं होते, भयाक्रान्त नहीं होते; क्योंकि वे अच्छीतरह जानते हैं कि भौतिक देह का वियोग तो स्वाभाविक ही है; परन्तु मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ, मेरे इस ज्ञानशरीर का वियोग तो संभव ही नहीं है; क्योंकि मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप ही हूँ और अनादि-अनंत अविनाशी परमपदार्थ हूँ। ज्ञानी जीवों की इस दृढ़ श्रद्धा के कारण उन्हें बंध नहीं होता है, अपितु निर्जरा ही होती है।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार समझाते हैं -

"भले ऐसा वज्रपात हो या अग्नि की वर्षा हो कि जिससे जगत के अज्ञानी प्राणियों में खलबली मच जावे, हड़कम्प होने लगे; वे भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ दें, तो भी ज्ञानी आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान व आनन्द स्वभाव से भ्रष्ट नहीं होते, घबराते नहीं हैं; निर्भय व नि:शंक रहते हैं। जहाँ यह श्रद्धा में आया कि 'मैं त्रिकाल सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान हूँ' फिर वह कभी भी उससे विचलित नहीं होता। इसकारण उसके कर्मों की व राग की निर्जरा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि नि:शंकित गुणसहित होता है, इसलिए वह निर्भय होता है। यहाँ शंका का अर्थ भय है। सम्यग्दृष्टि नि:शंक होता है - इसका अर्थ है कि वह

निर्भय होता है। ज्ञानी शुभाशुभकर्मों के उदय के समय भी ज्ञानरूप ही रहता है। शुभकर्मोदय में, अत्यधिक अनुकूलता में तथा अशुभ कर्मोदय में सातवें नरक जैसी प्रतिकूलता के समय भी ज्ञानी तो ज्ञानरूप ही परिणमता है। वह ज्ञान से च्युत नहीं होता। वह अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।[१]

ज्ञानी के तो ऐसा दृढ़ विश्वास व निर्णय हो गया है कि 'मैं तो ज्ञायक हूँ। ' त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव ही मेरा शरीर है। इस साता-असाता के उदय से मिली देहादि सामग्री मैं नहीं हूँ। वह मुझमें नहीं और मैं उसमें नहीं हूँ। ऐसा नि:शंक हुआ ज्ञानी ज्ञान से अपने स्वरूप के अनुभव से च्युत नहीं होता। इसकारण उसके कर्मों की निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं होता।[२]

अरे! सम्यग्दृष्टि शुभाशुभ कर्म के उदय में रचता-पचता नहीं है। उसे शुभाशुभ कर्मों में अब एकत्व नहीं रहा। वह अब उदय के साथ एकमेक नहीं होता। वह तो निरंतर ज्ञानरूप परिणमन ही करता है। पुण्योदय से भले ही उसे चक्रवर्ती की सम्पदा भी मिल जावे तो भी वह उसमें भरमाता नहीं है, उसमें तन्मय नहीं होता, उसमें ललचाता नहीं है, हर्षित नहीं होता। तथा अशुभ के उदय के कारण नरक जैसी पीड़ाकारक संयोगों का ढेर भी हो तो भी वह उससे खेद-खिन्न नहीं होता। सम्पूर्ण जगत जहाँ चकित हो जावे, ऐसे संयोग में भी समकिती ज्ञानरूप ही रहता है, ज्ञानभाव में अचलितरूप से स्थिर रहता है।

सम्यग्दृष्टि की ऐसी कोई अचिन्त्य अलौकिक महिमा है। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा। पर्याय का विनाश होना कोई नई बात नहीं है, वह तो विनाशशील ही है, उसका तो उत्पाद-विनाश स्वभाव ही है। उसका नाश हो तो उससे मुझे क्या? मैं तो त्रिकाल शुद्ध, अविनाशी ज्ञायकतत्व हूँ, मेरा कभी नाश होता ही नहीं है। ऐसी श्रद्धा के कारण ज्ञानी सदा नि:शंक-निर्भय रहता है।[३]''

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १०३
२. वही, पृष्ठ १०४
३. वही, पृष्ठ १०५

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि चाहे जैसी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आवें फिर भी सम्यग्दृष्टिजीव आत्मश्रद्धान से च्युत नहीं होते और न किसी भी प्रकार से भयाक्रान्त होते हैं।

इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी कलश टीका में लिखते हैं -

"कोई अज्ञानी ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीव के साताकर्म के उदय से अनेक प्रकार के इष्ट भोगसामग्री प्राप्त होती है, असाताकर्म के उदय अनेक प्रकार रोग, शोक, दारिद्र, परीषह, उपसर्ग इत्यादि अनिष्ट सामग्री प्राप्त होती है; उसको भोगते हुए वह शुद्धस्वरूप के अनुभव से चूकता होगा।

उसका समाधान इसप्रकार है कि वह अनुभव से नहीं चूकता है; जैसा अनुभव है, वैसा ही रहता है; वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि जीवों का निर्भय स्वभाव है, इस कारण उन्हें सहज ही अनेक प्रकार के परीषह - उपसर्ग का भय नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म का बन्ध नहीं है, निर्जरा है।"

उक्त कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं-

(सवैया इकतीसा)

जम कौ सौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है ।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सब ही कौ तन मन कंपितु रहतु है ॥
उर कौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भै सौं,
डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है ।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु हैं ॥

दुख देनेवाला यह असाता कर्म मानो यमराज का ही भाई है। जब इस असाता कर्म का उदय आता है तो अज्ञानीजन साहस धारण नहीं कर पाते; स्वर्गवासी देवगण, भूमिवासी मनुष्यादि एवं पातालवासी भवनवासी और

व्यंतरादि देवगण आदि सभी का मन काँपता रहता है। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसी स्थिति में भी सहज ही वीर्यवान शास्वत ज्ञानशरीरी आर्य ज्ञानीजीव अपने हृदयगत ज्ञानप्रकाश से सप्तभयों से रहित दिखाई देते हैं और आत्मानन्द को प्राप्त करते हुए निशंक डोलते हैं, आनन्द मग्न रहते हैं। यह सब सम्यक्त्व की ही महिमा है।

इसप्रकार सम्यक्त्व की महिमा बताकर अब आचार्यदेव सम्यक्त्व के आठ अंगों की चर्चा गाथाओं के माध्यम से करते हैं। •

यद्यपि अनित्य और अशरणभावना सम्बन्धी उपलब्ध चिन्तन में देह के वियोगरूप मरण की ही चर्चा अधिक है; तथापि इनकी विषयवस्तु मृत्यु की अनिवार्यता तक ही सीमित नहीं है, अपितु उनका विस्तार असीम है; क्योंकि उनकी सीमा में सभी प्रकार के संयोगों तथा पर्यायों की अस्थिरता एवं अशरणता आ जाती है।

मृत्यु सम्बन्धी अधिक चर्चा का हेतु जगतजन की मृत्यु के प्रति अत्यधिक संवेदनशीलता ही है। जगतजन मृत्यु के प्रति जितने संवेदनशील देखे जाते हैं, उतने किसी अन्य परिवर्तन के प्रति नहीं।

संवेदनशील बिन्दुओं को स्पर्श कर आचार्यदेव हमें जागृत करना चाहते हैं। मर्मस्थल पर की गई चोट निष्फल नहीं जाती। यही कारण है कि करुणासागर सन्त मृत्यु की अनिवार्यता एवं अशरणता सम्बन्धी मर्म-भेदी सत्य को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर कल्पनालोक में विचरने की वृत्ति को झकझोर कर तोड़ देना चाहते हैं। प्रयत्न करके देखें, शायद बच जायें, कोई बचा ले – इसप्रकार की संशयात्मक वृत्ति को या इसीप्रकार के रागात्मक विकल्पों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने की चिन्तनात्मक वृत्ति ही अशरणभावना है।

अनित्य या अशरणभावना के सन्दर्भ में मृत्यु की अनिवार्यता और अशरणता की चर्चा समस्त संयोगों और पर्यायों की अनिवार्यता एवं अशरणता के प्रतिनिधि के रूप में ही समझना चाहिए।

– बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ ३१

समयसार गाथा २२८

अब सर्वप्रथम निशंकित अंग का स्वरूप बतानेवाली गाथा लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८॥

नि:शंक हों सद्दृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें ।
वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही नि:शंक हैं ॥ २२८॥

सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंक होते हैं, इसीकारण निर्भय भी होते हैं। चूँकि वे सप्तभयों से रहित होते हैं; इसलिए नि:शंक होते हैं।

उक्त सीधी-सरल गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र ढाई पंक्तियों में ही स्पष्ट कर देते हैं; जो इसप्रकार है –

"चूँकि सम्यग्दृष्टिजीव सदा ही सर्वकर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं; इसलिए वे कर्मों के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं। अत्यन्त सुदृढ़ निश्चयवाले होने से वे अत्यन्त निर्भय होते हैं।"

आचार्य जयसेन ने भी तात्पर्यवृत्ति में इसीप्रकार का अर्थ किया है। इतना विशेष है कि उन्होंने सात भयों के नाम गिना दिये हैं और अन्त में स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दृष्टि इन सप्तभयों से रहित होते हैं।

आचार्य जयसेन की टीका में सप्तभयों के नाम व नामों का क्रम निम्नानुसार है –

(१) इहलोकभय (२) परलोकभय (३) अत्राणभय (४) अगुप्तिभय (५) मरणभय (६) वेदनाभय और (७) आकस्मिकभय।

इस गाथा की विशेषता यह है कि इसमें शंका शब्द का अर्थ भय किया गया है और सप्तभयों से रहित सम्यग्दृष्टि को नि:शंक अथवा नि:शंकित अंग का धारी कहा गया है; जबकि समन्तभद्रादि आचार्यों ने शंका का अर्थ संदेह

किया है और आत्मा-परमात्मा, सप्ततत्त्व एवं देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को भली-भाँति समझकर नि:संदेह होने को ही नि:शंकित अंग बताया है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि जैनतत्त्वज्ञान के प्रति नि:संदेह दृढ़ श्रद्धान होना और सप्तभयों से रहित होना ही सम्यग्दर्शन का नि:शंकित अंग है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि की निर्भयता का आधार भी तो जिनदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान ही है; जिसमें यह बताया गया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और अपने परिणमन का कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं ही है। प्रत्येक आत्मा अपने जीवन-मरण और सुख-दुख का जिम्मेवार स्वयं ही है; उसके इस परिणमन में इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

इस अवसर पर कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में सप्तभयों के नाम और स्वरूप दो छन्दों में इसप्रकार समझाते हैं –

(दोहा)

इहभवभय परलोकभय, मरन-वेदना-जात ।
अनरच्छा अनगुप्तभय, अकस्मातभय सात ॥

(सवैया इकतीसा)

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इहभव,
दुर्गतिगमनभय परलोक मानिये ।
प्राननि कौ हरन मरनभै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये ॥
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छाभय,
चोरभै विचार अनगुप्त मन आनिये ।
अनचिंत्यौ अब ही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगत में जानिये ॥

इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तभय और अकस्मातभय – ये सात भयों के नाम हैं।

जगत में क्षेत्र वास्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों के वियोग की चिन्ता करना इहलोकभय है, अगले भव में दुर्गति गमन का भय परलोकभय माना जाता है, दश प्रकार के प्राणों के हरन का भय मरणभय कहा जाता है, रोगादिक

होने का भय वेदनाभय है, हमारा रक्षक कोई नहीं है – इसप्रकार की आकुलता अरक्षाभय, चोरों के भय का विचार अगुप्तभय और अचानक कोई आपत्ति न आ जावे – ऐसी चिन्ता को अकस्मातभय कहा जाता है।

उक्त गाथा और उसकी टीका का भाव स्वामीजी भी अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट कर देते हैं –

''सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य व पाप आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल के प्रति निरभिलाषी होते हैं। जिसतरह वे पाप के फल के प्रति अरुचिवंत होते हैं, पाप के फल को नहीं भोगना चाहते; उसीतरह पुण्य के फल में भी उन्हें रुचि नहीं होती। पुण्यफल से तात्पर्य है पुण्योदय से प्राप्त भोगोपभोग सामग्री के प्रति सम्यग्दृष्टि निरभिलाषी होते हैं।

सम्पूर्ण कर्मफल के प्रति निरभिलाषी होने से ज्ञानी कर्मों के प्रति भी अत्यन्त निरपेक्षभाव से प्रवर्तन करते हैं। इससे वे अत्यन्त नि:शंक व निर्भय रहते हैं। जिसको त्रिकाली शुद्ध शाश्वत चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का भान हो गया है, वेदन हो गया है; वह अत्यन्त नि:शंक एवं निर्भय हो जाता है; क्योंकि वह ऐसा सोचता है कि 'इस शरीर का स्वभाव भी नाशवान है। अत: यह तो नाश को प्राप्त होगा ही तथा मैं इस शरीर से सर्वथा भिन्न अनादि-अनंत ध्रुवतत्व हूँ। इसके नष्ट-भ्रष्ट होने से मेरी अर्थात् आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। बस, इसी दृढ़श्रद्धा के बल पर ज्ञानी नि:शंक एवं निर्भय रहते हैं।[१]''

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इस अवसर पर सातभयों के नाम गिनाये हैं और कविवर बनारसीदासजी ने उनके नाम के साथ-साथ उनके स्वरूप को भी समझाया है तो फिर आचार्य अमृतचन्द्र ने उनकी उपेक्षा क्यों की?

अरे, भाई! ऐसा नहीं है। अमृतचन्द्र ने कोई उपेक्षा नहीं की; उन्होंने तो सातभयों के सन्दर्भ में इस गाथा की टीका में छह कलश लिखे हैं, जिनमें उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह भी बताया गया है कि ये सप्तभय सम्यग्दृष्टियों के क्यों नहीं होते।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १०६, १०७

उक्त सप्तभयों में से इहलोकभय और परलोकभय संबंधी प्रथम कलश इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५५॥

(हरिगीत)

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है ।
अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५५॥

पर से भिन्न आत्मा का यह चित्स्वरूप लोक ही एक शाश्वत और सदा व्यक्त लोक है; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है, अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही मेरा लोक है – ऐसा अनुभव करनेवाले ज्ञानी को इहलोक और परलोक का भय कैसे हो; क्योंकि ज्ञानीजन तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तते हुए सहजज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

वर्तमान भव को इहलोक और आगामी भवों को परलोक कहते हैं। इस भव में जो अनुकूलता प्राप्त है, वह जीवनपर्यन्त बनी रहेगी या नहीं? इसप्रकार की चिन्ता बनी रहना इहलोकभय है और मरने के बाद परलोक में न मालूम क्या होगा –ऐसी चिन्ता का रहना परलोकभय है।

निःशंकित अंग के धनी सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में तो अपना ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही अपना लोक है। इस भव संबंधी या पर भव संबंधी संयोगों को वह अपना लोक नहीं मानता; इसलिए उसे इस लोक संबंधी या पर लोक संबंधी संयोगों के वियोग की आंशका नहीं होती। उसे न तो इष्ट संयोगों के वियोग का भय होता और न ही अनिष्ट संयोगों के संयोग का भय होता है;

क्योंकि उनमें उसका अपनापन ही नहीं होता। स्वयं के चैतन्यलोक में तो किसी पर का हस्तक्षेप संभव ही नहीं है; अत: वह ज्ञानी जीव निर्भय होकर, नि:शंक होकर निरन्तर उस चैतन्यलोक का ही अनुभव करता है, उसमें ही अपनेपन का अनुभव करता है और निराकुल रहता है, नि:शंक रहता है, निर्भय रहता है।

इस क्षणभंगुर लोक में संयोगों का वियोग तो निरन्तर होता ही रहता है; इसकारण अनुकूल संयोगों का सदा बना रहना तो संभव है ही नहीं। ऐसी स्थिति में यदि संयोगों में अपनापन रखा जायगा तो इहलोकभय और परलोकभय अवश्यंभावी हैं; पर वस्तुस्थिति तो यही है कि पुण्य-पाप के उदय में होनेवाले संयोग अपने हैं ही नहीं; अत: उनके आने-जाने से अपना कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। अपना चैतन्यलोक तो नित्य है, ध्रुव है; उसमें कुछ बिगाड़-सुधार होता ही नहीं है, इसकारण चिन्ता करने की कोई बात ही नहीं है। ज्ञानी जीवों का इसप्रकार का चिन्तन ही उन्हें निर्भय और नि:शंक रखता है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में दो छन्दों में किया है, जो इसप्रकार है –

(छप्पय)

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत ।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत ॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु ।
जहाँ उतपति तहाँ प्रलय, जासु संजोग विरह तसु ॥
परिगह प्रपंच परगट परखि, इहभवभय उपजै न चित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥
ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख ।
इतर लोक मम नाहिं जिसमाहिं दोख दुख ॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगतिपद-दायक ।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक ॥
इह विधि विचार परलोकभय, नहि व्यापत वरतै सुखित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥

मेरा आत्मा तो नख से शिखा तक (पैर के नाखूनों से शिर की चोटी तक) ज्ञानमयी है, अभंग है और यह संयोगरूप परिग्रह धन-सम्पत्ति आदि संसार का वैभव, परिवार आदि सभी क्षणभंगुर हैं तथा उत्पत्ति के साथ प्रलय और संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है। इस परिग्रह के प्रगट प्रपंच को देखकर ज्ञानी जीवों के चित्त में इहलोकभय उत्पन्न नहीं होता। इसकारण ज्ञानी जीव तो अपने अकलंक ज्ञानरूप को देखकर निरन्तर नि:शंक ही रहते हैं।

जिसके अवलोकन से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, वह ज्ञानचक्र आत्मा ही मेरा लोक है। जिनमें अनेक दोष और दुख हैं-ऐसे स्वर्ग-नर्क आदि परलोक मेरे लोक नहीं हैं। पुण्य सुगति का और पाप दुर्गति का देनेवाला है - ये दोनों ही खण्डित हैं और मुक्ति का नायक मैं अखण्डित हूँ। - इसप्रकार के चिन्तन से ज्ञानी जीवों को परलोकभय व्याप्त नहीं होता और वे सुखी रहते हैं। इसप्रकार ज्ञानी जीव तो सदा अपने अकलंक ज्ञानरूप को देखकर नि:शंक ही रहते हैं।

इसप्रकार १५५वें कलश में यही कहा गया है कि ज्ञानी जीवों को इहलोकभय और परलोकभय नहीं होता; क्योंकि वे इहलोक और परलोक को अपना लोक ही नहीं मानते हैं। वे तो चैतन्यलोक को ही अपना लोक जानते हैं, मानते हैं और सदा ही नि:शंक रहते हैं, निर्भय रहते हैं।

अब आगामी कलश में वेदनाभय के संबंध में चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञान स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५६॥

(हरिगीत)

चूंकि एक-अभेद में ही वेद्यवेदक भाव हों ।
अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें ॥
अन वेदना कोइ है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत् नि:शंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५६॥

वेद्य-वेदकभाव अभेद ही होते हैं, एक ही वस्तु में घटित होते हैं; इसकारण एक अचलज्ञान ही निराकुल ज्ञानियों के वेदन में आता है; यह एक वेदना ही ज्ञानियों के होती है, कोई दूसरी वेदना ज्ञानियों के होती ही नहीं है। अत: उन्हें वेदनाभय कैसे हो सकता है? वे तो निरंतर स्वयं नि:शंक वर्तते हुए सहज ज्ञान का ही अनुभव करते हैं।

इसकलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है-

(छप्पय)

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय॥
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत, तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित॥

वेदन करनेवाला भी जीव ही है और जिसे वेदा जाता है, जिसका वेदन किया जाता है; वह भी जीव ही है - इसप्रकार यह वेदना अभंग है, अखण्ड है, एक है। यही वेदना मेरा अभिन्न अंग है और अन्य वेदना मेरी नहीं है। कर्म वेदना दो प्रकार की होती है - एक लौकिक सुखमय और दूसरी दुखमय। ये दोनों ही मोह का विकार हैं, पुद्गलाकार हैं और बहिर्मुख हैं।

जब हृदय में इसप्रकार का विवेक जागृत हो जाता है, तब वेदनाभय विदित नहीं होता और ज्ञानी जीव तो अपने अकलंक ज्ञानरूप को देखकर निरंतर नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

इस कलश के मर्म को स्वामीजी ने गहराई से खोला है। वे इसमें वेद्य-वेदकभाव को विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है -

"देखो, २१६ गाथा में वेद्य-वेदक की जो बात आई थी, वह बात इससे भिन्न है। वहाँ गाथा २१६ में तो यह कहा था कि जो भाव वेदन करता है, वह वेदकभाव है तथा जिस भाव का वेदन किया जाता है, वह वेद्यभाव है। वे दोनों भाव समय-समय पर नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उन विभावभावों का उत्पन्न-

विनाशत्व होने से वे भाव क्षणिक हैं। दोनों भावों में कालभेद है। जब वेद्यभाव होता, तब वेदक नहीं होता और जब वेदक होता है, तब वेद्य नहीं होता। वहाँ जो वांछा करनेवाला वेदकभाव है, वह जबतक उत्पन्न होता है, तब वेद्य नहीं होता है, तबतक वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है तो वह वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इसप्रकार ज्ञानी जानता है; अत: वह दोनों भावों की वांछा नहीं करता।

और यहाँ यह कह रहे हैं कि ज्ञानी के तो अभेद वेद्य-वेदक भाव होता है। कहा है न कि अभेदस्वरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से अर्थात् मैं ही वेदन करनेवाला हूँ और मैं ही वेदन करने योग्य हूँ – इसप्रकार वेद्य-वेदक दोनों अभिन्नरूप से एक ही आत्मवस्तु में विद्यमान हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी मैं स्वयं हूँ तथा उसी आनन्द की भावनावाला भी मैं स्वयं ही हूँ। इसप्रकार वेद्य-वेदक भाव भगवान आत्मा में ही अभिन्न हैं।

अरे भाई! राग का करना तथा उसे भोगना या वेदन करना आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। अत: धर्मी को तो नित्य आनन्द की भावना व आनन्द का ही वेदन होता है।[१]

गाथा २१६ में जो वेद्य-वेदक कहा, वह तो विभाव का वेद्य-वेदक था; अत: उसका निषेध किया है। वह विभाव का वेद्य-वेदक ज्ञानी के नहीं होता। यहाँ 'उदित' कहकर यह कहा है कि आनन्द की जो प्रगट दशा है, उसे ज्ञानी स्वयं ही वेदता है। वेदनेलायक भी स्वयं तथा वेदन करनेवाला भी स्वयं ही है। ज्ञानी के एक समय की पर्याय में अभिन्न वेद्य-वेदकभाव होता है।

प्रश्न : द्रव्य वेदक व पर्याय वेद्य-ऐसा है या नहीं?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। वेदने योग्य भी ज्ञान-आनन्द की पर्याय है तथा वेदनकरनेवाली भी ज्ञान व आनन्द की पर्याय है। द्रव्य तो द्रव्य है, द्रव्य को क्या वेदन करना है और क्या वेदन कराना है? प्रवचनसार की १७२वीं गाथा के अलिंगग्रहण के २०वें बोल में कहा है कि प्रत्यभिज्ञान का कारण जो सामान्य द्रव्य भगवान आत्मा है, उसे आत्मा वेदता नहीं है। आत्मा तो अपनी शुद्धपर्याय

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ११३-११४

को वेदता है। इसलिए वहाँ शुद्धपर्याय को ही आत्मा कहा है। भले दृष्टि द्रव्य पर है, किन्तु वेदन तो पर्याय ही करती है। जहाँ ऐसा कहा हो कि आत्मा वेदता है, उसका अर्थ ही यह है कि आत्मा की निर्मलपर्याय ही वेदन करती है। आत्मा (पर्याय) द्रव्य-सामान्य को तो छूता ही नहीं है। भाई! जो वेदन है, वह तो पर्याय का पर्याय में है।[१]

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि एक अभेद चैतन्यरूप आत्मा पर होने से उसकी निर्मल पर्याय में वेद्य-वेदक अभेदरूप से वर्तता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप के लक्ष्य से उसको जो निर्मल निराकुल आनन्द की दशा प्रगट होती है, उसे वेदन करनेवाली भी अपनी ही पर्याय है तथा वेदन में आनेवाली पर्याय भी वही अपनी पर्याय है। यहाँ कहते हैं कि वेद्य-वेदक अभेद होता है। ऐसे अभेद वेद्य-वेदक के बल से समकिती को एक ज्ञान ही अनुभव में आता है।[२]

यहाँ **एक अचलज्ञान ही** कहकर यह दर्शाया है कि राग, पुण्य व विकल्प आदि कुछ भी नहीं, किन्तु एक ज्ञान ही वेदन में आता है। तथा जो **निराकुल पुरुष द्वारा** यह कहा है, उसका अर्थ है कि जिसने राग के अभावपूर्वक निराकुल आनन्द का अनुभव किया है, उन पुरुषों के द्वारा ज्ञान व आनन्द का ही वेदन किया जाता है। भगवान आत्मा अचल एक ज्ञानानन्द का बिम्ब है। उसका जिसको आश्रय वर्तता है, वे ज्ञानी निराकुल पुरुष हैं तथा उनके द्वारा एक ज्ञान ही वेदन में आता है अर्थात् उनको आत्मा के एक ज्ञान व आनन्द का ही वेदन होता है।

एषा एका एव वेदना अर्थात् यह प्रत्यक्ष जो आत्मा के निराकुल आनन्द का वेदन है, वह एक ही वेदन ज्ञानियों के है; राग का वेदन ज्ञानियों के नहीं है। आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु है, किन्तु एक भी गुण ऐसा नहीं है जो विकार को उत्पन्न करता हो। पर्याय की तत्समय की योग्यता के कारण विकार भले हो; किन्तु आत्मा का गुणस्वभाव ऐसा नहीं है कि वह विकार को करे

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ ११४-११५
२. वही, पृष्ठ ११५

तथा उसे वेदे। इससे अभेदरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से ज्ञानी को एक ज्ञान ही वेदन में आता है।[१]

ध्यान रहे-यह कथन स्वभाव की दृष्टि में राग के वेदन को गौण करके किया गया है।

वैसे तो दृष्टि के साथ जो ज्ञान विकसित हुआ है, उसमें जितना रागांश है उतना उसका वेदन भी है। परन्तु स्वभाव की दृष्टि में वह रागांश गौण है। इसी कारण कहा है कि ज्ञानी के आगंतुक वेदना, बाहर से आई हुई रागादि की वेदना नहीं होती। ज्ञानी के एक ज्ञान का एवं निराकुल आनन्द का ही वेदन होता है।

ज्ञानी को जो अस्थिरता का राग आता है, वह उसका मात्र ज्ञाता ही है। वह उसका कर्ता या भोक्ता नहीं है।[२]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि निःशंकित अंग के धनी सम्यग्दृष्टि जीवों के वेदनाभय भी नहीं होता और वे निरन्तर निःशंक और निर्भय रहते हुये अपने ज्ञानस्वभाव का ही वेदन करते हैं।

अब आगामी कलश में अरक्षाभय की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५७॥

(हरिगीत)

निज आतमा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं ।
है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वें ।
वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५७॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ट ११८
२. वही. पृष्ट ११९

जो सत् है, उसका नाश नहीं होता–ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् है; इसलिए यह भी नाश को प्राप्त नहीं होता। इसकारण पर के द्वारा उसके रक्षण की बात ही कहाँ उठती है। अरे भाई! जब ज्ञान का किंचित् मात्र भी अरक्षण नहीं है, तब ज्ञानी को अरक्षाभय कैसे हो सकता है? अत: ज्ञानी तो सहजज्ञान का वेदन करता हुआ निरन्तर नि:शंक ही रहता है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(छप्पय)

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहिं त्रिकालगत ।
तासु विनास न होई, सहज निहचै प्रवांन मत ॥
सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर ।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर ॥
जब इहि प्रकार निरधार किय, तब अनरच्छाभय नसित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥

जगत में जो त्रिकालगत सत्तास्वरूप आत्मवस्तु है; उसका विनाश नहीं होता – यह निश्चयनय की बात सहज प्रमाणित है, परमसत्य है; इसलिए मेरा आत्मद्रव्य पर की सहायता की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं रखता। इसप्रकार इस भगवान आत्मा का न तो कोई परपदार्थ रक्षक ही है और न भक्षक ही है।

जब यह आत्मा इसप्रकार निरधार कर लेता है, निश्चय कर लेता है; तब अरक्षाभय नष्ट हो जाता है और ज्ञानी तो अकलंक ज्ञानरूप आत्मा को देखता हुआ निरन्तर नि:शंक ही रहता है, निर्भय ही रहता है।

उक्त कलश में इस बात को वजन देकर कहा गया है कि जो वस्तु सत्तास्वरूप है, अस्तित्वमयी है; उसका नाश होना संभव नहीं है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता। आत्मा भी एक वस्तु है; अत: उसका भी नाश संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसकी सुरक्षा की चिन्ता करना, उसका नाश न हो जाय–ऐसी आशंका से भयाक्रान्त रहना, सशंकित रहना कहाँ की समझदारी है। इस बात को ज्ञानीजन भली-भाँति जानते हैं; इसकारण उन्हें अरक्षाभय नहीं होता।

प्रश्न : सत्तास्वरूप वस्तु का नाश नहीं होता–इस बात को एकान्ततः कैसे माना जा सकता है; क्योंकि सत्तास्वरूप वस्तु ध्रुव होने के साथ-साथ उत्पाद-व्ययस्वरूप भी तो है।

उत्तर : अरे भाई! उत्पाद-व्ययरूप परिवर्तन तो पर्यायरूप है और यहाँ द्रव्यस्वभाव को वस्तु मानकर बात कही जा रही है।

यह तो सर्वविदित ही है कि नित्य परिवर्तनशील होने पर भी भगवान आत्मा अनादि-अनंत अविनाशी ध्रुवतत्त्व है तथा यह बात भी किसी से छुपी हुई नहीं है कि प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय नियमित परिवर्तन होने पर भी आजतक एक भी आत्मा का नाश नहीं हुआ है और न कभी होगा; क्योंकि पर्यायों में होनेवाले परिवर्तन से आत्मा का विनाश नहीं होता, वह तो उसका सहज स्वभाव है। इसप्रकार सभी आत्मायें स्वयं में ही स्वभावतः सुरक्षित हैं।

यह तत्त्वज्ञान और तत्त्वचिन्तन ज्ञानी जीवों को अरक्षाभय से मुक्त रखता है।

अब अगुप्तिभय संबंधी कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५८॥

(हरिगीत)

कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं ।
सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५८॥

वास्तव में तो वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है; क्योंकि स्वरूप में पर का प्रवेश ही संभव नहीं है। अरे भाई! अकृतज्ञान, स्वाभाविक ज्ञान, सहजज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है; इसकारण आत्मा की किंचित्मात्र भी

अगुप्तता नहीं है तो फिर आत्मा को अगुप्तिभय कैसे हो सकता है? ज्ञानी तो नि:शंक वर्तता हुआ निरन्तर सहजज्ञान का ही वेदन करता है।

अगुप्तिभय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पंडित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं –

''**गुप्ति** अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि वस्तु के निजस्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; इसलिये वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है? वह तो नि:शंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।''

प्रत्येक संसारी प्राणी स्वयं सुरक्षित स्थान पर रहना चाहता है और अपनी संपत्ति को भी सुरक्षित रखने के लिए गुप्त रखना चाहता है। इसकारण निरन्तर ऐसे गुप्त स्थान की खोज में रहता है कि जहाँ उसे या उसकी सम्पत्ति को कोई खतरा न हो। ऐसा स्थान प्राप्त होना एक तो संभव ही नहीं है; दूसरे यदि कहीं-कोई स्थान अपेक्षाकृत सुरक्षित मिल भी जाय; तो भी वहाँ भी कोई प्रवेश न कर जाय – इस बात का भय सदा बना ही रहता है। इसप्रकार अज्ञानी प्राणी निरन्तर ही अगुप्तिभय से पीड़ित रहते हैं।

किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव यह अच्छी तरह जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु में नास्तित्व नाम का एक गुण है, शक्ति है; जिसका कार्य ही यह है कि स्ववस्तु में परवस्तु का प्रवेश ही न हो। आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी आजतक न पर का प्रवेश हुआ ही है और न कभी होगा ही। इसकारण वह परमगुप्त ही है। उसे अन्य किसी गुप्त स्थान की आवश्यकता ही नहीं है, वह स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूप अभेद्य किला है।

इसप्रकार का चिन्तन और पक्के निर्णय के कारण ज्ञानी जीवों को अगुप्तिभय नहीं होता।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(छप्पय)

परमरूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित ।
पर प्रवेस तहाँ नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित ॥
सो मम रूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन ।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहिं लहै और जन ॥
चितवंत एम धरि ध्यान जब, तब अगुप्तभय उपसमित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥

चैतन्य लक्षण से मंडित जिस आत्मा का स्वरूप सर्वोत्कृष्ट है और जो अनुभूति प्रत्यक्ष से जाना जाता है; उस आत्मा की अगम अखण्डित भूमि पर जब पर का प्रवेश ही नहीं है; तब ऐसे मेरे अनुपम, अकृत्रिम, अमाप आत्मा के अटूट ज्ञानधन को चोर किसप्रकार ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि उस आत्मा की भूमि पर तो अन्य पदार्थों का कोई स्थान ही नहीं है।

जब ध्यान धरकर यह आत्मा इसप्रकार का चिन्तन करता है; तब अगुप्तिभय उपशमित हो जाता है। इसलिए ज्ञानी तो अकलंक ज्ञानरूप निजात्मा को देखते हुए, अनुभव करते हुए निरंतर नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

इस कलश के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''कहते हैं कि वस्तु स्वयं ही स्वयं में गुप्त है। उसमें अन्य किसी का भी प्रवेश नहीं है। शरीर-मन-वाणी आदि पर का उसमें प्रवेश नहीं है, यह तो प्रगट ही है; पर उस मूल वस्तु में तो रागादि विकल्पों का भी प्रवेश नहीं है। भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु अखण्ड एक ज्ञायकस्वभाव की मूर्ति है। वह स्वरूप से ही परमगुप्त है। उसमें दया, दान आदि विकल्पों का भी प्रवेश नहीं है।

जिसप्रकार कोई किले में प्रवेश नहीं कर सकता, उसीतरह स्वयं भगवान आत्मा भी ध्रुव-अभेद्य किला है। उसमें शरीरादि तो क्या, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्पों का व एक समय की निर्मलपर्याय का भी प्रवेश नहीं।

अपने शाश्वत ध्रुव ज्ञानानन्दस्वरूप में प्रवेश करने की अन्य किसी की भी सामर्थ्य ही नहीं है। पर्याय तो नवीन होती है, पर ज्ञानस्वभाव तो अकृत ही है। ज्ञायकस्वभाव त्रिकाल अकृत्रिम है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा परमगुप्त ही है।[१]

सः स्वयं सततं निःशंकः सहजं ज्ञानं सदा विदन्ति – वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तते हुए सहजज्ञान को सदा अनुभव करता है। देखो, छहों कलशों में यह अन्तिम पंक्ति है; जिसमें कहा गया है कि ज्ञानी स्वयं अपनी पर्याय में सहज ज्ञानानन्दस्वभाव को अखण्डधारा से अनुभव करता है। भले ही यह विकल्प में आता हुआ दिखाई देता है; पर वह विकल्परूप होता ही नहीं है – ऐसा कहते हैं। उसका तो सदैव शाश्वत एक ज्ञानस्वभाव की ओर ही अखण्डधारा से झुकाव रहता है।[२]

सतत् व सदा कहकर यह कहा है कि ज्ञानी अखण्डरूप से सदैव ज्ञान का ही अनुभव करता है, कभी भी राग का अनुभव नहीं करता। देखो, यह है ज्ञानी के निर्जरा की स्थिति। उनकी अशुद्धता नष्ट हो जाती है और शुद्धता की वृद्धि होती है तथा मोक्ष में शुद्धि की पूर्णता होती है।[३]

देखो, यहाँ कहते हैं कि प्राणी बाहर खुले क्षेत्र में अगुप्त रहने से स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है; अतः वह मकान, किला आदि में गुप्त रहना चाहता है।

पर ज्ञानी जानते हैं कि वस्तु के निजस्वरूप में अर्थात् चैतन्यमयी त्रिकाल अस्तिरूप भगवान आत्मा में अन्य किसी परद्रव्यरूप चोरादि का प्रवेश ही नहीं है; भगवान आत्मा का स्वरूप ही परमगुप्तिरूप अभेद्य किला है। उसमें कौन प्रवेश कर सकता है? जिसप्रकार चक्रवर्ती के दरबार में किसी शत्रु का प्रवेश संभव नहीं; उसीप्रकार तीन लोक के नाथ चिदानन्द भगवान के दरबार में भी किसी अन्य का प्रवेश संभव नहीं है। ग्यारहवें कलश में आता है न कि ये

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १२५
२. वही, पृष्ठ १२५, १२६
३. वही, पृष्ठ १२६

बद्धस्पृष्टादिभाव आत्मा के ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं; अन्दर में प्रतिष्ठा नहीं पाते। जहाँ अपनी निर्मलपर्याय का ही प्रवेश नहीं है, वहाँ राग व पर का प्रवेश तो कैसे हो सकता।

जिसतरह जंगल का स्वामी सिंह निर्भय है, उसीप्रकार अनन्त गुणों का स्वामी भगवान आत्मा निर्भय है। अत: वह ज्ञानीपुरुष पुण्य-पाप को तो क्षणभर में ही समाप्त कर देता – ऐसा वह सिंह की भाँति पराक्रमी है।[१]''

स्वामीजी के उक्त कथन में एक बात विशेष उभरकर सामने आती है कि ज्ञानीजीव न केवल अनुभव के काल में, अपितु सदा ही निरन्तर अखण्डरूप से ज्ञान का अनुभव करता है; वह विकल्प के काल में भी विकल्प रूप नहीं होता, उसका झुकाव सदैव अखण्डधारा रूप से ज्ञानस्वभाव की ओर ही रहता है।

इस बात की पुष्टी ज्ञानगोष्ठी में समागत प्रश्नोत्तरों में निम्नांकित प्रश्नोत्तर से भी होती है –

प्रश्न : ''सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प होता है, तभी आनन्द का अनुभव करता होगा; शेष काल तो प्रमाद में ही जाता होगा।

उत्तर : सम्यग्दृष्टि सदाकाल शुद्धता में ही वर्तता है। भले निर्विकल्प उपयोग न हो और राग में प्रवृत्ति करता हो; खाना-पीना, सोना अथवा पूजा-भक्ति-श्रवण आदि बाह्य उपयोग में राग में वर्तता हो तो भी उस समय शुद्धता में ही वर्त रहा है – ऐसा कहने में आता है। सम्यग्दृष्टि स्वरूप में जागृत हुआ है, वह तो निरन्तर जागृत ही है। श्रेणिक आदि नरक में है, वे भी शुद्धपने में ही वर्त रहे हैं; राग में नहीं। राग आता है, उसे जानते हैं; किन्तु उसमें वर्तते नहीं।[१]''

वस्तुत: बात यह है कि जिनागम में अनुभूति या आत्मानुभव की बात दो प्रकार से आती है। एक तो यह कि जब आत्मा का उपयोग आत्मसन्मुख होता है, वह आत्मा का साक्षात् अनुभव कर रहा होता है, शुद्धोपयोग की दशा में होता है; तब यह कहा जाता है कि वह आत्मा का अनुभव कर रहा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १२७

२. वीतराग विज्ञान मार्च, १९९८ पृष्ठ २८

दूसरे सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद जब उपयोग बाहर की ओर हो, अन्य ज्ञेय में लगा हो; तब भी श्रद्धा गुण का अपनापन आत्मा में ही रहता है, चारित्र गुण में अनंतानुबंधी कषाय के अभाव में उत्पन्न शुद्धता परिणति में प्रगटरूप से विद्यमान रहती है और ज्ञानगुण की लब्धिज्ञानरूप प्रगट पर्याय में आत्मा ज्ञेय बना रहता है, सुख गुण में अतीन्द्रिय आनन्द झरता रहता है – यह सब सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों को सदा ही विद्यमान रहता है। इसबात को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि ज्ञानीजीव सदा ही आत्मा के स्वाद का वेदन करता रहता है, अनुभव करता रहता है।

इसप्रकार अनुभव शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है।

अब मरणभय संबंधी कलश काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५९॥

(हरिगीत)

मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को ।
ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो ॥
तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों ।
वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १५९॥

प्राणों के उच्छेद को मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान ही हैं और उस ज्ञान के स्वयं शाश्वत होने से उसका नाश कभी भी संभव नहीं है। इसकारण आत्मा का मरण संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी को मरणभय कैसे हो सकता है? ज्ञानी तो निरन्तर स्वयं निःशंक रहकर सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँच इन्द्रियाँ; मन, वचन और काय ये – तीन बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास – ये दस प्राण कहे गये हैं।

व्यवहारनय से संसारी जीव इन प्राणों से जीता है और उनके वियोग होने से उसका मरण माना जाता है; किन्तु निश्चयनय से तो ज्ञानदर्शनरूप चेतना ही जीव के वास्तविक प्राण हैं। अनादि से अनन्तकाल तक रहनेवाले इन ज्ञान-दर्शन गुणों का नाश संभव ही नहीं है; इसकारण आत्मा को स्वयं के नाशरूप मरण का भय कैसे हो सकता है? इसप्रकार के चिन्तन के आधार पर ज्ञानीजन मरणभय से रहित होते हैं।

इस कलश का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है –

(छप्पय)

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति ।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति ॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ ॥
यह चिंत करत नहि मरन भय, नय-प्रवांन जिनवरकथित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँच इन्द्रियाँ; मन, वचन और काय – ये तीन बल; श्वासोच्छ्वास और आयु – इन दस प्राणों के वियोग को जगत मरण कहता है; किन्तु जीव तो ज्ञानप्राणों से जीता है; जो प्राण तीन काल में कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होते।

प्रमाण और नयों के माध्यम से जिनवरदेव द्वारा कथित उक्त वस्तुस्वरूप के चिन्तन से मरणभय उत्पन्न नहीं होता। इसकारण ज्ञानी जीव तो कलंकरहित निज ज्ञानस्वभाव को देखते हुए निरन्तर नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

उक्त कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल मन-वचन-काय, आयु व श्वासोच्छ्वास – इन दस प्राणों के छूट जाने को लोक में मरण कहा जाता है, किन्तु निश्चय से देखा जाय तो आत्मा का प्राण तो एक ज्ञानानन्द ही है। चैतन्यभावप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति है। जीव ही उसे कहते हैं, जिसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द व सत्ता के प्राण हों।

इन्द्रिय आदि जड़-अचेतन प्राण तो असद्भूत व्यवहारनय से कहे गये हैं। इसकारण वे स्वरूप में नहीं हैं, स्वरूपभूत प्राण तो शुद्ध ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता व प्रभुता है। आत्मा स्वयं प्रभु परमात्मा है, जिसका प्रभुत्व प्राण है। ज्ञान की प्रभुता, दर्शन की प्रभुता, आनन्द की प्रभुता, सत्ता की प्रभुता, वीर्य की प्रभुता – ये जिसके प्राण हैं, वह जीव है। भगवान आत्मा ज्ञान व आनन्द के प्राणों से जी रहा है, टिक रहा है। आत्मा का प्राण तो निश्चय से ज्ञान है।

वह ज्ञान स्वयमेव शाश्वत होने से कभी भी नष्ट नहीं होता। देह का नाश तो होता है; क्योंकि वह नाशवान है, पर ज्ञान-दर्शन आदि निश्चय प्राणों का नाश नहीं होता; इसकारण आत्मा का मरण कभी नहीं होता।[१]

अपने शुद्ध चैतन्य प्राणों की पहचान बिना अज्ञानी जीव मरण के भय से निरन्तर दु:खी रहता है; जबकि ज्ञानी जीव निज शाश्वत चैतन्य प्राणों से अपना जीवन शाश्वत जानकर मरण के भय से मुक्त रहता है।[२]"

इसप्रकार इस कलश में यही कहा गया है कि आत्मा को अमर जाननेवाले ज्ञानीजीव मरणभय से आक्रान्त नहीं होते, आकुलित नहीं होते, अशान्त नहीं होते; वे तो निरन्तर नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

अब आकस्मिकभय संबंधी कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १६०॥

(हरिगीत)

इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है ।
यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनंत है ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत नि:शंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १६०॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १२९
२. वही, पृष्ठ १३०

यह स्वत:सिद्ध ज्ञान ही अनादि है, अनन्त है, अचल है और एक है; इसमें पर का उदय नहीं है; इसलिए इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिकभय कैसे हो सकता है? वह ज्ञानी तो स्वयं नि:शंक रहता हुआ सदा सहज ज्ञान का ही वेदन करता है।

जिसकी संभावना ही नहीं हो, जिसके होने की हमने कभी कल्पना ही न की हो; ऐसी कोई प्रतिकूलता न आ जावे, विपत्ति न आ जावे – ऐसी आशंका का नाम, ऐसी आकुलता का नाम, ऐसी आशान्ति का नाम आकस्मिकभय है। अज्ञानी जीवों को इसप्रकार का भय सदा ही बना रहता है। दुर्घटना बीमा कराने या जीवन बीमा कराना आदि प्रयास इसीप्रकार के भय के परिणाम हैं।

ज्ञानी जीव इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मेरा यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा तो अनादि-अनंत त्रिकालीध्रुव अचल पदार्थ है। इसमें कुछ भी आकस्मिक संभव नहीं है; क्योंकि एक तो इसमें पर का प्रवेश ही नहीं है, इसमें कुछ घटित ही नहीं होता है तो फिर कुछ भी दुर्घटित कैसे होगा? दूसरे जब सबकुछ स्वयं की पर्यायगत योग्यता के अनुसार सुनिश्चित ही है तो फिर अचानक कुछ हो जाने की बात ही कहाँ रहती है? इसप्रकार स्वयं के नित्यस्वभाव और पर्यायों के क्रमनियमित प्रवाह पर अडिग आस्था रखनेवाले ज्ञानियों को आकस्मिकभय कैसे हो सकता है?

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार किया है –

(छप्पय)

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम ।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम ॥
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक ।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक ॥
जब यह विचार उपजंत तब, अकस्मातभय नहि उदित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित ॥

मेरा स्वभाव तो सिद्ध भगवान के समान रागादि विकारीभावों से रहित शुद्ध है, सर्वज्ञत्वशक्ति से सम्पन्न बुद्ध है, विरुद्धभाव से रहित सहज ही समृद्धशाली है; अनादि-अनंत है, अलख-अरूपी है, अतुलनीय-अनुपम है और अविचल है। इस परमसुख के स्थान, विकल्पों से रहित चैतन्यविलास में कोई दुविधा नहीं है; क्योंकि इसमें कुछ भी अचानक नहीं होता।

जब इसप्रकार के विचार हृदय में उत्पन्न होते हैं; तब ज्ञानियों के हृदय में अकस्मात् भय उत्पन्न नहीं होता और ज्ञानी जीव निरन्तर अपने अकलंक ज्ञानस्वभाव को देखते हुए, अनुभव करते हुए नि:शंक ही रहते हैं, निर्भय ही रहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि हमने तो शास्त्रों में अनेक ज्ञानियों के चरित्र पढ़े हैं और जीवन में भी अनेक ज्ञानियों को देखा है; सर्वत्र ही यह देखने में आया है कि ज्ञानीजीव भी भयभीत होते हैं, डरते हैं, आकुलित होते हैं, आशंकित होते हैं और आप कह रहे हैं कि ज्ञानी जीवों के सात प्रकार के भय नहीं होते, वे सदा निर्भय ही रहते हैं, नि:शंक ही रहते हैं।

अरे भाई! यहाँ जिस भय के निषेध की बात कही जा रही है, वह मिथ्यात्व की भूमिका में होनेवाला अनन्तानुबंधी कषाय संबंधी भय है और जो भय ज्ञानियों के जीवन में देखा जाता है, वह सम्यक्त्व की भूमिका में भी दिखाई देनेवाला अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के सद्भाव में होनेवाला अस्थिरताजन्य भय है।

पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने इसी कलश के भावार्थ में इसप्रकार का प्रश्न उठाकर, उसका समुचित समाधान किया है; जो इसप्रकार है –

"**प्रश्न** : अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है और उनके भयप्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है?

समाधान : भयप्रकृति के उदय से, निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना

को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है; परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये और जो भय उत्पन्न होता है, वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिए ज्ञानी के भय नहीं।"

उक्त शंका का समाधान स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"देखो, श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती थे और आगामी काल में तीर्थंकर प्रकृति का कर्मबन्ध भी हो गया था; फिर भी जब उनके पुत्र ने उन्हें जेल में बन्द कर दिया, तब राजा श्रेणिक को किंचित् मृत्युभय लगा; परन्तु वह केवल चारित्र मोहोदयजनित अस्थिरता का भय था, श्रद्धा में वे उस समय भी निःशंक अविचलित और निर्भय थे। अस्थिरता के कारण जरा भय आ गया और सींकचे से चोट लगकर देह छूट गयी।[१]"

प्रश्न : आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति और नाटकसमयसार में समागत सातभयों के नामों में कहीं-कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई देता है तथा क्रम में तो अन्तर है ही। जैसे अरक्षाभय को तात्पर्यवृत्ति में अत्राणभय कहा है तथा नाटक समयसार में अगुप्तिभय को चोरभय कहा है।

उत्तर : यह कोई बात नहीं है; क्योंकि नाम के सन्दर्भ में एकार्थवाची भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग असंभव नहीं है, अनुचित भी नहीं है। भाव में कोई भेद न होने से सभी कथन आगम सम्मत और युक्ति संगत ही हैं। रही बात क्रम की; सो क्रम का अन्तर तो छन्दानुरोध से भी हो सकता है तथा क्रम तो मात्र कथन में पड़ता है; सातों भय जाते तो एक साथ ही हैं। अज्ञानी के सातों भय विद्यमान है और ज्ञानी के एक भी भय नहीं है।

सात भयों संबंधी कलश समाप्त होने के बाद अब आगामी गाथाओं का सूचक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १३४

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं ध्नंति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ १६१ ॥

(दोहा)

नित नि:शंक सद्दृष्टि को कर्मबंध न होय ।
पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥ १६१ ॥

टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यग्दृष्टियों के नि:शंकित आदि चिन्ह (अंग) समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं; इसकारण कर्मोदय होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को पुन: किंचित्मात्र भी कर्म का बंध नहीं होता; किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोदय को भोगने पर उस कर्म की नियम से निर्जरा ही होती है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(छप्पय)

जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुण गहंत ध्रुव ।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव ॥
जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत ।
जो नव बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत ॥
नि:संकतादि जस अष्ट गुन, अष्ट कर्म अरि संहरत ।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद, बानारसि वंदन करत ॥

निर्मल ज्ञान के अंकुर जिनके हृदय में प्रगट हुए हैं, ऐसे जो विचक्षण पुरुष अर्थात् सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा जीव परगुणों को त्यागकर अर्थात् पर पदार्थों में से एकत्वबुद्धि तोड़कर, शुद्ध ध्रुव निजगुणों को धारण कर उनमें एकत्वबुद्धि स्थापित कर, पूर्वकृतकर्मों को निर्जरा की धार में बहा देते हैं और नवीन कर्म बंध को रोककर, उनका संवर कर मोक्षमार्ग की ओर दौड़ते हैं, मुक्ति के मार्ग में उग्र पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ते हैं तथा जिनके अष्टगुणरूप नि:शंकादि आठ

अंग अष्ट कर्म शत्रुओं का नाश करते हैं; उन विचक्षण पुरुषों के चरण कमलों की बनारसीदास विनम्रतापूर्वक वंदना करते हैं।

देखो, यहाँ बनारसीदासजी कहते हैं कि अष्ट अंग के धारी सम्यग्दृष्टि जीव मुक्ति के मार्ग में चलते नहीं, दौड़ते हैं और शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"अनंत गुणों का गोदाम, अनंत शक्तियों का संग्रहालय भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द, शाश्वत अन्दर में जैसे का तैसा विराजमान है। ऐसे निजरस से भरपूर आत्मा के सर्वस्व का सम्यग्दृष्टि भोक्ता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि के जो नि:शंकित आदि चिन्ह हैं, वे समस्त कर्मों का नाश करते हैं।

देखो, सम्यग्दृष्टि के नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा आदि आठ गुण प्रगट हुए हैं। यद्यपि हैं तो ये पर्यायें; परन्तु इन्हें गुण कहते हैं। जिनको भगवान आत्मा के आनन्द का स्वाद आया है, वे नि:शंक हुए हैं, उन्हें नि:शंकितादि आठ गुण प्रगट हुए हैं, वे गुण समस्त कर्मों के क्षय में निमित्त बनते हैं।[१]

ज्ञानी के नि:शंकितादि गुणों के कारण कर्म का उदय वर्तते हुए भी कर्म का बंध किंचित् भी नहीं होता। इस कथन से कोई ऐसा अर्थ ग्रहण करले कि ज्ञानी के जरा भी दु:ख का वेदन नहीं है, तो यह बात भी बराबर नहीं है। यहाँ तो दृष्टि का विषय जो परिपूर्ण प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि में ज्ञानी अपने सर्वस्व का भोगनेवाला है – ऐसा कहा है।

दृष्टि का विषय तो नित्यानन्दस्वरूप आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द का भोग भले पर्याय में होता है; परन्तु वह पर्याय दृष्टि के विषय में नहीं है। दृष्टि का विषय तो अविकारी रस का कंद चैतन्यमूर्ति नित्यानन्द चिदानन्दकन्द प्रभु आत्मा है तथा उसके सर्वस्व का भोगनेवाला ज्ञानी है; क्योंकि वस्तु तो अन्दर परिपूर्ण है। ज्ञानी शरीर को, राग को और अल्पज्ञता को नहीं भोगता। उसकी दृष्टि पूर्ण पर है और वह पूर्ण को ही भोगता है। अहा ! भोगता तो अल्पज्ञपर्याय में है, पर भोगता है सर्वस्व को – पूर्ण को। भाई ! जन्म-मरण रहित होने का मार्ग तो यही है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १३४

अहा ! जिसने चैतन्य महाप्रभु-पूर्ण सत्ता को लक्ष्य-दृष्टि में लिया, अनुभव में लिया; उसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता तथा पुराना कर्म खिर जाता है।

प्रश्न : क्या फल दिये बिना ही खिर जाता है ?

समाधान : हाँ, फल दिये बिना ही खिर जाता है। जो उदय है, उसकी निर्जरा हो जाती है। कर्म तो जड़ है; परन्तु पर्याय में जो दु:ख का फल आता था, वह आनन्द स्वभाव का आश्रय लेने से नहीं आता। भाई ! चौरासी के जन्म-मरणरूप समुद्र से पार करने का यही एकमात्र उपाय है।[१]"

आठ अंगों सम्बन्धी गाथाओं में पहले नि:शंकित अंग संबंधी दो गाथाएँ हैं।

आत्मख्याति टीका में दोनों गाथाओं के बीच में सात कलश हैं; जिनमें छह कलश तो प्रथम गाथा के उपसंहार के रूप में सातभयों से संबंधित हैं और यह एक कलश नि:शंकित अंग सम्बन्धी दूसरी गाथा तथा शेष सात अंगों से संबंधित सात गाथाओं की उत्थानिका के रूप में हैं।

इस कलश में यही कहा गया है कि अष्ट अंगों के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि जीवों को नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और पुराने कर्म खिर जाते हैं।

सम्यक्त्व के जिन आठ अंगों की चर्चा यहाँ चल रही है; उनके नाम इसप्रकार हैं – (१) नि:शंकित अंग (२) निकांक्षित अंग (३) निर्विचिकित्सा अंग (४) अमूढदृष्टि अंग (५) उपगूहन अंग (६) स्थितिकरण अंग (७) वात्सल्य अंग और (८) प्रभावना अंग।

इस अवसर पर बनारसीदासजी उक्त आठ अंगों के नाम गिनाकर, उनका संक्षिप्त स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

(सोरठा)

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन ।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन ॥
पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज ।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना ॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग – ७, पृष्ठ १३९

(सवैया इकतीसा)

धर्म मैं न संसै सुभकर्म फल की न इच्छा,
असुभ कौ देखि न गिलानि आनै चित मैं।
सांची दिष्टि राखै काहू प्रानी कौ न दोष भाखै,
चंचलता भानि थिति ठानै बोध वित मैं॥
प्यार निज रूप सौं उछाह की तरंग उठै,
एई आठौं अंग जब जागै समकित मैं।
ताहि समकित कौं धरै सो समकितवंत,
वहै मोख पावै जौ न आवै फिर इत मैं॥

पहला संशय के अभावरूप नि:शंकित अंग, दूसरा वाँच्छा के अभावरूप नि:कांक्षित अंग, तीसरा ग्लानिभाव से रहित निर्विचिकित्सा अंग, चौथा निर्मल दृष्टिवाला अमूढ़दृष्टि अंग, पाँचवाँ पर दोषों के नहीं कहने रूप उपगूहन, छठवाँ धर्म में स्थिरता करनेवाला स्थितिकरण अंग, सातवाँ वात्सल्यभाव का पोषक वात्सल्य अंग और आठवाँ धर्मप्रभावना करानेवाला प्रभावना अंग है।

धर्म में अर्थात् जिनागम में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप में शंकित नहीं रहना, शुभकर्म करते हुए भी उनके फल की वाँच्छा नहीं करना, अशुभभावों एवं मलिनपदार्थों को देखकर चित्त में ग्लानि नहीं लाना, वस्तु के स्वरूप में सम्यक्दृष्टि रखना, किसी भी प्राणी के दोषों को यहाँ-वहाँ नहीं कहना, चित्त की चंचलता को देखकर अपने मन को रत्नत्रय में स्थिर करना, अपने स्वभाव में प्रीतिवंत रहना और धर्म के प्रति सदा ही उत्साहवंत रहना – ये आठ अंग सम्यग्दर्शन के हैं।

इन आठ अंगों सहित सम्यग्दर्शन को जो जीव धारण करते हैं; वे जीव ही सम्यग्दृष्टि हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अविनाशी मोक्षपद प्राप्त करते हैं और फिर लौटकर संसार में नहीं आते।

उक्त आठ अंगों का वर्णन अब आचार्यदेव स्वयं ही आठ गाथाओं के माध्यम से करते हैं; अत: यहाँ इनके सम्बन्ध में अधिक चर्चा करना उपयुक्त नहीं है। ●

समयसार गाथा २२९

यह तो पहले कहा ही था कि नि:शंकित अंग संबंधी दो गाथायें हैं, जिनमें पहली की व्याख्या तो हो चुकी, जिसमें सप्तभयों को ही शंका दोष बताया गया है और उक्त सप्तभयों से रहित सम्यग्दृष्टि जीवों को नि:शंकित अंग का धारी कहा गया है।

अब इस गाथा में कर्मबंध के कारणरूप मिथ्यात्वादि चारभावों के अभावरूप भाव को नि:शंकित अंग बताया जा रहा है; जो इसप्रकार है –

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २२९ ॥

जो कर्म बंधन मोह कर्ता चार पाये छेदते ।
वे आतमा नि:शंक सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना ॥ २२९ ॥

जो आत्मा कर्मबंध संबंधी मोह करनेवाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को छेदता है; उसको नि:शंक अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

आत्मख्याति में इस गाथा की टीका अतिसंक्षेप में लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं –

"सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एकज्ञायकभावमय होने के कारण कर्मबंध की शंका करनेवाले (जीव निश्चय से भी कर्मों से बंधा है आदि रूप संदेह या भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावों का अभाव होने से नि:शंक है, इसलिए उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, किन्तु निर्जरा ही होती है।"

इस गाथा व टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"सम्यग्दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है उसका वह, स्वामित्व के अभाव के कारण, कर्ता नहीं होता। इसलिए भय प्रकृति का उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता। ऐसा होने से उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं।"

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इसीप्रकार का भाव व्यक्त करते हैं। वे चार पादों के नाम भी गिना देते हैं, जो इसप्रकार है –

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि गाथा में **कम्मबंधमोहकरे** पद है, जिसका अर्थ आत्मख्याति में **कर्मबंधशंकाकर मिथ्यात्वादि भाव** अर्थ किया है। तात्पर्य यह है कि आत्मख्याति में मोह का अर्थ शंका किया है, जो नि:शंकित अंग का प्रकरण होने से उचित ही है।

इस बात का रहस्य स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"मैं कर्म से बंधा हूँ – ऐसा मानना ही संदेह या शंका नामक दोष है और यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। मैं तो कर्म व राग के सम्बन्ध से रहित अबद्ध-मुक्तस्वरूप ही हूँ – ऐसा मानना व अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। दूसरे तरीके से कहें तो मेरा स्वद्रव्य कर्म के सम्बन्ध में है – ऐसा संदेह ज्ञानी को नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि एक ज्ञायकभाव में – स्वद्रव्य में कर्म व रागादि है ही नहीं, एक ज्ञायकभाव स्वयं सदा पर के सम्बन्ध से रहित ही है।[१]

यहाँ मिथ्यात्वादि में आदि शब्द से अविरति, कषाय व योग के परिणाम ग्रहण किये हैं। उनमें मूल तो मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न : तो क्या समकिती के उक्त चारों ही प्रत्ययों का अभाव है?

समाधान : हाँ, चारों का ही अभाव है। मूल गाथा में ही कहा है न? कि जो **चत्तारिवि पाए छिंददि** अर्थात् जो मिथ्यात्वादि चारों ही पादों को छेदता है, वह नि:शंकित सम्यग्दृष्टि है। उसमें विशेषता यह है कि एक ज्ञायकभावमयत्व की दृष्टि में राग का सम्बन्ध है तथा कर्म का सम्बन्ध है – ऐसी शंका करनेवाले मिथ्याभाव का ही अभाव है।

प्रश्न : यहाँ चारों ही प्रत्ययों का जो अभाव कहा है, सो वह अभाव द्रव्य में है या पर्याय में?

समाधान : भाई! पर्याय में अभाव है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग – इन चारों का ज्ञानी के अभाव है; क्योंकि उनमें से एक भी वस्तु

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १४१

पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा में नहीं है। शुद्ध चैतन्यरूप की दृष्टि में मिथ्यात्वादि चारों ही नहीं हैं। बापू! बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो आचार्य ने केवली भगवान का पेट खोलकर रख दिया है। यह पहली नि:शंकित अंग की गाथा बहुत ही ऊँची है। मैं एक चैतन्यस्वरूप अबद्धस्पृष्ट मुक्तस्वरूप ही हूँ – जहाँ ऐसा भान हुआ, वहाँ मैं बंधा हूँ – ऐसी शंका रहती ही नहीं है; क्योंकि वहाँ शंका उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व का अभाव हो गया है।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि के सिद्धदशा तो है नहीं, जब सिद्धदशा नहीं है तो फिर चारों प्रत्ययों का अभाव किस अपेक्षा से बताया है?

समाधान : अरे भाई! ध्यान से सुनो – हाँ, उसे सिद्धदशा ही है, उसका आत्मा मुक्त ही है। अहाहा! सम्यग्दृष्टि को तो आत्मा, दृष्टि व ज्ञान में मुक्तस्वरूप ही ज्ञात होता है। जिसे मुक्तस्वरूप सिद्ध समान शुद्धात्मा का आश्रय होता है, उसे ही पर्याय में सिद्धदशा प्रगट होती है।[१]

प्रश्न : ज्ञानी के अर्थात् अविरत समकिती के मिथ्यात्व सम्बन्धी भाव का अभाव होता है या चारों प्रत्ययों का अभाव हो जाता है?

समाधान : भाई! ज्यों ही अपने त्रिकाली एक चैतन्य स्वभाव की, ज्ञायकभाव की दृष्टि होती है, त्यों ही मैं कर्म के सम्बन्धवाला हूँ – ऐसे मिथ्याभाव का अभाव हो जाता है तथा स्वरूप में शंका उत्पन्न करनेवाले चारों ही भावों का उसकी दृष्टि में अभाव हो जाता है। जिसकी श्रद्धा में शुद्ध एक ज्ञायकस्वभावी पूर्ण प्रभु आत्मा की स्वीकृति हुई, उसके वे चारों ही कर्मबंध के प्रत्यय हैं ही नहीं। ज्ञानी की स्वभाव पर दृष्टि जाते ही उन सब विभावभावों रूप कर्मप्रत्ययों का अभाव हो जाता है। उसकी दृष्टि में वे चारों ही नहीं रहते। उसकी श्रद्धा का श्रद्धेय व ज्ञान का ज्ञेय तो एकमात्र त्रिकालीतत्व ही दृष्टिगत होता है। अत: उसकी दृष्टि में स्वरूप में शंका करनेवाले चारों भावों का अभाव हो जाता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १४३

यहाँ कहते हैं कि भाई! जिसको अपनी अल्पज्ञपर्याय में परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा की स्वीकृति हुई है, उसको उस स्वीकृति में मिथ्यात्वादि सभी का त्याग हो जाता है।[१]"

उक्त कथन का भाव यह है कि जब ज्ञानी की दृष्टि में बंध के चारों कारणों में अपनापन नहीं रहा तो आत्मा में तो उनका अभाव ही हो गया। कदाचित् लोक में उनकी सत्ता हो भी तो ज्ञानी को उससे क्या अन्तर पड़ता है; जब उसका अपनापन टूट गया तो उसके लिए तो अभाव ही हो गया।

उक्त प्रतिपादन की गहराई में जाने से सभी भाव हृदयंगम हो जावेगा; विहंगावलोकन से कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। अतः इस प्रकरण पर गहराई से चिन्तन-मनन करें।

प्रश्न : आचार्य अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सर्वज्ञ कथित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप में यह सत्य या असत्य – ऐसी शंका नहीं करने को निःशंकित अंग कहा है[२] और आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं; सन्मार्ग में संशय रहित और तलवार की धार के समान अकंप रुचि को निःशंकित कहा गया है[३]; किन्तु यहाँ सप्तभय रहित और कर्मबंध करनेवाले चारों पादों के अभाव को निःशंकित अंग कहा जा रहा है।

उत्तर : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और रत्नकरण्डश्रावकाचार श्रावक धर्म का स्वरूप बतानेवाले चरणानुयोग के ग्रंथ हैं और यह समयसार परम-अध्यात्म का प्रतिपादक द्रव्यानुयोग का ग्रंथ है। इसीकारण यह शैलीगत अंतर आ गया है। निःशंकित अंग का धारी उक्त सभी विशेषताओं से संपन्न होता है। अतः सभी प्रतिपादन अपने-अपने स्थान पर परमसत्य ही हैं। •

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १४४
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द २३
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, छन्द ११

समयसार गाथा २३०

अब नि:कांक्षित अंग संबंधी गाथा कहते हैं, जो इसप्रकार है –

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३०॥

सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा ।
वे आतमा निकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३०॥

जो चेतयिता आत्मा कर्मों के फलों के प्रति और सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता; उसको नि:कांक्षित अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र नि:शंकित अंग के समान ही अति संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। शब्दावली भी बहुत कुछ नि:शंकित के समान ही है। आत्मख्याति का कथन मूलत: इसप्रकार है –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सभी कर्मफलों एवं वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से नि:कांक्षित अंग से सहित होते हैं; इसलिए उन्हें कांक्षाकृत बंध नहीं होता; किन्तु निर्जरा ही होती है।''

गाथा में सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मफलों के साथ-साथ सर्वधर्मों के प्रति भी निर्वाच्छक बताया गया है तथा गाथा में समागत धर्म शब्द का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में वस्तुधर्म कहकर किया है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या धर्म की अथवा वस्तुधर्म की कांक्षा होना भी दोष है? तात्पर्य यह है कि धर्म की कांक्षा होना तो गुण होना चाहिए, दोष नहीं। प्रश्न मूलत: यह है कि यहाँ धर्म या वस्तुधर्म शब्द से क्या अभिप्राय अपेक्षित है, धर्म से निर्वाच्छक होने का आशय क्या है?

पंडित जयचंदजी छाबड़ा ने भावार्थ में तात्पर्यवृत्ति के अभिप्राय को आधार बनाकर इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार दिया है –

"सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्मफलों की वांछा नहीं होती; तथा सर्व धर्मों की वांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व, पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वांछा नहीं है – उनके प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहार धर्मों की उसे वांछा नहीं है – उन धर्मों का आदर नहीं है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होता है, इसलिये उसे वांछा से होनेवाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती; इसलिए उसे मिटाने की, उपचार की वांच्छा सम्यग्दृष्टि को चारित्र मोह के उदय के कारण होती है; किन्तु वह उस वांच्छा का कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिए उसे वांच्छाकृत बन्ध नहीं होता।"

प्रश्न : तात्पर्यवृत्ति को आधार बनाकर - यह कह कर आप क्या कहना चाहते हैं?

उत्तर : तात्पर्यवृत्ति में धर्म शब्द का अर्थ वस्तुधर्म करते हुए भी पुण्यरूप धर्म या अन्यमतों द्वारा मान्य धर्म भी किया गया है। इसी को आधार बनाकर जयचंदजी छाबड़ा ने उक्त स्पष्टीकरण किया है।

इस गाथा के सन्दर्भ में स्वामीजी का कथन इसप्रकार है –

"टीका में **चेतयिता** का अर्थ सम्यग्दृष्टि किया है। गाथा में भी **चेतयिता** शब्द डालकर यही कहा है कि जो अपने को जानता है, चेतता है; वह ज्ञानी है।[१]

यहाँ समस्त वस्तुधर्मों का अर्थ हीरा, माणिक, मोती, सोना, चाँदी आदि समस्त धन-धान्यादि वैभव तथा समस्त कीर्ति प्रशंसा का भाव है। इन सबकी वांच्छा ज्ञानी के नहीं है; क्योंकि उसके एक ज्ञायकभावमयता है। ज्ञानी निन्दा-प्रशंसा के भावों को मात्र परज्ञेय रूप से जानते हैं। ज्ञानी के कभी ऐसी वांछा नहीं है कि जगत में उसकी प्रशंसा हो।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १४७
२. वही, पृष्ठ १४७, १४८

यहाँ धर्मों से तात्पर्य पुद्गलस्वभाव से है, परवस्तु के अनन्तधर्मों से है। ज्ञानी परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त माध्यस्थभाव से रहता है। कंचन हो या काँच, मणिरत्न हो या पाषाण, निन्दा के वचन हों या प्रशंसा के, परद्रव्य का कैसा भी परिणमन हो, उसमें ज्ञानी साम्यभाव रखता है; क्योंकि उसे परधर्मों की भी वांच्छा नहीं है और ये सब जड़पदार्थ पुद्गलस्वभावी है, परस्वभाव है; अत: परधर्म है।[१]

ज्ञानी के पुण्य-पाप व पुण्य-पाप के फल में समभाव है; क्योंकि वह सब को पुद्गलस्वभाव मानता है। ज्ञानी सभी प्रसंगों में एक ज्ञाताभाव से रहता है। किसी भी परवस्तु की वांच्छा नहीं करता।[२]

यद्यपि धर्मी के भी वांच्छा व बाह्यप्रवृत्ति देखी जाती है, परन्तु वह उस वांच्छा का कर्ता नहीं होता, वह उसे कर्म की उदयजनित परिणति जानकर उसका भी ज्ञाता रहता है। सम्यग्दृष्टि धर्मी कहते ही उसे हैं, जो इच्छा का कर्ता नहीं होता। इच्छा रागभाव है, विभावभाव है और विभाव दु:खरूप होता है; अत: ज्ञानी उस राग का कर्ता कैसे हो सकता है? धर्मी तो निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन करनेवाला व अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भोगनेवाला है। अत: वह विभाव का कर्ता नहीं होता।[३]''

प्रश्न : आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में तो नि:कांक्षित अंग के सन्दर्भ में अन्यमतों की बात नहीं कही तथा पुण्यरूप धर्म की भी चर्चा नहीं की?

उत्तर : आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रंथ में नि:कांक्षित अंग के सन्दर्भ में अन्यमत सम्बन्धी बात भी पाई जाती है; जो इसप्रकार है -

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषित परसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥ २४॥

सम्यग्दृष्टि जीव इस भव में वैभवादि की, परभव में चक्रवर्ती व नारायण आदि पदों की तथा एकान्तवाद से दूषित अन्यमतों की भी आकांक्षा न करें।

अब रही बात पुण्यरूप धर्म की, सो यह तो विदित ही है कि धर्म के साथ कर्मफल की भी वांच्छा नहीं करने की बात उक्त गाथा में कही गई है और

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १४८
२. वही, पृष्ठ १४९
३. वही, पृष्ठ १५०

कर्मफल में पुण्य-पाप तथा पुण्य-पाप के फल आ ही जाते हैं; इसकारण वस्तुधर्म में पुण्यरूप धर्म की बात कहना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में सांसारिक सुख की कांक्षा नहीं होने को ही नि:कांक्षित अंग कहते हैं।[१]

इसप्रकार पुण्यरूप धर्म के फल में प्राप्त होनेवाले सांसारिक सुख, लौकिक वैभव, चक्रवर्ती आदि पदों की कामना न होना और अन्यमतों की श्रद्धा नहीं होना ही नि:कांक्षित अंग है। •

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक - १२

यदि वह व्यवहार का निषेध न करे तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो, आत्मा का अनुभव कैसे हो? आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए ही तो यह सब प्रयास है। 'व्यवहार तो हमारा मित्र है, उसका निषेध कैसे करें?' - यदि इस विकल्प में उलझ जावे तो फिर उसका भूतार्थपना ही नहीं रहेगा।

निश्चय व्यवहार का निषेध कोई द्वेष के कारण थोड़े ही करता है; वह निषेध्य है, इसलिए निषेध करता है। उसकी सार्थकता निषेध में है। उसका प्रयोग भी साबुन की भाँति निषेध के लिए ही होता है।

जिसप्रकार साबुन लगाए बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। — **परमभावप्रकाशक नयचक्र**, पृष्ठ ५५

समयसार गाथा २३१-२३२

अब निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जो इसप्रकार है -

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३१॥
जो हवदि असम्मूढो चेदा सिद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३२॥

जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तुधर्मों के प्रति ।
वे आतमा ही निर्जुगुप्सक समकिती हैं जानना ॥ २३१॥
सर्व भावों के प्रति सद्दृष्टि हैं असंमूढ़ हैं ।
अमूढदृष्टी समकिती वे आतमा ही जानना ॥ २३२॥

जो चेतयिता आत्मा सभी धर्मों के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता; उसको निर्विचिकित्सा अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता आत्मा समस्त भावों में अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिवाला है; उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से निर्विचिकित्सा अंग का धारी और सभी भावों में मोह का अभाव होने से अमूढ़दृष्टि अंग का धारी है। इसलिए उसे निश्चय से विचिकित्साकृत एवं मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।''

ध्यान रहे उक्त दोनों गाथाओं की टीका बहुत-कुछ समान होने के कारण पुनरावृत्ति से बचने के लिए दोनों गाथाओं की टीकाओं का अर्थ एक साथ किया गया है। इसीप्रकार का प्रयोग आगे के अंगों में भी किया जायेगा।

तात्पर्यवृत्ति में भी आत्मख्याति के समान ही इन गाथाओं का अर्थ किया गया है।

यहाँ निर्विचिकित्सा अंग में सभी धर्मों में ग्लानि नहीं होने की एवं अमूढ़दृष्टि अंग में सभी भावों में मूढ़ता नहीं होने की बात कही गई है।

यहाँ सभी धर्मों और भावों से क्या आशय है? – इस बात का खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के निम्नांकित श्लोकों से भली-भाँति हो जाता है –

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥ २५॥
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ २६॥

भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी आदि नानाप्रकार के भावों में तथा विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए।

लोक में, शास्त्राभास में, धर्माभास में और देवताभास में तत्त्वरुचि से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि पुरुषों को सदा ही मूढ़ता रहित श्रद्धान करना चाहिए।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि यहाँ सभी धर्मों का आशय भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि भावों तथा जिन्हें देखने से ग्लानि हो – ऐसे पदार्थों से है और सभी भावों का आशय देव, शास्त्र, गुरु व धर्म के सन्दर्भ में सही निर्णय होने से है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार और छहढाला में रत्नत्रय से पवित्र मुनिराजों के मलिन शरीर को देखकर भी ग्लानि नहीं होने को निर्विचिकित्सा अंग कहा गया है।

उक्त गाथाओं का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"सम्यग्दृष्टि के सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव है। वह जानता है कि दुर्गन्धादि पदार्थ तो जड़ के हैं, जड़ में हैं। वे आत्मा में हैं ही कहाँ? आत्मा तो पूर्ण आनन्द व ज्ञान का घनपिण्ड है। ऐसा जानने से ज्ञानी के सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा नहीं होती। इसलिए ज्ञानी के विचिकित्साकृत बन्ध नहीं है, बल्कि निर्जरा ही है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १५३

देखो, ज्ञानी को कर्मप्रकृति के उदय के जुड़ान में थोड़ा-सा अस्थिरता का भाव हो जाता है; परन्तु वह उसका कर्ता या स्वामी नहीं होता, वह तो उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है; क्योंकि उसे अपना ज्ञायकभाव भासित हो गया है। इसकारण उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता।[१]

ज्ञानी के देव-गुरु-धर्म आदि किसी में भी मूढ़ता नहीं होती। केवली भगवान को ऐसा केवलज्ञान है, जो एक समय में तीनकाल व तीनलोक के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एकसाथ जानता है, एकसमय में होनेवाले अनन्त द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को एकसाथ जानता है।

श्री समन्तभद्राचार्य के वृहत्स्वयंभूस्तोत्र के ११४वें श्लोक में कहा है कि प्रभु! तेरी सर्वज्ञता का स्वरूप हमने जाना है। तेरी एकसमय की ज्ञानपर्याय में जगत के अनन्त द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जाने जाते हैं। अहा! आपने सर्व अनन्त पदार्थों को जाना है; इसलिए आप सर्वज्ञ हो, इसमें जरा भी संदेह नहीं है। सर्वज्ञता का निर्णय करनेवाला हमारा आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है। हमें हमारे स्वरूप में - सर्वज्ञस्वभाव में किंचित् भी शंका या मूढ़ता नहीं है।

अहा! आचार्यदेव ने **सव्व भावेसु** अर्थात् सब भावों में तथा **सव्व धम्मेसु** अर्थात् सब धर्मों में आदि कहकर पूर्णता की बात कह दी है। अहा! जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभावी प्रभु आत्मा को जाना है व अनुभव किया है, उसे ज्ञानस्वभाव में कोई शंका नहीं रहती।[२]

अहा! देखो, यहाँ तो यह कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है। किसी को यह आशंका हो सकती है कि क्या सम्यग्दृष्टि को इतना अधिक ज्ञान हो सकता है कि जिससे सर्व पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भासित हो जावे? उत्तर में आचार्य कहते हैं कि हाँ भाई! श्रुतज्ञान में सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानने की सामर्थ्य है। इसीकारण समकिती को परपदार्थों की समझ में मूढ़ता नहीं रहती। अहा! जिसने एक ज्ञायक को यथार्थ

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १५४
२. वही, पृष्ठ १५६

जाना, उसने सबको यथार्थ जान लिया; क्योंकि उसका सम्पूर्ण ज्ञान यथार्थ हो गया है।[१]

अब कहते हैं कि ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से उसकी किसी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। उसकी पर में मूढ़दृष्टि नहीं रहती; क्योंकि उसके श्रद्धा सम्बन्धी राग-द्वेष-मोह का अभाव है। अत: वह पर पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं देखता।

यद्यपि चारित्र मोहोदय के निमित्त से परपदार्थों में किंचित् इष्टानिष्टपना उत्पन्न होता है; किन्तु वह उसे अपने पुरुषार्थ की कमजोरी व उदय का बलवानपना जानकर उन भावों का कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसकारण उसे मूढ़दृष्टिकृत कर्म बंध नहीं होता। तथा उदय में आई कर्मप्रकृति रस देकर खिर जाने से निर्जरा ही होती है।

ज्ञानी उन भावों का कर्ता नहीं होता, उसका उन भावों से स्वामित्व भी नहीं है; अत: उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं होता; बल्कि निर्जरा ही होती है।[२]"

इसप्रकार मलिनपदार्थों और मलिनभावों में ग्लानि नहीं होना निर्विचिकित्सा अंग है तथा देव-शास्त्र-गुरु व जीवादि तत्त्वों की सच्ची समझ होना, इनके सन्दर्भ में मूढ़ता नहीं होना ही अमूढ़दृष्टि अंग है। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १५८
२. वही, पृष्ठ १५९

आत्मानुभूति प्राप्त पुरुषों की अन्तर्परिणति अनुभूति के काल में अत्यन्त शांत एवं ज्ञानानंदमय होती है। दृष्टि के अन्तर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्पजाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर में निर्विकल्पक अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं। वे आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं आनन्द पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है। – **मैं कौन हूँ**, पृष्ठ १६

समयसार गाथा २३३-२३४

अब उपगूहन अंग एवं स्थितिकरण अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जो इसप्रकार है -

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३३॥
उम्मग्गं गच्छतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३४॥

जो सिद्धभक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें ।
वे आतमा गोपनकरी सद्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३३॥
उन्मार्गगत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में ।
वे आतमा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३४॥

जो चेतयिता सिद्धों की भक्ति से युक्त हैं और परवस्तुओं के सभी धर्मों को गोपनेवाला है; उसको उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को सन्मार्ग में स्थापित करता है, वह स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त किया गया है -

"सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करनेवाला होने से उपबृंहक है, आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, उपगूहन या उपबृंहणअंग का धारी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से च्युत होने पर स्वयं को मोक्षमार्ग में स्थापित कर देने से स्थितिकरण अंग का धारी है। इसलिए उसे शक्ति की दुर्बलता से होनेवाला और मार्ग से च्युत होने से होनेवाला बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।"

आचार्य जयसेन द्वारा तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का लिखा गया अर्थ विषयवस्तु को अधिक स्पष्ट करता है, वह इसप्रकार है -

''शुद्धात्मभावनारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति से युक्त और मिथ्यात्व रागादि विभावभावों का विनाशक सम्यग्दृष्टि जीव उपगूहन अंग का धारी है और मिथ्यात्व रागादिरूप उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को परमयोग के अभ्यास के बल से शुद्धात्मभावनारूप निश्चयमोक्षमार्ग में दृढ़ता से स्थापित करनेवाला सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण अंग का धारी जानना चाहिए।

ऐसे सम्यग्दृष्टियों को अनुपगूहनकृत और अस्थितिकरणकृत बंध नहीं होता; अपितु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है।''

इसमें एक विशेषता तो यह है कि सिद्धभक्ति से व्यवहार सिद्धभक्ति या रागरूप सिद्धभक्ति न लेकर शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चयभक्ति ली गई है; दूसरे स्थितिकरण अंग में शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चय मोक्षमार्ग में स्वयं को स्थापित करने की बात कही गई है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में अन्य धर्मात्माओं के दोषों को उद्घाटित नहीं करने को उपगूहन और मार्ग से च्युत अन्य साधर्मीजनों को धर्ममार्ग में स्थिरता करानेवाला स्थितिकरण अंग कहा गया है।

प्रश्न : मूल गाथा और तात्पर्यवृत्ति में पाँचवें अंग का नाम उपगूहन कहा गया है, किन्तु आत्मख्याति में इसे उपबृहंण कहा गया है। इन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर : उपगूहन का अर्थ होता है छुपाना और उपबृंहण का अर्थ होता है बढ़ाना-वृद्धि करना। पाँचवें अंग के जिनागम में दो नाम पाये जाते हैं एक उपगूहन अंग और दूसरा उपबृंहण अंग।

वस्तुत: बात यह है कि दोषों को छुपाना या मिटाना और गुणों की वृद्धि करना – ये दोनों ही काम इस अंग में शामिल हैं। दोषों को मिटाने या छुपाने की अपेक्षा इसे उपगूहन कहा जाता है और गुणों में वृद्धि करने की अपेक्षा इसे उपबृंहण कहा जाता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय में उपबृंहण और उपगूहन – दोनों की ही चर्चा है और स्थितिकरण में भी स्व और पर दोनों के स्थितिकरण की बात कही गई है।

समयसार परमाध्यात्मिक ग्रन्थ होने से इसमें निश्चय की प्रधानता से मात्र स्व के गुणों के उपबृंहण और स्व के स्थितिकरण की ही बात आई है।

पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसे इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है। उपगूहन का अर्थ छिपाना है। यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया हुआ है और जहां उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया, वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही; इसलिये वह समस्त अन्य धर्मों का गोपनेवाला और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है।

इस गुण का दूसरा नाम उपबृंहण भी है। उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना। सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया है; इसलिये उसके आत्मा की समस्त शक्तियां बढ़ती हैं – आत्मा पुष्ट होता है; इसलिये वह उपबृंहणगुणवाला है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है; इसलिये उसे दुर्बलता से जो बंध होता था; वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है। यद्यपि जबतक अन्तराय का उदय है, तबतक निर्बलता है; तथापि उसके अभिप्राय में निर्बलतां नहीं है, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कर्मोदय को जीतने का महान उद्यम वर्तता है।''

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार इसप्रकार हैं –

''यद्यपि समकिती सिद्धभक्ति करता है; परन्तु सिद्ध परमात्मा के माध्यम से वह अपने अन्दर जो शुद्ध चैतन्यमय सिद्धस्वरूप परमात्मतत्त्व विद्यमान है, उस निर्विकल्पस्वरूप निजतत्त्व का ही भजन करता है, अनुभव करता है। वही वास्तविक परमार्थ सिद्धभक्ति है। सिद्ध भगवान की भक्ति तो रागरूप विकल्प होने से व्यवहार भक्ति है, वास्तविक भक्ति नहीं।

देखो, पिछली गाथाओं में चेदा-चेतयिता शब्द आये थे। यहाँ तो सीधा **सिद्धभत्तिजुत्तो** वाक्य कहा गया है। चेदा-चेतयिता भी एक ज्ञायकभावमय है और समकिती भी अपने शुद्ध चैतन्यमय, एक ज्ञायकभावमय स्वरूप में ही

एकाग्रतायुक्त है। वस्तुतः समकिती की वह स्वरूपएकाग्रता ही परमार्थ सिद्धभक्ति है। यहाँ सिद्धपद में विराजमान; अपने से पर सिद्ध भगवान की भक्ति की बात नहीं है; क्योंकि वह भक्ति तो व्यवहाररूप है और यह बात अपने ज्ञायकस्वरूपमय प्रभु आत्मा में एकाग्र होने व उसी में स्थित रहने, लीन होनेरूप निश्चयभक्ति की बात है। यह भक्ति ही शुद्धि की वृद्धि का अद्भुत मांगलिक कार्य है।[१]

उपयोग को जहाँ सिद्धभक्ति में जोड़ा, वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रहती। उपयोग में जहाँ शुद्धात्मा आया; वहाँ बाह्य व्रत, तप आदि राग पर से दृष्टि सहज ही छूट जाती है। इसीकारण उसे अन्य धर्मों का गोपन करनेवाला कहा जाता है। जिनेश्वरदेव का मार्ग अलौकिक है।[२]

अहा! उपयोग को अपने सिद्धस्वरूप शुद्धात्मा में जोड़ने से ज्ञानी के आत्मा की सर्व शक्तियाँ बढ़ती हैं, आत्मा अपने अनन्त धर्मों से, शान्ति से, ज्ञान से, सुख से पुष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा की विशुद्धि निरंतर वृद्धिगत होने से धर्मी के दुर्बलता से होनेवाला बंध भी नहीं होता।[३]

देखो, सम्यग्दृष्टि स्वयं ही स्वयं को अपने में स्थित करता है, ऐसा कहा है। अहा! स्वयं कदाचित् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग से च्युत होता है, तो अपने को उसी मार्ग में स्थित करता है। जगत में कोई बड़ी भारी प्रतिकूल परिस्थिति के कारण या अपने अन्दर के पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण कदाचित् शंका आदि दोष हो जावे, तो वह उसे निकाल देता है, उस दोष को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः – यह तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है न? इसका निश्चयपरक अर्थ यह है कि शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में प्रतीति, ज्ञान व उसी में रमणता होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्ररूप मोक्षमार्ग

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १६१, १६२
२. वही, पृष्ठ १६४
३. वही, पृष्ठ १६६

है। यदि ऐसे शुद्धरत्नत्रयरूप मार्ग से डिगने का प्रसंग आवे तो वैसे संयोग में भी ज्ञानी-समकिती स्वयं अपने को उस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में ही स्थापित कर लेता है।[१]''

इसप्रकार साधर्मियों के दोषों को उजागर न करना तथा अपने गुणों में निरंतर वृद्धि करना उपगूहन या उपबृंहण अंग है और स्व और पर को मुक्ति के मार्ग में दृढ़ता से स्थापित करना स्थितिकरण अंग है। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १६८, १६९

परिणमनशीलता द्रव्य का सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्य को अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। कोई भी द्रव्य एक समय को भी परिणमन से खाली नहीं रहता। यदि एकसमय भी परिणमन रुक जाये तो द्रव्य का द्रव्यत्व ही कायम न रहे। द्रवणशीलता – परिणमनशीलता का नाम ही द्रव्य है।

परिणमन-स्वभाव के अभाव में स्वभाववान द्रव्य की सत्ता के अभाव का प्रसंग भी उपस्थित हो जाएगा। जिसप्रकार शरीर में जो खून दौड़ता है, यदि वह दौड़ना बन्द कर दे तो हृदयगति रुक जाने से मनुष्य की मौत का प्रसंग उपस्थित हो जाता है; उसीप्रकार यदि किसी द्रव्य का एकसमय को भी परिणमन रुक जाये तो उसकी मौत (अभाव) का प्रसंग उपस्थित होगा। और द्रव्य के अभाव के साथ-साथ विश्व के अभाव का भी प्रश्न आयेगा; क्योंकि छह द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व है।

जिसप्रकार खून निरन्तर दौड़ता है, फिर भी थकता नहीं; क्योंकि दौड़ना ही उसका जीवन है, निरन्तर गति करने में ही उसकी सुगति है। उसीप्रकार द्रव्य को निरन्तर परिणमन में कोई कठिनाई नहीं आती, निरन्तर परिणमन ही उसका जीवन है। – **क्रमबद्धपर्याय**, पृष्ठ ७६-७७

समयसार गाथा २३५-२३६

अब वात्सल्य अंग और प्रभावना अंग संबंधी गाथायें कहते हैं, जो इसप्रकार है –

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३५ ॥
विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ २३६ ॥

मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति रखें वत्सल भाव जो ।
वे आतमा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३५ ॥
सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हों जो भ्रमे मनरथ मार्ग में ।
वे प्रभावक जिनमार्ग के सद्दृष्टि उनको जानना ॥ २३६ ॥

जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र इन साधनों के प्रति अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन साधुओं के प्रति वात्सल्य करता है; वह वात्सल्य अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ, मनरूपी रथ के पथ में भ्रमण करता है; वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला अर्थात् प्रभावना अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता है, अनुभव करता है; इसकारण मार्गवत्सल है, मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, वात्सल्य अंग का धारी है और ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करके, विकसित करके स्वयं में प्रभाव उत्पन्न करता है, प्रभावना करता है;

इसकारण प्रभावना अंग का धारी है। इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होने वाला और ज्ञान की प्रभावना के अपकर्ष से होनेवाला बंध नहीं होता; अपितु निर्जरा ही होती है।''

तात्पर्यवृत्ति में भी इन गाथाओं की व्याख्या में इसीप्रकार का भाव प्रगट किया गया है।

इन आठ अंग संबंधी गाथाओं के एवं निर्जरा अधिकार के समापन के अवसर पर आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में निश्चय-व्यवहार की संधि एवं उनकी उपयोगिता की चर्चा करते हैं तथा स्वानुभवरूप समाधि की दुर्लभता बताते हुए सद्भाग्य से प्राप्त सुअवसर का लाभ लेने की प्रेरणा देते हैं।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधु-साधकत्रय कहा है। मूल पाठ में भी **तिण्हं साहूण** कहा है। अपना जो एक त्रिकाली भाव है, उसके श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र – ये तीन साधक हैं। अहा! आत्मा की परमानन्दरूप मुक्ति का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र साधन है। एक ज्ञायकभावमय नित्यानन्दस्वरूप प्रभु आत्मा को ध्येय में लेने पर समकिती के जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधकदशा है, वह पूर्णानन्दरूप मोक्ष का साधन है। निमित्त साधन व व्यवहार साधन की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साधन कहा है।[१]

अपने एक ज्ञायकभाव में स्थित दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने ही द्वारा अभेदबुद्धि से अनुभव करना ही सच्ची धर्मवत्सलता है। इसी का नाम मार्गवात्सल्य अथवा मोक्षमार्ग के प्रति प्रेमभाव है।[२]

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का पुंज प्रभु है। उसके आश्रय से प्रगट हुई ज्ञान की पवित्रदशा ही ज्ञान का विकास है। ज्ञानी समस्त शक्तियों को प्रगट करनेवाला होने से प्रभावना अंग का धारक है। वर्तमान में ज्ञान की अंशरूप

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १७१
२. वही, पृष्ठ १७२

प्रगटता है, उसे ही वह पूर्ण प्रगट करनेवाला होने से प्रभावना करनेवाला है या प्रभावना अंग का धारक है।

अत: उसको ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से होनेवाला बंध नहीं होता; बल्कि निर्जरा ही है।[१]''

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में रत्नत्रयधारी मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ से निष्कपटभाव से यथायोग्य सद्भाव रखना, सद्व्यवहार करना एवं सहज वात्सल्यभाव रखने को वात्सल्य अंग तथा अज्ञानांधकार से व्याप्त जगत में जिनशासन की महिमा का प्रकाशन करके उक्त अज्ञानांधकार का यथायोग्य अभाव करने को, जिनशासन की प्रभावना करने को प्रभावना अंग कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में मुक्तिसुख के कारणभूत अहिंसा धर्म में और साधर्मीजनों से निष्कपट प्रीति रखने को वात्सल्य अंग और रत्नत्रय के तेज से अपने आत्मा की तथा दान, तप, जिनपूजा और ज्ञान के माध्यम से जिनधर्म की प्रभावना करने को प्रभावना अंग कहते हैं।

इसप्रकार रत्नत्रय धर्म और उसके धारकों से वात्सल्यभाव होना वात्सल्य अंग और रत्नत्रयधर्म धारण कर स्वयं अपनी एवं रत्नत्रयधर्म के प्रचार-प्रसार के माध्यम से जिनधर्म की प्रभावना करना प्रभावना अंग है।

सम्यग्दर्शन के उक्त आठ अंगों का निरूपण होने के बाद सभी अंगों के सन्दर्भ में कुछ आवश्यक स्पष्टीकरण पण्डित जयचंदजी छाबड़ा करते हैं; जो इसप्रकार हैं -

''इसप्रकार ऊपर की गाथाओं में यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को नि:शंकित आदि आठ गुण निर्जरा के कारण हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व के अन्य गुण भी निर्जरा के कारण जानना चाहिए।

इस ग्रंथ में निश्चयनयप्रधान कथन होने से यहाँ नि:शंकितादि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रितस्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इसप्रकार है -

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १८०

(१) जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है।

(२) जो कर्मफल की वांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है।

(३) जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।

(४) जो स्वरूप में मूढ़ न हों, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होता है।

(५) जो आत्मा को शुद्धस्वरूप में युक्त करे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहन गुण होता है।

(६) जो स्वरूप से च्युत होते हुए आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।

(७) जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है।

(८) जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित कर प्रगट करे, उसके प्रभावनागुण होता है।

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषों के द्वारा जो कर्मबन्ध होता था, उसे नहीं होने देते। और इन गुणों के सद्भाव में, चारित्रमोह के उदयरूप शंकादिप्रवर्ते तो भी उनकी (शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।

सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय के निमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा है, वह भी निर्जरारूप ही (निर्जरा के समान ही) समझना चाहिए; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसीप्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से वह आगामी बन्धरूप

नहीं, किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे - कोई पुरुष दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिक को दे देता है; नियत समय के आने तक वह द्रव्य उसके घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है; इसीप्रकार ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है; इसलिये उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता। अत: उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुए के समान ही है - ऐसा जानना चाहिए।

यह नि:शंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग में इसप्रकार लगाने चाहिए -

(१) जिनवचनों में सन्देह नहीं करना, भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगने से नि:शंकितत्व है।

(२) संसार-देह-भोग की वांछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्षमार्ग से चलायमान न होना सो नि:कांक्षितत्व है।

(३) अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा है।

(४) देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादिके तत्त्वार्थ के स्वरूप - इत्यादि में मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ़दृष्टि है।

(५) धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है।

(६) व्यवहार मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को स्थिर करना सो स्थितिकरण है।

(७) व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्सल्य है।

(८) व्यवहार मोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना सो प्रभावना है।

इसप्रकार आठ गुणों का स्वरूप व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है।

यहाँ निश्चयप्रधान कथन में उस व्यवहार स्वरूप की गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं। स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।"

इसप्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के सन्दर्भ में निश्चय अंग और व्यवहार अंग का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है; किन्तु इस समयसार ग्रंथ में निश्चय की मुख्यता से ही इन अंगों का कथन है। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है।

अब इस निर्जरा अधिकार का समापन करते हुए सम्यग्दर्शन की महिमा व्यक्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव अन्तिम कलश लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(मन्दाक्रान्ता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगोष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसासदादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगविगाह्य ॥ १६२॥

(दोहा)

बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश ।
नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥ १६२॥

इसप्रकार नवीन बंध रोकता हुआ और अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्धकर्मों का नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं निजात्मा के अतिरस से आदि, मंध्य और अन्तरहित ज्ञानरूप होकर आकाश के विस्तारूपी रंगभूमि में अवगाहन करके नाचता है।

उक्त कलश में नवीन बंध को रोकने वाले और पुराने कर्मों की निर्जरा करनेवाले अष्ट अंगों से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव आनन्द में मग्न होकर नाचते हैं – ऐसा कहकर सम्यक्त्व की महिमा बताई गई है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै ।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करै सुर भरिकै ॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंद मैं समाधि रीझि करिकै ।
सत्ता रंगभूमि मैं मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै ॥

पूर्व बंध के नाशरूपी संगीत कला का प्रकाश करता हुआ, नवीनबंध को रोककर उछलकर ताल तोड़ता हुआ, नि:शंकित आदि अष्ट अंगोंरूपी सखाओं को जोड़कर उनके साथ स्वर भरके समतारूपी अलाप करता हुआ, निर्जरारूपी नाद करता हुआ और ध्यानरूपी मृदंग बजाता हुआ, समाधि में रीझकर तीनोंकाल मुक्तिरूप हुआ शुद्धदृष्टिरूप नट सत्ता की रंगभूमि में ज्ञान का स्वांग धरकर, वेष बनाकर महानन्द में से छका हुआ मस्त होकर नाच रहा है।

उक्त कलश में नृत्यकला के सम्पूर्ण उपादानों को घटित करते हुए सम्यग्दृष्टिरूपी नट को ज्ञान के स्वांग में आनन्दमय नृत्य करते हुए दिखाया गया है। इसमें पूर्वबंध के नाश को संगीत कला का प्रकाश, नवीन बंध से संवर को ताल तोड़ने, नि:शंकित आदि आठ अंगों को साधर्मी मित्र, समता को अलाप, निर्जरा को नाद और ध्यान को मृदंग का रूप दिया गया है। इसप्रकार एक सांगरूपक खड़ा कर दिया है। इसमें कवि का संगीतकला व नृत्यकला का ज्ञान और रस प्रतिबिंबित होता है। इसका मर्म कोई संगीतकला व नृत्यकला विशेषज्ञ ही जान सकता है और रस भी वही ले सकता है।

मूल प्रयोजन की बात यह है कि इस में संवर और निर्जरा से संपन्न सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द को बताकर उनकी महिमा बताई गई है; उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण कर इस अध्याय का समापन किया गया है।

इस कलश के भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं –

"सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बंध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होने से निर्जरा का उदय होने के कारण उसके पूर्व के बन्ध का नाश होता है। इसलिए वह धारावाही ज्ञानरूपी रस का पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमि में ऐसे नृत्य करता है, जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमि में नाचता है।

प्रश्न : आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता; किन्तु सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के बन्ध कहा गया है और घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है; इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य – इन गुणों का घात भी विद्यमान है। चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता?

उत्तर : बन्ध के होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय ही है; और सम्यग्दृष्टि के तो उनके उदय का अभाव है। चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख गुण का घात होता है तथा मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त और उनके साथ रहने वाली अन्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है; तथापि जैसा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी सहित होता है, वैसा नहीं होता।

अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ, वहाँ अन्य बन्ध की गणना कौन करता है? वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी होती है? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होने के बाद जो कुछ कर्म रहे हों, वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्त के अनुसार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

कोई पुरुष दरिद्रता के कारण एक झोंपड़े में रहता था। भाग्योदय से उसे धन-धान्य से परिपूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हो गई; इसलिये वह उसमें रहने को गया। यद्यपि उस महल में बहुत दिनों का कूड़ा-कचरा भरा हुआ था; तथापि जिस दिन उसने आकर महल में प्रवेश किया; उस दिन से ही वह उस महल का स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा-कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्ति अनुसार साफ करता है। जब सारा कचना साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा; तब वह परमानन्द को भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।''

उक्त कलश का अभिप्राय स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''परम आनन्दरस में निमग्न सम्यग्दृष्टि नवीन बन्ध को रोक देता है तथा उसके निःशकितादि आठ गुण प्रगट होने से, वह कर्म की निर्जरा करनेवाला है। उसके निरंतर शुद्ध ज्ञानमय परिणमन होने से वह पूर्वबद्ध कर्मों का नाश कर देता है। अहा! शुद्धज्ञानमय परिणमन की कोई अचिंत्य महिमा है। इसके बिना बाहर में चाहे जितनी धार्मिक क्रियायें करे, वे सब व्यर्थ हैं।[१]

समकिती को तो आत्मा के आनन्द का रस लग गया है और कषाय का रस छूट गया है। वह अपने निजरस में मस्त होकर, आदि-मध्य-अन्त रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञानमय होकर, आकाश के विस्तारूपी रंगभूमि में नृत्य करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी सबका ज्ञाता-दृष्टा रहकर निजानन्द में मस्त रहता हुआ नृत्य करता है।[२]

देखो, मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय की भूमिका में जैसा बंध होता है; वैसा बंध ज्ञानी के नहीं होता। इसी अपेक्षा से ऐसा कहा है कि ज्ञानी के बंध नहीं होता।[३]

यह निर्जरा अधिकार है न? इसलिए कहते हैं कि धर्मी उसके द्वारा स्वभाव में एकाग्रता-लीनता करते-करते पूर्व की कर्मप्रकृति की अशुद्धता को टालेगा और परमानंददशा को प्राप्तकर अनन्तसुख भोगेगा। अहा! ज्ञानी को आनन्द

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ७, पृष्ठ १९३
२. वही, पृष्ठ १९५

का अनुभव तो हुआ है, परन्तु पूर्णानंद का अनुभव नहीं है। अब धीरे-धीरे स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति करके पूर्व के कर्मों को खिराता हुआ-उनकी निर्जरा करता हुआ परमानन्द को भोगेगा, आनन्दरूप मुक्तदशा को प्राप्त कर लेगा।

इसप्रकार निर्जरातत्त्व रंगभूमि में से बाहर निकल गया अर्थात् निर्जरातत्त्व का यथार्थज्ञान हो गया।[१]''

इसप्रकार इस निर्जरा अधिकार में यह स्पष्ट किया गया है कि अष्ट अंगों से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करते हुए नवीन कर्मों के बंध को रोक देते हैं और अनंत अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करते हैं।

निर्जरा अधिकार समाप्त करते हुए अन्त में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा एक छन्द लिखते हैं; जिसमें वे सम्पूर्ण अधिकार की विषयवस्तु को समेट लेते हैं। वह छन्द इसप्रकार है -

(सवैया तेईसा)

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये ।
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये ॥

सम्यग्दृष्टि महापुरुष अनेक दुख और संकटों के आने पर भी सदा ही समभाव रखते हैं; समताभाव रखते हैं; किसी से राग-द्वेष नहीं करते। यही कारण है कि उनके पूर्वबद्ध कर्म बिना फल दिये ही झड़ जाते हैं और नवीन कर्मों का बंध उन्हें नहीं होता। वे सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के आठों ही अंगों के धारी होते हैं और निजात्मा की प्राप्ति हो जाने के कारण उनकी ज्ञानस्वभाव की आराधना निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। इसप्रकार वे मुक्ति के मार्ग की साधना करके निरन्तर आनन्दरूप होकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के निरंतर होनेवाली निर्जरा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह निर्जरा अधिकार समाप्त होता है। ●

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग - ७ पृष्ठ १९७

बंधाधिकार

जीवाजीवाधिकार से संवराधिकार तक भगवान आत्मा को परपदार्थों और विकारीभावों से भिन्न बताकर अनेकप्रकार से भेदविज्ञान कराया है और निर्जराधिकार में भेदविज्ञान सम्पन्न आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों के भूमिकानुसार भोग और संयोगों का योग होने पर भी बंध नहीं होता, अपितु निर्जरा होती है – इस बात को सयुक्ति समझाया है।

अब बंधाधिकार में बंध का मूलकारण क्या है? – इस बात पर गंभीरता से विचार करते हैं।

इस अधिकार की आत्मख्याति टीका आरंभ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अन्य अधिकारों के समान यहाँ भी आरंभिक वाक्य इसप्रकार लिखते हैं –

"**अथ प्रविशति बंधः** – अब बंध प्रवेश करता है।" तात्पर्य यह है कि अब रंगमंच पर बंधतत्त्व प्रवेश करता है। यह तो सर्वविदित ही है इस ग्रन्थाधिराज को आत्मख्याति टीका में नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र सर्वप्रथम बंध का अभाव करनेवाले निरुपधि सम्यग्ज्ञान को स्मरण करते हुए मंगलाचरण करते हैं; जो इसप्रकार हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति॥ १६३॥

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया॥
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने।
अति ही अनाकुलभाव से उस बंध का मर्दन किया॥ १६३॥

नित्य ही आनन्दामृत का भोजन करनेवाला धीर, उदार, अनाकुल और निरुपधि ज्ञान राग के उदयरूपी महारस के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त करके रसभाव से भरे हुए, नृत्य करते हुए, खेलते हुए बंध को धुनता (नष्ट करता) हुआ उदय को प्राप्त होता है।

इस मंगलाचरण के कलश में बंध को धुननेवाले उदितज्ञान को स्मरण किया गया है। सम्पूर्ण जगत को मोहरूपी मदिरा पिलाकर मदोन्मत्त करके यह बंधरूपी सुभट महानृत्य करते हुए खेल रहा है। ऐसे बंधरूपी सुभट को पराजित करके ज्ञानरूपी सुभट उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञानरूपी सुभट धीर है, उदार है, अनाकुल है और सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि बन्ध अर्थात् राग की एकताबुद्धिरूप मदिरा ने जगत के जीवों को प्रमत्त अर्थात् पागल कर दिया है। चाहे अशुभराग हो या शुभराग – दोनों प्रकार के रागभाव आत्मा के स्वरूप नहीं हैं।

अहा! अपने ही अन्दर तीनलोक का नाथ भगवानस्वरूप निज आत्मा विराज रहा है; पर हमें उसकी पहचान नहीं होने से उसकी महिमा नहीं आती। हम तो राग में ही अटके हैं। मोह की गहलता में रागादिभाव को अपना स्वरूप और शुभभाव को भला मानकर उसी में अटके हुए हैं। हमें अपने स्वरूप और अनंत शक्तियों की कुछ भी सुध-बुध नहीं है। इसतरह सारा जगत मोह के महारस में उन्मत्त हो रहा है।[१]

अब कहते हैं कि जिस बंध ने संपूर्ण जगत को गहल करके–मोह में मूर्छित करके उन्मत्त कर दिया है; उस बंध को उखाड़ फेंकनेवाला सम्यग्ज्ञान उदित होता है। सम्यग्दृष्टि धर्मीपुरुष जो कि रागरहित–बंधरहित–सदा अबंधस्वरूप ज्ञानानन्दमयी भगवान आत्मा का अनुभव करता है; वह बंध का अभाव करता हुआ सम्यग्ज्ञान की ज्योति जलाता है। जिसके ज्ञान में सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य अबन्ध भगवान आत्मा आया, उसे आत्मा की उपलब्धि होती है और जिस बंध ने सारे जगत को उन्मत्त बना रखा है, उसे वह आत्मानुभवी आत्मा क्षणभर में नष्ट कर देता है।[२]"

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ४

इस कलश का भावार्थ लिखते हुए कलश टीकाकार लिखते हैं –

"भावार्थ इसप्रकार है – जिसप्रकार किसी जीव को मदिरा पिलाकर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पद से भ्रष्ट कर दिया जाता है; उसीप्रकार अनादिकाल से लेकर सर्वजीवराशि राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम से मतवाली हुई है, इससे ज्ञानावरणादि कर्म का बंध होता है। ऐसे बंध को शुद्धज्ञान का अनुभव मेटनशील है; इसलिए शुद्धज्ञान उपादेय है।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अशुद्धोपयोग से होनेवाले बंध का अभाव करने का एकमात्र उपाय शुद्धात्मा का अनुभव है; अत: शुद्धात्मा का अनुभव ही एकमात्र उपादेय है। कविवर बनारसीदासजी इस शुद्धात्मा के अनुभवरूप ज्ञान को समकित सूर नाम से संबोधित करते हैं; जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीने,
याही तैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है ।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है ॥
ताकौ बल भंजिवे कौं घट मैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है ।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है ॥

जिसने समस्त संसारी जीवों को मोहरूपी मदिरा पिलाकर विकल (दुखी) कर दिया है, इसकारण जो अजानबाहु विरद (पद) को धारण किये है; तथा जिसप्रकार राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है; उसीप्रकार जिसने ज्ञानरूपी चन्द्रमा को ग्रसकर मन्द कर दिया है; ऐसे महाजाल के समान विकराल बंध नामक वीर के बल को तोड़ने के लिए जो प्रगट हुआ है; महान है उद्यम जिसका और जो अत्यन्त उदार और उद्धत है; आनन्द से अंकुरित उस सम्यक्त्वरूपी सूरवीर को देखकर बनारसीदासजी बारम्बार ऐसा कहते हैं कि नमस्कार हो, नमस्कार हो।

इसप्रकार इस कलश में बंध का अभाव करनेवाले सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान को नमस्कार किया गया है। ●

समयसार गाथा २३७ से २४१

मंगलाचरण के उपरान्त अब मूल गाथाएँ आरंभ करते हैं। सर्वप्रथम अज्ञानी जीव रागादि से लिप्त होने के कारण बंध को प्राप्त होता है – इस बात को पाँच गाथाओं के द्वारा सोदाहरण समझाते हैं; जो इसप्रकार हैं –

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २३७॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण ॥ २४१॥

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २३७॥
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २३८॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को ।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किसकारण हुआ ॥ २३९॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४०॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए ।
सब करमरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन ॥ २४१॥

जिसप्रकार कोई पुरुष अपने शरीर में तेल आदि चिकने पदार्थ लगाकर बहुत धूलवाले स्थान में रहकर शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़, तमाल, केला, बांस, अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात (नाश) करता है।

इसप्रकार नानाप्रकार के साधनों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष के धूलि का बंध किसकारण से होता है? – निश्चय से इस बात का विचार करो।

उस पुरुष के जो तेलादि की चिकनाहट है; उससे ही उसे धूलि का बंध होता है, शेष शारीरिक चेष्टाओं से नहीं; – ऐसा निश्चय से जानना चाहिए।

इसप्रकार बहुतप्रकार की चेष्टाओं में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग में रागादिभावों को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है, बंधता है।

उक्त पाँच गाथाओं में आरंभ की तीन गाथाओं में तेल लगाकर धूलि भरे स्थान में शस्त्रों से व्यायाम करते हुए पुरुष का उदाहरण देकर प्रश्न किया गया है कि उक्त पुरुष के जो रजबंध होता है, धूल चिपटती है; उसका कारण क्या है?

चौथी गाथा में उत्तर दिया गया है कि उसके रजबंध का कारण तेल की चिकनाई ही है, अन्य शारीरिक चेष्टा आदि नहीं।

पाँचवीं गाथा में उसी बात को मिथ्यादृष्टि जीव पर घटित किया गया है। उसमें कहा गया है कि रागादिभावों से मिथ्यादृष्टि जीव भी अनेक शारीरिक चेष्टायें करता है; किन्तु उसे जो कर्म बंध होता है, वह रागादिभावों के कारण होता है, शारीरिक चेष्टाओं आदि के कारण नहीं।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार इस जगत में तेल की मालिस किये हुए कोई पुरुष स्वभाव से बहुधूल युक्त भूमि में खड़े होकर शस्त्रों से व्यायाम करता हुआ अनेकप्रकार के साधनों के द्वारा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ धूलि से धूसरित हो जाता है, लिप्त हो जाता है, बंध जाता है।

यहाँ विचार करो कि उक्त कारणों में से उसके बंधन का कारण कौन है?

स्वभाव से बहुधूलवाली भूमि तो धूलबंध का कारण है नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर धूलवाली भूमि में स्थित हैं; उन्हें भी धूलबंध का प्रसंग आयेगा।

शस्त्रों से व्यायामरूप कार्य भी धूलबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है, पर शस्त्रादि से व्यायाम कर रहे हैं; उन्हें भी धूलबंध का प्रसंग आयेगा।

अनेकप्रकार के करण (साधन) भी धूलिबंध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर अनेकप्रकार के करणों से सहित हैं; उन्हें धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तेलादि का मर्दन नहीं किया है, पर जिनके द्वारा सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात होता है; उन्हें भी धूलिबंध का प्रसंग आयेगा।

इसप्रकार यह बात न्यायबल से सिद्ध हो जाती है कि उक्त पुरुष के धूलिबंध का कारण तेल का मर्दन ही है।

इसप्रकार अपने में रागादिभाव करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव से ही बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों (कार्मणवर्गणाओं) से भरे हुए इस लोक में काय, वचन और मन संबंधी कार्य करते हुए अनेकप्रकार के करणों (साधनों) के द्वारा सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रज से बंधता है।

यहाँ विचार करो कि उक्त कारणों में से मिथ्यादृष्टि जीव को बंध होने का कारण कौन है ?

स्वभाव से कर्मयोग्य पुद्गलों (कार्मणवर्गणाओं) से भरा हुआ लोक तो बंध का कारण है नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो लोकाग्र में स्थित सिद्धों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

काय, वचन और मन की क्रिया भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यातसंयमियों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

अनेकप्रकार के करण (इन्द्रियाँ) भी बंध के कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

सचित्त और अचित्त वस्तुओं का घात भी बंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो समिति में तत्पर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधुओं के भी बंध का प्रसंग आयेगा।

इसप्रकार यह बात न्यायबल से ही सिद्ध हो जाती है कि उपयोग में रागादि का होना ही बंध का कारण है।''

यद्यपि गाथाओं और उनकी टीका से सबकुछ स्पष्ट ही है; तथापि जयचंदजी छाबड़ा का भावार्थ भी देख लेना उचित प्रतीत होता है; जो इसप्रकार है –

''यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है, वही निश्चय है। बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि – मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन राग-द्वेष-मोह भावों को अपने उपयोग में करता है, वे रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य बहुकर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात बंध के कारण नहीं हैं। यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के, यथाख्यातचारित्रवालों के, केवलज्ञानियों के और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बंध का प्रसंग आ जायेगा; परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया; इसका यह कारण है कि – अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती; इसलिए चारित्रमोह संबंधी राग से किंचित् बंध होता है; इसलिए सर्वथा बंध के अभाव की अपेक्षा में उनका नाम नहीं लिया। वैसे अन्तरंग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बंध ही जानना चाहिए।''

इसीप्रकार का भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है –

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥ १६४॥

(हरिगीत)

कर्म की ये वर्गणायें बंध का कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं ॥
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ॥ १६४॥

पुरुषों के लिए कर्मबंध करनेवाला न तो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक है, न चलन स्वरूप कर्म अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया है, न अनेकप्रकार के करण हैं और न चेतन-अचेतन का घात है; किन्तु आत्मा में रागादि के साथ होनेवाली एकत्वबुद्धि ही एकमात्र बन्ध का वास्तविक कारण है।

इस कलश में वही बात दुहरा दी गई है, जो गाथाओं और उनकी टीका में कही गई है।

इस कलश का भावानुवाद करते समय कविवर बनारसीदासजी ने आत्मख्याति टीका में समागत उदाहरणों को अपने में समाहित कर लिया है। कलशटीकाकार ने इस कलश की टीका करते समय भी ऐसा ही किया है। कलशटीका के आधार पर लिखे गये नाटक समयसार में भी ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

बनारसीदासजी का वह भावानुवाद इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

कर्मजाल वर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोग सौं ।
चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोग सौं ॥
कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं ।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोग सौं ॥

जगत में यह जीव न तो कार्मणवर्गणाओं से ही बंधता है और न मन-वचन-काय के योग से ही बंधता है। इसीप्रकार चेतन-अचेतन की हिंसा से भी कर्म का बंध नहीं होता और पंचेन्द्रियों के विषयरूपी विष के रोग से भी यह अलख आत्मा बंधन को प्राप्त नहीं होता।

कार्मणवर्गणाओं के मध्य स्थित होने पर भी सिद्धों को बंध नहीं होता, सयोगी होने पर अरहंत भगवान को बंध नहीं होता, ईर्या आदि समितियों का आलंबन लेते हुए भी भूमिकानुसार होनेवाली सूक्ष्म हिंसा से साधुओं को बंध नहीं होता और भूमिकानुसार होनेवाले भोगों के होने पर भी ज्ञाता सम्यग्दृष्टियों को बंध नहीं होता।

इसप्रकार हम देखते हैं कि कार्मणवर्गणाओं, मन-वचन-कायरूप योगों, चेतन-अचेतन की हिंसा और पंचेन्द्रियों के भोगों से जीव को बंध नहीं होता; क्योंकि बंध का कारण तो एकमात्र रागादि से संयुक्त अशुद्धोपयोग ही है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि गाथाओं, आत्मख्याति टीका व उसमें समागत कलशों में जो चार उदाहरण देकर जिन चार बातों को बंध का अकारण बताया गया है; उनमें और बनारसीदासजी के नाटक समयसार में दिये गये चार उदाहरण और उनके माध्यम से बताये गये बंध के चार अकारणों में थोड़ा अन्तर है।

नाटक समयसार में सम्यग्दृष्टियों के भोगों को भी बंध का अकारण बताया गया है, जबकि समयसार की गाथाओं तथा आत्मख्याति टीका एवं उसमें समागत कलशों में स्पष्टरूप से यह बात दिखाई नहीं देती; फिर भी यह कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है; क्योंकि बंध का जो कारण बताया गया है, वह सर्वत्र समान ही है। एकमात्र रागादिरूप अशुद्धोपयोग को ही सर्वत्र बंध का कारण बताया गया है।

रही बात सम्यग्दृष्टियों के भोगों को बंध का अकारण बताने की बात; सो निर्जरा अधिकार में यह बात समयसार; उसकी गाथाओं की आत्मख्याति टीका और उसमें समागत कलशों में भी विस्तार से बताई ही गई है। ●

समयसार गाथा २४२-२४६

विगत पाँच गाथाओं में मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्वसहित रागादि के कारण बंध होता है – यह बताया था; अब आगामी पाँच गाथाओं में यह बताते हैं कि उन्हीं परिस्थितियों में मिथ्यात्व सहित रागादिभावों के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टियों को बंध नहीं होता।

वे गाथाएँ मूलत: इसप्रकार हैं –

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥ २४२॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥ २४३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥ २४४॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्चयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण ॥ २४६॥

ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणु बहुल स्थान में ।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २४२॥
तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे ।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २४३॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को ।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ? ॥ २४४॥
चिकनाई ही रज बंध का कारण कहा जिनराज ने ।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४५॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए ।
बस करमरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन ॥ २४६॥

जिसप्रकार वही पुरुष सभीप्रकार के तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के दूर किये जाने पर बहुत धूलवाले स्थान में शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है और ताल, तमाल, केला, बांस और अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। इसप्रकार नानाप्रकार के करणों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष को धूलि का बंध वस्तुत: किसकारण से नहीं होता – यह निश्चय से विचार करो।

निश्चय से यह बात जानना चाहिये कि उसके जो बंध होता था, वह तेल आदि चिकनाई के कारण होता था, अन्य कायचेष्टादि कारणों से नहीं।

इसप्रकार बहुतप्रकार के योगों में वर्तता हुआ सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि को न करता हुआ कर्मरज से लिप्त नहीं होता।

इन गाथाओं का स्पष्टीकरण आत्मख्याति में इसप्रकार किया गया है –

"जिसप्रकार वही पुरुष सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर उसी स्वभाव से ही धूलि से भरी हुई भूमि में वहीं शस्त्रव्यायामरूपी कर्म (कार्य) को करता हुआ, उन्हीं अनेकप्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ धूलि से लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसके धूलि से लिप्त होने का कारण तेलादि के मर्दन का अभाव है।

उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने में रागादि को करता हुआ, उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेकप्रकार के करणों के द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बंधता; क्योंकि उसके बंध के कारणभूत राग के योग का अभाव है।"

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"देखो, समकिती चक्रवर्ती ९६ हजार रानियों के बीच में रहता हो, युद्ध में लड़ता हुआ दिखाई देता हो तो भी उसे बन्ध नहीं है; क्योंकि उसे उनके प्रति एकत्व-ममत्व नहीं है; उसे रागादि का स्वामित्व नहीं है। जो अस्थिरता का राग है, उसकी यहाँ गिनती नहीं है, उसे गौण कर दिया है। यदि वह चक्रवर्ती रागादिक से एकपना करे, उससे सम्बन्ध स्थापित करे, राग में स्वामित्व करे तो मिथ्यादृष्टि होकर कर्मबन्धन को प्राप्त होता है।[१]

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ २९

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध के कारणभूत राग का अभाव है अर्थात् अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में उपयोग का जोड़ान होने से आत्मा की महिमा के सामने राग की महिमा भासती नहीं है तथा वह राग में जोड़ान करता नहीं है। इसकारण उसे बन्ध भी नहीं होता।

भावार्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि के अन्दर में राग की एकताबुद्धि टूट गई है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव व राग भिन्न-भिन्नरूप में भासित होने से अब उसका राग के साथ सम्बन्ध नहीं रहा। इसकारण बाहर से दिखनेवाले सब सम्बन्ध होते हुए भी उसका राग से सम्बन्ध नहीं होने से कर्मबन्ध नहीं होता। पूर्ण मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर उसका राग के साथ सम्बन्ध टूट गया है व राग के सम्बन्ध के अभाव में उसे कर्मबन्ध नहीं होता।[१]''

अब इसी अर्थ का पोषक कलश काव्य लिखते हैं -

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५॥

(हरिगीत)

भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो ।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो ॥
चिद् अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो ।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो ॥ १६५॥

भले ही लोक कार्मणवर्गणा से भरा हो; मन, वचन एवं काय के परिस्पन्दरूप योग भी हों; अनेकप्रकार के पूर्वोक्त करण भी हों तथा चेतन-अचेतन पदार्थों का घात भी हो; तो भी आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति में भी सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादि को उपयोग भूमि में न लाता हुआ मात्र ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ किसी भी कारण से बंध को प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन की कुछ ऐसी ही महिमा है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३१-३२

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

कर्मजाल वर्गना कौ वास लोकाकास मांहि,
मन-वच-काय कौ निवास गति आउ मैं ।
चेतन अचेतन की हिंसा बसै पुग्गल मैं,
विषै-भोग वरतै उदै के उरझाउ मैं ॥
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलख की,
यहै उपादान हेतु बंध के बढ़ाउ मैं ।
याही तैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूं काल,
राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउ मैं ॥

कार्मणवर्गणायें तो लोकाकाश में रहती हैं और मन, वचन तथा काया का निवास गति नामक नामकर्म में तथा आयुकर्म में होता है। इसीप्रकार चेतन और अचेतन की हिंसा भी पुद्गल में ही होती है तथा पंचेन्द्रिय संबंधी विषयभोग कर्मोदय की उलझनें हैं। – ये सब तो पुद्गलादि परपदार्थों से संबंधित हैं; किन्तु रागादिभावरूप अशुद्धता एवं इनके अभावरूप शुद्धता आत्मा की है; इसकारण बंध का उपादानकारण यह रागादिभावरूप जीव की अशुद्धता ही है। यही कारण है कि विचक्षण पुरुषों को, ज्ञानी धर्मात्माओं को तीनोंकाल अबंध कहा है; क्योंकि उनके सम्यक्स्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं होते।

उक्त कलश को पढ़कर कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो सकती है कि इससे तो लोगों को निरर्गल हिंसक आचरण करने की प्रेरणा मिलेगी।

इस आशंका का निराकरण भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार करते हैं –

"यहाँ सम्यग्दृष्टि की अद्भुत महिमा बताई है और यह कहा है कि लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्य का घात – ये बन्ध के कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीव की हिंसा से बंध का होना नहीं कहा; इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किन्तु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाए तो उससे बन्ध नहीं होता; किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों

को मारने के भाव होंगे, वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो, वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्राय को भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा? अवश्य होगा।

इसलिए कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकांत मानना मिथ्यात्व है।''

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

''देखो, आचार्यदेव ने जो यह कहा कि चेतन-अचेतन की हिंसा हो तो भले हो – इसका यह अर्थ नहीं लेना कि समकिती को चेतन-अचेतन की हिंसा इष्ट है। इसका अभिप्राय तो मात्र यह है कि समकिती को सर्व बाह्य वस्तुओं से अत्यन्त उपेक्षा हो गई है। वह बाहर में कहीं भी अटकना या उलझना नहीं चाहता; बाह्य पदार्थों से जुड़ना नहीं चाहता। स्वद्रव्य की अपेक्षा में समस्त परद्रव्यों की उपेक्षा सहज ही हो जाती है।[१]

यहाँ किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ पंचेन्द्रियों के विषयों के प्रति स्वच्छन्द होने को कहा जा रहा है। अरे भाई! यहाँ तो इन सभी विषय-कषायरूप प्रवृत्तियों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा का भाव प्रगट किया गया है। पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनेवाले तथा छहकाय की रक्षा करनेवाले आचार्य क्या हिंसा करने व स्वच्छन्द होने की बात कहेंगे।

अरे भाई! यहाँ यह कथन किस अपेक्षा से किया गया है, इस बात को जरा धैर्य से सोचो, समझो। चतुर्थ गुणस्थान की रागवाली भूमिका में जो भी हिंसा वगैरह होती है, उसका उस ज्ञानी को खेद वर्तता है। वह उससे जुड़ता नहीं है; इसकारण उसे उस हिंसाजनित पापबन्ध नहीं होता।[२]

यहाँ जो आत्मज्ञानी को निर्बन्ध कहा है; उसका अभिप्राय तो यह है कि पूर्ण सावधानी के बावजूद अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात हो भी जाए तो बन्ध नहीं होता। ज्ञानी जीव बुद्धिपूर्वक कभी परजीवों का घात नहीं करते।

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३३
२. वही, पृष्ठ ३४

उनके हृदय में ऐसी करुणाबुद्धि सहज ही होती है, फिर भी वे उस शुभभाव को धर्म नहीं मानते।

देखो! ऐसा कहकर यहाँ स्वच्छन्दी होने का निषेध किया है। बुद्धिपूर्वक हिंसारूप प्रवृत्ति करे और शास्त्र के कथन की आड़ लेकर ऐसा कहे कि ज्ञानी के बन्ध नहीं होता; तो ऐसी स्वच्छन्दता की बात मोक्षमार्ग में चलनेवाली नहीं हैं।[१]

यहाँ बुद्धिपूर्वक का अर्थ कि मैं इसे मारूँ – ऐसा रुचिपूर्वक जीव को मारने का भाव होना। जिन प्रवृत्तियों में जग जाहिर अनिवार्य त्रसहिंसा या बहुस्थावर हिंसा होती है, उन प्रवृत्तियों को न छोड़ना – जैसे मद्य-मांस-मधु, पाँच उदम्बर फलों का सेवन तथा इसी जाति के, इन्हीं के समकक्ष अन्य प्रवृत्तियों में पड़ना आदि जो भी आगमोक्त हिंसाजनित प्रवृत्तियाँ ज्ञानी की भूमिका में त्याज्य हैं, उस राग का भी त्याग न होना स्वच्छन्द प्रवृत्ति है।[२]"

यद्यपि कार्मणवर्गणा, मन-वचन-कायरूप योग, चेतन-अचेतन की हिंसा और पंचेन्द्रियों के भोगों से बंध नहीं होता; तथापि निरर्गल प्रवृत्ति उचित नहीं है। अब इस भावना को व्यक्त करनेवाला कलश काव्य कहते हैं; जो इसप्रकार है –

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६॥

(हरिगीत)

तो भी निरर्गल प्रवर्त्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है ।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्त्तन तो बंध का स्थान है ॥
वांच्छारहित जो प्रवर्त्तन वह बंध विरहित जानिये ।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये ॥ १६६॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ३८, ३९
२. वही, पृष्ठ ३९

यद्यपि उक्त चार कारणों से बंध नहीं होता; तथापि ज्ञानियों को निरर्गल प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है; क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्त्तन वस्तुतः बंध का ही आयतन (स्थान) है। ज्ञानियों के जो वहाँ वांच्छारहित कर्म होता है, वह बंध का कारण नहीं है; क्योंकि जानता भी है और करता भी है – यह दोनों क्रियायें क्या विरोधरूप नहीं हैं?

इस कलश का भाव भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा; इसलिए वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम को बन्ध के कारण की निमित्तभूत है, उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्धिपूर्वक-वांच्छारहित प्रवृत्ति होती है; इसलिए बंध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बंध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बंध नहीं होगा, कर्त्ता होगा तो अवश्य बंध होगा।"

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"यद्यपि आगम में लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा, मात्र एक रागादि अशुद्धोपयोग को ही बन्ध का कारण कहा है; तो भी ज्ञानियों को लोक की मर्यादा का उल्लंघन करके स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस लोक में व्याप्त कार्मणवर्गणाओं से, मन-वचन-कायरूप योगों की प्रवृत्ति तथा परजीवों के घात वगैरह बाह्य कारणों से बन्ध नहीं होता। मात्र रागादि में एकत्वबुद्धि से ही बन्ध होता है; क्योंकि राग का अस्तित्व तो राग में है, शुद्ध चैतन्य में राग का अस्तित्व नहीं है; परन्तु अज्ञानी ने ऐसा न मानकर राग के अस्तित्व को अपने में माना, अपना ही माना – बस यही मिथ्या मान्यता उसके बन्ध का कारण है।

यहाँ कोई आशंका कर सकता है कि इसतरह के कथन से तो लोग व्रत, तप आदि को भी मिथ्यात्व मानकर स्वच्छन्दी हो जायेंगे?

उसके समाधान में कहते हैं कि अरे प्रभु! भगवान आत्मा अन्तर में रागरहित चैतन्यघनस्वरूप है। उसमें जाना, उसी में जमना-रमना – यह क्या कुछ करना नहीं है? क्या व्रतादि का राग करना ही करना है? भूमिकानुसार व्रतादि के रागरूप भाव भी होते हैं, पर ज्ञानी धर्मात्मा की उस राग में कर्त्तृत्वबुद्धि नहीं है। व्रतादि के समय भी वह तो उस राग से भी पार अंतरंग में विद्यमान ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा के जाननेरूप कर्त्तृत्व के करने को ही अपना कर्त्तव्य मानता है।

बेचारे अज्ञानी को उस कर्त्तव्य का तो पता नहीं; अत: वह उस व्रतादि के राग को ही अपना कर्त्तव्य मान लेता है। अत: उसे समझाने के लिए इस कलश में कहा गया है कि तुम अपने वास्तविक कर्त्तव्य को जानो और इस अनादिकाल से करते आ रहे राग के कर्त्तृत्व की मान्यता को छोड़ो।

ध्यान रहे – यहाँ उस शुभराग को छोड़ने की बात न कहकर उसे अपना कर्त्तव्य मानना छोड़ने की प्रेरणा दी गई है, पर अज्ञानी राग का कर्त्तापना नहीं छोड़ता।[१]

बुद्धिपूर्वक विषय-कषायों में निरंकुश आचरण बन्ध का ही स्थान है। परघात आदि से मुझे बन्ध नहीं होता – ऐसी कुयुक्ति या कुतर्क करके स्वच्छन्द आचरण तो मिथ्यादृष्टि के ही होता है। ज्ञानियों के तो वांच्छा के बिना ही कार्य होता है, अरुचिपूर्वक बाह्य प्रवृत्ति होती है, निरभिलाष कर्म होता है; इसकारण वह बंध का कारण नहीं है।[२]"

इसप्रकार इस कलश में अनर्गल प्रवृत्ति का निषेध किया गया है।

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ४५, ४६
२. वही, पृष्ठ ४७

(सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-जोग हिंसा भोग सौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिनबैन मैं ।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भौगनि सौं हेत दोऊ
क्रिया एक खेत यौं तौ बनै नांहि जैन मैं ॥
उदै बल उद्दिम गहै पै फल कौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदै के नैन मैं ।
आलस निरुद्दिम की भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहाँ न संभारै जीव मोह नींद सैन मैं ॥

यद्यपि कार्मणवर्गणाओं, मन-वचन कायरूप योगों, चेतन-अचेतन की हिंसा और पंचेन्द्रियों के भोगों से बंध नहीं होता; तथापि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव उद्यमी होता है – ऐसा जिनवाणी में कहा है। स्वरूप की संभालरूप ज्ञानदृष्टि और पंचेन्द्रिय विषयों की रुचि – ये दोनों बातें जैनदर्शन के अनुसार एक ही क्षेत्र में संभव नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों बातें एक ही व्यक्ति के एक साथ होना संभव नहीं है।

वे ज्ञानी जीव उदय के अनुसार भोगों में उद्यमी होते दिखाई देते हैं; तथापि फल की वांछा से रहित हैं। उनके हृदय में निर्दयता तो कभी होती ही नहीं है। जहाँ अज्ञानी जीव मोहनींद में सोते रहते हैं और स्वयं को संभालते नहीं हैं, आत्मा को जानने का प्रयास भी करते नहीं हैं – ऐसी आलसभरी निरुद्यम की अवस्था तो मिथ्यात्व की भूमिका में ही होती है।

इसप्रकार इस १६६वें कलश में यह बताया गया है कि यद्यपि शारीरिक क्रियाओं से बंध नहीं होता; तथापि ज्ञानियों को निरर्गलप्रवृत्ति नहीं करना चाहिये, स्वच्छन्दप्रवृत्ति नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वच्छन्दप्रवृत्ति रागादिभावों के बिना संभव नहीं है तथा रागादिभाव तो बंध के कारण ही हैं।

विगत कलश की अन्तिम पंक्ति में कहा गया था कि जानन क्रिया और करना क्रिया क्या परस्पर विरुद्ध नहीं हैं? अब आगामी कलश में इसी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु –
मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ १६७॥

(हरिगीत)

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो है बस राग ही जो करें वे जाने नहीं ॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।
बंधकारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ॥ १६७॥

जो जानता है, सो करता नहीं है और जो करता है, सो जानता नहीं है। करना तो वास्तव में कर्म का राग है और राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि नियम से मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं और वही अध्यवसाय बंध के कारण हैं।

इस कलश का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"वस्तुतः यह कलश अलौकिक है, अद्भुत है। इसमें कहा गया है कि धर्मीजीव तो अपनी शुद्ध निर्मल परिणति को भी मात्र जानता ही है और साथ में जो अशुद्ध रागांश है, उसे भी मात्र जानता ही है। जो रागांश होता है, उसे वह करता भी नहीं है और उसे छूता भी नहीं है। ज्ञातापने से उसे मात्र जानता ही है।[१]

देखो, राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है। यहाँ राग का अर्थ राग में एकत्वबुद्धि है। राग से लाभ मानना भी राग में एकत्वबुद्धि ही है। जिसे ऐसा अज्ञानमय अध्यवसाय है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसकी ऐसी मिथ्या मान्यता है कि मैं जीवों की दया का पालन कर सकता हूँ, दूसरों को मार या जिला सकता हूँ। जबकि वस्तुतः बात इससे सर्वथा जुदी है। ज्ञानी तो अपने राग का भी मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही है। जब वह अपने रागांश का भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है तो पर में कुछ करे – यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।[२]"

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ५१
२. वही, पृष्ठ ५२

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पाण्डे राजमलजी कलशटीका में लिखते हैं –

''जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धस्वरूप को अनुभवता है, वह कर्म की उदय सामग्री में अभिलाषा नहीं करता और जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव कर्म की विचित्र सामग्री को आप जानकर अभिलाषा करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव शुद्धस्वरूप जीव को नहीं जानता। भावार्थ इसप्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव को जीव के शुद्धस्वरूप का जानपना घटित नहीं होता।''

इस कलश का भावानुवाद कविवर बनारसीदासजी नाटक समयसार में इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जब लग जीव शुद्धवस्तु कौं विचारै ध्यावै,
तब लग भौग सौं उदासी सरवंग है ।
भोग मैं मगन तब ग्यान की जगन नांहि,
भोग-अभिलाष की दसा मिथ्यात अंग है ॥
तातैं विषै-भोग मैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सौं उदास सो समकिती अभंग है ।
ऐसी जानि भोग सौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तो कठौती मांहि गंग है ॥

जबतक यह जीव शुद्धवस्तु का विचार करता है, शुद्धवस्तु का ध्यान करता है; तबतक उसके भोगों से सर्वांग उदासी रहती है; किन्तु जब वह भोगों में मग्न हो जाता है, तब ज्ञान की जागृति नहीं रहती; क्योंकि भोगों की अभिलाषावाली दशा तो मिथ्यात्वरूप ही है। इसीलिए यह कहा जाता है कि विषयभोगों में मग्नजीव मिथ्यादृष्टि है और भोगों से उदास जीव सम्यग्दृष्टि है – ऐसा जानकर भोगों से उदास होकर मुक्ति की साधना की जानी चाहिए; क्योंकि यदि मन चंगा (स्वस्थ-प्रसन्न) हो तो कठोती (काठ का वह बर्तन, जिसमें आटा गूँथा जाता था) में भी गंगा नदी हो जाती है। तात्पर्य यह है कि कठोती में नहाने पर भी गंगास्नान जैसा आनन्द आ जाता है, गंगा स्नान जैसा लाभ मिल जाता है।

ध्यान रहे इस छन्द में भोग भोगने की क्रिया या भोग भोगने के भाव को मिथ्यात्व नहीं कहा; अपितु भोगों में मग्नता को मिथ्यात्व कहा है; क्योंकि भोगनेरूप क्रिया तो जड़ की क्रिया है और भोगने का भावरूप राग चारित्रगुण की विकृति है; किन्तु भोगों की मग्नता-भोगों में सुखबुद्धि श्रद्धा गुण की मिथ्यात्वरूप दशा है। यहाँ मग्नता का अर्थ चारित्र की कमजोरी न लेकर, श्रद्धा के दोष के रूप में लिया गया है।

इस छन्द के उपरान्त नाटक समयसार में तीन छन्द और भी आये हैं; जिनमें चार पुरुषार्थों का निश्चयपरक अर्थ किया गया है। यद्यपि आत्मख्याति में इसप्रकार का कथन करनेवाले कोई छन्द नहीं हैं; तथापि उपयोगी जानकर बनारसीदासजी ने उन्हें यहाँ दिया है। तत्संबंधी ज्ञान के लाभ से हमारे पाठक भी वंचित न रह जावें – इस भावना से हम भी यहाँ उन छन्दों को प्रस्तुत कर रहे हैं; जो इसप्रकार हैं –

(दोहा)

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग ।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – ये चार पुरुषार्थ के अंग हैं। दुर्बुद्धि लोग इनके सन्दर्भ में अनेकप्रकार की कल्पनायें किया करते हैं; किन्तु बुद्धिमान लोग इन्हें सर्वांग सत्यरूप में ही ग्रहण करते हैं।

(सवैया इकतीसा)

कुल कौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तु के सुभाउ कौ ।
खेह कौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौं ॥
दंपति कौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित्त चाउ कौं ।
इन्द्रलोक थान कौ अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंध के अभाउ कौं ॥

कुल के आचरण को तो मूर्ख लोग धर्म कहते हैं, पंडित लोग तो वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। इसीप्रकार अज्ञानी लोग धूल-मिट्टी के खजाने को

अर्थ कहते हैं; किन्तु ज्ञानीजन तो द्रव्यों के स्वरूप की सम्यक् जानकारी को अर्थ पुरुषार्थ कहते हैं। पति-पत्नी के भोग को तो दुर्बुद्धिलोग कामपुरुषार्थ कहते हैं, सुधी लोग तो चित्त में उत्पन्न होनेवाली अभिलाषा के त्याग को कामपुरुषार्थ कहते हैं। इन्द्रों के स्थान को अज्ञानी लोग मोक्ष कहते हैं; किन्तु सुधी लोग तो बंध के अभाव को मोक्ष कहते हैं।

इसप्रकार इस छन्द में यह स्पष्ट कर दिया है कि चार पुरुषार्थों के सम्बन्ध में ज्ञानी और अज्ञानी की मान्यता में एकदम विपरीतता है।

(सवैया इकतीसा)

धरम कौ साधन जु वस्तु कौ सुभाउ साधै,
अरथ कौ साधन विलेछ दर्व षट मैं।
यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख शुद्धता प्रगट मैं॥
अंतर की द्रिष्टि सौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घट मैं।
साधन आराधन की सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात की अलट मैं॥

वस्तु के स्वभाव की साधना ही धर्म पुरुषार्थ की साधना है और छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानना ही अर्थ पुरुषार्थ की साधना है। इसीप्रकार आशाओं का त्याग जिसमें है – ऐसे मुक्तिपद की साधना ही काम पुरुषार्थ की साधना है और आत्मा के सहजस्वरूप के आश्रय से शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थ की साधना है। – इसप्रकार बुद्धिमान लोग निजघट में ही अन्तरदृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को देखते हैं; किन्तु साधना और आराधना की समस्त सामग्री अपने अन्तर में विद्यमान होने पर भी अज्ञानी जीव पराई साझेदारी की मिथ्याकल्पना में भूला रहता है, भटकता रहता है।

वस्तुतः बात यह है कि मुक्ति के मार्ग में पुरुषार्थ तो उसे ही कहा जाना चाहिए; जिस उद्यम का मुख मुक्ति की ओर हो। इसी बात को ध्यान में रखकर यहाँ चारों पुरुषार्थों का निरूपण किया गया है। ●

समयसार गाथा २४७ से २५२

विगत कलश में कहा गया था कि पर में कर्तृत्व की बुद्धि अज्ञानममय अध्यवसान है। अब आगामी गाथाओं में उसी बात को विस्तार से समझाते हैं; जो इसप्रकार है –

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥ २४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥ २४९॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५०॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥ २५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥ २५२॥

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २४७॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४८॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४९॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २५०॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५१॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५२॥

जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है; वह ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। तू पर जीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है; फिर तूने उनका मरण कैसे किया?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। पर जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं है; फिर उन्होंने तेरा मरण कैसे किया?

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं; वह मूढ़ है; अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है; वह ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं है; फिर तूने उनका जीवन कैसे किया?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं है; फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया?

इन गाथाओं का अर्थ आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार किया गया है –

"मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं – ऐसा अध्यवसाय (मिथ्या अभिप्राय) नियम से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसका है, वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और वह अध्यवसाय जिसके नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

वस्तुत: जीवों का मरण तो अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है; क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है तथा किसी के द्वारा किसी के आयुकर्म का हरण अशक्य है; क्योंकि वह आयुकर्म अपने उपभोग से ही क्षय होता है। इसप्रकार कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का मरण किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता है। इसलिए मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं – ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।

इसीप्रकार परजीवों को मैं जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं - इसप्रकार का अध्यवसाय भी ध्रुवरूप से अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

जीवों का जीवन अपने आयुकर्म के उदय से ही है; क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है। अपना आयुकर्म कोई किसी को दे नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं के परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसकारण कोई किसी भी प्रकार से किसी का जीवन नहीं कर सकता है। इसलिए मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाते हैं - इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।" •

भाई! दूसरों को मारने या बचाने का भाव उसके सहज जीवन में हस्तक्षेप है। सर्वप्रभुतासम्पन्न इस जगत में पर के जीवन-मरण में हस्तक्षेप करना अहिंसा कैसे माना जा सकता है? अनाक्रमण के समान अहस्तक्षेप की भावना भी अहिंसा में पूरी तरह समाहित है। यदि दूसरों पर आक्रमण हिंसा है तो उसके कार्यों में हस्तक्षेप भी हिंसा ही है, उसकी सर्वप्रभुतासम्पन्नता का अनादर है, अपमान है।

भगवान महावीर के अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वयं सर्वप्रभुतासम्पन्न द्रव्य है, अपने भले-बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्वयं उसका है; उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं है। इस परम सत्य की स्वीकृति ही भगवती अहिंसा की सच्ची आराधना है।

भगवती अहिंसा भगवान महावीर की साधना की चरम उपलब्धि है, उनकी पावन दिव्यध्वनि का नवनीत है, जन्म-मरण का अभाव करने वाला रसायन है, परम-अमृत है।

भाई! यदि सुखी होना है तो इस परमामृतरस का पान करो, इस परमरसायन का सेवन करो।

– **अहिंसा : महावीर की दृष्टि में**, पृष्ठ ३७

समयसार गाथा २५३ से २५६

विगत गाथाओं में जो बात जीवन-मरण के सम्बन्ध में कही गई है; उसी बात को आगामी गाथाओं में सुख-दुख के संबंध में कहते हैं –

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६॥

मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ॥ २५३॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुख दे किस भाँति तब ॥ २५४॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुख दर्द दें किस भाँति तब ॥ २५५॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख शांति दे किस भाँति तब ॥ २५६॥

जो यह मानता है कि मैं स्वयं से परजीवों को सुखी-दुखी करता हूँ; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है; वह ज्ञानी है।

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुखी होते हैं और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है; तो तूने उन्हें सुखी-दुखी कैसे किया?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे दुखी कैसे किया?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी-दुखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया?

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अतिसंक्षेप में इसप्रकार व्यक्त किया गया है –

"परजीवों को मैं दुखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुखी तथा सुखी करते हैं – इसप्रकार का अध्यवसाय नियम से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है, वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

जीवों के सुख-दुख वस्तुतः तो अपने कर्मोदय से ही होते हैं; क्योंकि स्वयं के कर्मोदय के अभाव में सुख-दुख का होना अशक्य है। तथा अपना कर्म किसी का किसी को दिया नहीं जा सकता; क्योंकि वह अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है। इसलिए किसी भी प्रकार से कोई किसी को सुखी-दुखी नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि मैं परजीवों को सुखी-दुखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुखी करते हैं।"

अब इसी भाव के पोषक कलश काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है –

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य-
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ १६८॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ १६९॥

(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥ १६८॥

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्त्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥ १६९॥

इस जगत में जीवों के मरण, जीवन, दुख व सुख सब सदैव नियम से अपने कर्मोदय से होते हैं। कोई दूसरा पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुख को करता है – ऐसी मान्यता अज्ञान है।

इस अज्ञान के कारण जो पुरुष एक पुरुष के जीवन-मरण और सुख-दुख को दूसरे पुरुष के द्वारा किये हुए मानते हैं, जानते हैं; पर कर्त्तृत्व के इच्छुक वे पुरुष अहंकार से भरे हुए हैं और आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं।

इन कलशों में २४७ से २५६ तक दश गाथाओं और उनकी टीका में समागत भाव को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है।

इन कलशों का भावानुवाद नाटक समयसार में कविवर बनारसीदासजी इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

तिहूँ लोकमांहि तिहूँ काल सब जीवनि कौ,
पूरब करम उदै आइ रस देतु है ।
कोउ दीरघाउ धरै कोउ अलपाउ मरै,
कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है ॥
याहि मैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दुखी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है ।
याही अहंबुद्धि सौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध हेतु है ॥
जहाँ लौं जगत के निवासी जीव जगत मैं,
सबै असहाइ कोऊ काहू कौ न धनी है ।
जैसी जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन,
तैसी उदै मैं अवस्था आइ बनी है ॥
एते परि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊँ मारूँ,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है ।
सो तौ अहंबुद्धि सौं विकल भयौ तिहूँ काल,
डोलै निज आतम सकति तिन हनी है ॥

तीन लोक में और तीनों कालों में सभी संसारी जीव के पूर्व कर्म उदय में आकर रस देते हैं। तदनुसार कोई व्यक्ति दीर्घायु को प्राप्त करता है और कोई अल्पायु में ही मरण को प्राप्त होता है। इसीप्रकार कोई दुखी होते हैं, कोई सुखी होते हैं और कोई सामान्य स्थिति में रहते हैं। वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी अज्ञानी मूढ़जीव ऐसा मान लेते हैं कि मैं इसे जिलाता हूँ, इसे मारता हूँ, इसे सुखी करता हूँ, इसे दुखी करता हूँ। इसी अहंबुद्धि के कारण अनादिकालीन भूल व भ्रम नष्ट नहीं होते। यही मिथ्याधर्म है और कर्मबंध का कारण भी यही है।

जगत में जितने भी संसारी जीव हैं; वे सभी असहाय हैं अर्थात् उन्हें किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है, कोई किसी का मालिक नहीं है; जिसने पूर्व में जैसे कर्म बाँधे हैं, जैसे कर्म सत्ता में हैं; जब वे उदय में आते हैं, तब उनके उदयानुसार वैसी अवस्था बनती है। ऐसी स्थिति होने पर भी यदि कोई कहता है कि मैं पर को जिलाऊँ या मारूँ या और भी अनेकप्रकार परकर्तृत्व संबंधी विकल्प करता है तो वह पर में अहंबुद्धि धारण कर तीनों काल दुखी होता है और अपनी आत्मशक्ति का अभावकर संसार में डोलता है।

इन गाथाओं, उनकी टीका एवं समागत कलशों के सन्दर्भ में मेरी अन्य कृति 'आत्मा ही है शरण' का निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है –

"इन गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा की साक्षीपूर्वक यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं दूसरों को मारता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं; मैं दूसरों की रक्षा करता हूँ या दूसरे मेरी रक्षा करते हैं; मैं दूसरों को सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे सुखी-दुःखी करते हैं; वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; तथा ज्ञानियों की मान्यता इससे विपरीत होती है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

इस महान सिद्धांत को जगत के समक्ष रखते हुए आचार्यदेव ने करणानुयोग को आधार बनाकर जो वजनदार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे अपने आप में अद्भुत हैं, अकाट्य हैं।

अपनी बात को सिद्ध करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि जब सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में तीर्थंकर

परमात्मा अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में डंके की चोट पर यह बात कही है कि जगत का प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के क्षय से मरण को प्राप्त होता है और आयुकर्म के उदय से ही जीवित रहता है तो फिर कोई किसी के जीवन-मरण का उत्तरदायी कैसे हो सकता है?

जब तुम किसी के आयुकर्म का हरण नहीं कर सकते हो तो फिर उसे मार भी कैसे सकते हो? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे आयुकर्म का हरण नहीं कर सकता है तो वह तुम्हें भी कैसे मार सकता है?

यही बात जीवन के संदर्भ में भी कही जा सकती है। जब प्रत्येक प्राणी अपने आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है और जब तुम किसी को आयुकर्म दे नहीं सकते हो तो फिर तुम उसकी रक्षा भी किसप्रकार कर सकते हो? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें आयुकर्म नहीं दे सकता है तो फिर वह तुम्हारी रक्षा भी किसप्रकार कर सकता है?

इसीप्रकार सुख-दु:ख के सन्दर्भ में भी घटित कर लेना चाहिए। प्रत्येक जीव अपने शुभकर्म के उदयानुसार लौकिक सुख प्राप्त करता है, अनुकूल संयोग प्राप्त करता है और अपने अशुभकर्म के अनुसार दु:ख प्राप्त करता है, प्रतिकूल संयोग प्राप्त करता है। यह परमसत्य जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है।

जब तुम किसी को भी शुभाशुभकर्म नहीं दे सकते हो तो उसे सुखी-दु:खी भी कैसे कर सकते हो? इसीप्रकार जब कोई तुम्हें शुभाशुभकर्म नहीं दे सकता है तो वह तुम्हें भी सुखी-दु:खी कैसे कर सकता है?

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दु:ख एवं जीवन-मरण का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता स्वयं ही है, अपने भले-बुरे का उत्तरदायी भी पूर्णत: स्वयं ही है।

इस परमसत्य से अपरिचित होने के कारण ही अज्ञानीजन अपने सुख-दु:ख एवं जीवन-मरण का कर्त्ता-हर्त्ता अन्य जीवों को मानकर अकारण ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं। अज्ञानी के यह राग-द्वेष-मोह परिणाम ही उसके अनन्त दु:खों के मूल कारण हैं।

पर में ममत्व एवं कर्तृत्व बुद्धि से उत्पन्न इन मोह-राग-द्वेष परिणामों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने वाले इस महासिद्धान्त को जगत के सामने रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने हम सब का महान उपकार किया है; क्योंकि जगतजनों के जीवन का सर्वाधिक समय इसी चिंता और आकुलता-व्याकुलता में जाता है कि कोई हमें मार न डाले, दु:खी न कर दे; मैं पूर्ण सुरक्षित रहूँ, जीवित रहूँ, सुखी रहूँ। अपनी सुरक्षा के उपायों में ही हमारी सर्वाधिक शक्ति लग रही है, बुद्धि लग रही है, श्रम लग रहा है। अधिक क्या कहें - हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इसी के लिए समर्पित है, इसी चिन्ता में बीत रहा है।

पड़ौसी पड़ौसी से आतंकित है, आशंकित हैं; एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में संलग्न है, सुरक्षा के नाम पर विनाश की तैयारी में मग्न है; निराकुलता और शान्ति किसी के भी जीवन में दिखाई नहीं देती।

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार कर ली है कि यदि उसका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है। आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है।

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्यपालन उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी वाइटिक्स) दवाओं को भी जीवनरक्षक दवाइयाँ कहता है।

इसप्रकार यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता? हथियारों के प्रयोग से आजतक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं; अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे

हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्राय: हथियारों से ही मारे जाते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि हथियार सुरक्षा के साधन नहीं, मौत के ही सौदागर हैं। फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे हथियारों के भय से हम पर कोई आक्रमण करने की हिम्मत ही नहीं करेगा, अत: हम सुरक्षित रहेंगे। ऐसा सोचने वालों से मेरा कहना यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तुम्हारे शस्त्रों के भय से तुम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा; पर जब तुम स्वयं बीमार होकर मरोगे, तब क्या होगा?

इस आशंका से आकुल-व्याकुल इस जगत ने अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण किया है। 'कोई मार न दें' – इस आशंका से एक प्रकार की गोलियाँ (अणुबम) बनाई हैं तो 'बीमारियों से स्वयं ही न मर जावें' – इस भय से दूसरे प्रकार को गोलियों (दवाइयाँ) बनाई हैं। जीवन रक्षक (एन्टीबाइटिक्स) दवाइयों का उत्पादन इसकी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

इसप्रकार यह स्वयं को गोलियों के बल पर मरण भय से मुक्त करना चाहता है, पर आजतक तो इसमें किसी को सफलता प्राप्त हुई नहीं है; क्योंकि अभी तक तो कोई सदेह अमर हो नहीं पाया है। लाखों लोगों को दम तोड़ते हम प्रतिदिन देखते ही हैं।

इसीप्रकार सुखी रहने और दु:ख दूर करने के लिए भी इसने दर्दनाशक दवाओं का निर्माण किया है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना, सभी प्रकार के भोगों को भोगना एवं भोगसामग्री इकट्ठी करना भी इसकी इसी आकांक्षा के परिणाम है।

पर इतना सब-कुछ कर लेने के बाद भी न तो यह अमर ही हो सका है और न ही सुखी ही; क्योंकि अमर और सुखी होने का जो रास्ता इस जगत ने चुना है, वह सम्यक् नहीं है। न तो शस्त्र सुरक्षा के साधन ही हैं और न दवाइयाँ दु:ख दूर करने में समर्थ हैं; क्योंकि न तो वे लोग सुरक्षित ही दिखाई देते हैं, जो शस्त्रों की सुरक्षा में रहते हैं और न वे सुखी ही दिखाई देते हैं, जो प्रतिदिन दस-पाँच गोलियाँ तो खाते ही हैं।

शस्त्रों से सुरक्षा की बात तो स्पष्ट हो ही चुकी है, रही बात जीवन रक्षक दवाइयों से सुरक्षा एवं दर्दनाशक दवाइयों से सुखी होने की बात, सो भाई! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध सात्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिन्दु भी ग्रहण नहीं करने वाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियाँ खाने वाले, दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय है; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है।

ये कर्म भी जीव स्वयंकृत शुभाशुभ भावों के अनुसार स्वयं ही बांधता है। इसप्रकार यह प्राणी अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, अन्य किसी का इसमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

इसी बात को यहाँ बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया है कि जो यह मानते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ या उनकी रक्षा करता हूँ अथवा दूसरे मुझे मारते हैं या वे मेरी रक्षा करते हैं; वे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; और ज्ञानी इसके विपरीत है, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं मानता वह तो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दु:ख और जीवन-मरण का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है।

दूसरों को मारने, बचाने या दु:खी-सुखी करने के विकल्प में उलझे अथवा कोई मुझे मार न दे, दु:खी न कर दे, – इस कल्पना से भयाक्रांत अथवा कोई मुझे बचाले या सुखी कर दे – इस भावना से दीन-हीन इस जगत को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू एक बार गंभीरता से विचार तो कर कि

क्या तेरी आयु शेष रहते कोई तुझे मार सकता है, आयु समाप्त हो जाने पर भी क्या कोई तुझे बचा सकता है, अशुभ कर्मों का उदय रहते क्या तुझे कोई सुखी कर सकता है तथा शुभकर्मों का उदय विद्यमान होने पर भी क्या तुझे कोई दु:खी कर सकता है? यदि नहीं तो फिर क्यों व्यर्थ ही भयाक्रान्त होता है, दीन-हीन होकर किसी के सामने गिड़गिड़ाता भी क्यों है?

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और वह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कारण मानना। इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मानना है कि मैं दूसरों का मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ; सुखी-दु:खी कर सकता हूँ।

'मैं दूसरों को मार सकता हूँ' – इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने अधीन करना चाहता है। इसीप्रकार 'मैं दूसरों को बचा सकता हूँ' – इस मान्यता के आधार पर भी दूसरों को अपने आधीन करना चाहता है। सुखी-दु:खी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पर में हस्तक्षेप करने की कुत्सित भावना ही इसके मन को अशान्त करती है, आकुल-व्याकुल करती है, दीन-हीन बनाती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा चित्त अशांत न हो, आकुल-व्याकुल न हो, भयाक्रांत न हो, दीन-हीन न हो तो हमें आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त पंक्तियों पर गहराई से विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है, किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता।

लोक में कहावत भी है कि 'कौओं के कोसने से ढोर (पशु) नहीं मरते' यदि कौओं के कोसने से पशु मरने लग जावें तो जगत में एक भी पशु का बचना संभव नहीं है; क्योंकि लोक में कोसने वाले कौओं की कमी नहीं है।

आशीर्वाद के सन्दर्भ में भी यही बात है। प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बालक को अत्यन्त पवित्र हृदय से भरपूर आशीर्वाद देती है, पर एक ही माँ का एक

बालक विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है और दूसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है। एक जिलाधीश बन जाता है और दूसरे को चपरासी बनना पड़ता है। यदि माँ के आशीर्वाद से कुछ होता हो तो दोनों बालकों को एक-सा फल प्राप्त होना चाहिए, पर ऐसा देखने में नहीं आता। सच्ची बात तो यह है कि यदि आशीर्वाद से कुछ होने की बात होती तो किसी का भी कुछ भी अनिष्ट होने की संभावना ही समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बेटे को भरपूर आशीर्वाद देती ही है।

इससे ही प्रतिफलित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुख व जीवन-मरण उसके स्वयं के कर्मानुसार ही होते हैं।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' की सूक्ति को सार्थक करनेवाला आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन लोगों को अपने आचरण सुधारने की भी पावन प्रेरणा देता है। श्रद्धा ही आचरण को दिशा प्रदान करती है। जबतक हमारी श्रद्धा ही सम्यक् न होगी, तबतक आचरण भी सम्यक् होना संभव नहीं है।

जबतक छात्रों की श्रद्धा यह रहेगी कि पढ़ने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो प्राध्यापकों की कृपा से ही प्राप्त होता है; तबतक छात्रों का मन पढ़ने में कैसे लगेगा? वे तो प्राध्यापकों को प्रसन्न करने के लिए उनके घरों के ही चक्कर काटेंगे।

जबतक कोई लिपिक यह मानता रहेगा कि काम करने से क्या होता है, पदोन्नति तो अधिकारियों के प्रसन्न होने पर ही होगी; तबतक उसका मन काम करने में कैसे लगेगा, वह तो अधिकारियों की सेवा में ही संलग्न रहेगा।

जबतक व्यापारी यह समझते रहेंगे कि ईमानदारी से आजतक कोई करोड़पति नहीं बना, करोड़पति बनने के लिए तो ऊँचा-नीचा करना ही पड़ता है; तबतक कोई व्यापारी ईमानदारी के चक्कर में क्यों पड़ना चाहेगा, वह तो ऊँचा-नीचा करने में ही व्यस्त रहेगा।

जबतक मुख्यमंत्री यह समझते रहेंगे कि जनता की सेवा करने से क्या होता है, कुर्सी तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक प्रधानमंत्री प्रसन्न हैं; तबतक कोई

मुख्यमंत्री जनता की समस्यायें सुलझाने में क्यों माथा मारेगा, वह तो प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिए दिल्ली में ही डटा रहेगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्या श्रद्धा के कारण, गलत विश्वास के कारण, उल्टी मान्यता के कारण आज देश की क्या दुर्गति हो रही है। यदि यह श्रद्धा पलट जावे तो चन्द दिनों में ही देश का नक्शा पलट सकता है।

छात्र यह सोचने लगें कि प्राध्यापकों के घर के चक्कर काटने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो सर्वाधिक अध्ययन करनेवाले छात्र को ही प्राप्त होगा। लिपिक यह सोचने लगें कि अधिकारियों के चक्कर काटने से क्या होता है, पदोन्नति तो अच्छा काम करने से ही होगी। व्यापारी यह सोचने लगें कि बेईमानी से स्थाई लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती, किसी-किसी को और कभी-कभी ही धोखा दिया जा सकता है, सभी को सदाकाल धोखे में रखना संभव नहीं है। यदि स्थाई लाभ प्राप्त करना है तो ईमानदारी से ही काम करना होगा। मुख्यमंत्री भी यह समझने लगे कि प्रधानमंत्री की चापलूसी करने से क्या होता है, पद तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक जनता जनार्दन चाहेगी।

बस, इतना विवेक जागृत होते ही, श्रद्धा पलटते ही छात्र प्राध्यापकों के घर के चक्कर नहीं काटेंगे, पढ़ेंगे; लिपिक अधिकारियों की गुलामी नहीं करेंगे, काम करेंगे; व्यापारी भी बेईमानी न करेंगे, ईमानदारी से व्यापार करेंगे और मुख्यमंत्री दिल्ली में ही नहीं जमे रहेंगे, अपने प्रान्त में ही रहकर जनता की सेवा करेंगे; उनकी समस्यायें सुनेंगे, समझेंगे, सुलझायेंगे। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश का नक्शा बदल जायेगा।

इसीप्रकार जबतक यह आत्मा यह मानता रहेगा कि मैं दूसरों को मारता हूँ, सुखी-दुखी करता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुखी करते हैं, तबतक दूसरों से राग-द्वेष-मोह भी करता रहेगा।

कर्त्तृत्व के अभिमान में ग्रस्त यह आत्मा या तो दूसरों को डरायेगा, धमकायेगा; उन्हें अपने आधीन रखना चाहेगा; नहीं रहने पर स्वयं खेद-खिन्न

होगा, दुखी होगा, संतप्त होगा और तनावग्रस्त हो जायेगा या फिर पराधीनता की वृत्ति से दूसरे से डरेगा, उनकी चापलूसी करेगा, उनकी गुलामी करेगा, उनके प्रसन्न न होने पर खेद-खिन्न होगा और दीन-हीन होकर तनावग्रस्त हो जायेगा।

पर यदि यह आत्मा आचार्य कुन्दकुन्द के निर्देशानुसार यह स्वीकार करले, यह श्रद्धान करले कि न तो मैं किसी को मार-बचा सकता हूँ और न सुखी-दुखी ही कर सकता हूँ तथा न अन्य कोई मुझे मार-बचा सकता है, न सुखी-दुखी ही कर सकता है तो सर्वप्रकार के तनावों से मुक्त हो जायेगा, सहज हो जायेगा, सरल हो जायेगा; सर्वप्रकार से निश्चिन्त हो जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य का उद्घाटन करके आचार्यदेव उनसे क्या अपेक्षा करते हैं? तात्पर्य यह है कि उनके इस प्रतिपादन का जन-सामान्य को क्या लाभ है?

आचार्यदेव कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य के उद्घाटन से तो प्रत्येक प्राणी को लाभ ही लाभ है। तनाव की कमी होना भी अपने आप में एक उपलब्धि है, जो इस परमसत्य के समझने से निश्चितरूप से कम होता है। दूसरी बात यह है कि इस जगत के भोले प्राणी अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी पड़ोसियों पर डालकर व्यर्थ ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं, यदि वे इस सत्य को हृदयंगम करलें तो उनका पड़ोसियों से बैरभाव निश्चितरूप से कम होगा।

यह सत्य हम सबके ख्याल में अच्छी तरह आ जावे तो व्यर्थ में ही होने वाले अनन्त राग-द्वेषों से बचा जा सकता है। दूसरों के सोचने, कहने, और करने से हमारा कुछ भी भला-बुरा नहीं होता, हमारा भला-बुरा पूर्णत: हमारे कर्मानुसार ही होता है।

अत: राग-द्वेष कम करने का सरलतम उपाय अपने सुख-दुख का कारण अपने में ही खोजना है, मानना है, जानना है।

यह कैसे संभव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी करदे। इसीप्रकार यह भी कैसे संभव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई

दुखी करदे। यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जायेगा?

उक्त संदर्भ में आचार्य अमितिगति का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है –

स्वयं कृतं यदात्मना पुरा,
फलं तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं;
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचायन्नेवमनन्यमानसः;
परो ददातीति विमुच्च शेमुषीम् ॥

इस जीव के द्वारा पूर्व में जो शुभ और अशुभ कर्म स्वयं किए कहे गये हैं, उनका ही फल उसे वर्तमान में प्राप्त होता है। यह बात पूर्णतः सत्य है; क्योंकि यदि यह माना जाय कि सुख-दुःख दूसरों के द्वारा किये जाते हैं तो फिर स्वयं किये गये संपूर्ण कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे।

अपने द्वारा किये गये कर्मों को छोड़कर इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता। जो कुछ भी सुख-दुःख इसे प्राप्त होते हैं, वे सब इसके ही शुभाशुभ कर्मों के फल हैं। इसलिए मन को अन्यत्र न भटका कर, अनन्य मन से इस बात का विचार करके पक्का निर्णय करके हे भव्यात्मा! 'सुख-दुःख दूसरे देते हैं' – इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दो।

यदि हम जीवनभर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप कर्मों के फल भोगने से बचाले, दुःखी न होने दे, सुखी करदे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों? बस किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे; क्योंकि सुख-दुःख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया। यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करनेवाली होने से पाप ही है।

इसीप्रकार यदि हम जीवनभर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दुःखी करदे तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे, बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे।

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चितरूप से भोगना ही होगा।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही प्राप्त होती है; उसमें किसी का भी, यहाँ तक कि किसी सर्वशक्तिमान भगवान का भी हस्तक्षेप संभव नहीं और यही न्यायसंगत भी है।

'मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दु:खी करता हूँ' – यह मान्यता अभिमान की जननी है और 'दूसरे जीव मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दु:खी करते हैं' – यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रान्त करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है।

अत: यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भार होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि दे देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर है – सुखी और शांत होने का एकमात्र यही उपाय है।[१]''

उक्त सम्पूर्ण चर्चा से यद्यपि यह बात तो हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी व्यक्ति को कोई अन्य व्यक्ति मार या जिला नहीं सकता और न सुखी व दु:खी ही कर सकता है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-मरण और सुख-दु:ख नियत ही हैं और अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही होते हैं; तथापि लोगों के हृदय को एक प्रश्न उद्वेलित करता ही रहता है कि इसमें कर्मोदय से होने की बात तो साफ-साफ लिखी है। कर्म भी तो परद्रव्य ही है; इसकारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता तो हो ही गया।

वस्तुत: बात यह है कि कार्योत्पत्ति में उपादान और निमित्त – इसप्रकार दो प्रकार के कारणों की चर्चा जिनागम में आती है।

---

१. आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १०५-११९

प्रत्येक जीव के जीवन-मरण और सांसारिक सुख-दु:ख में उपादानकारण तो उसी जीव की तत्समय की पर्यायगत योग्यता है और निमित्तकारण कर्मोदय। इसप्रकार जब दोनों ही कारण हो गये तो फिर दूसरे व्यक्ति का क्या प्रयोजन रह जाता है? क्योंकि वह व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सुख-दु:ख का न तो उपादान कारण ही है और न निमित्त कारण ही। इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कर्त्ता नहीं है।

इस बात का स्पष्टीकरण पंडित जयचंदजी के भावार्थों से सहज ही हो जाता है; जो इसप्रकार हैं -

"मैं पर जीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं - ऐसा अभिप्राय अज्ञान है; इसलिए जिसका ऐसा आशय है, वह अज्ञानी है - मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है, वह ज्ञानी है - सम्यग्दृष्टि है।

निश्चयनय से कर्त्ता का स्वरूप यह है - स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस भाव का स्वयं कर्त्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थत: कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्त्ता कहना सो व्यवहारनय का कथन है; उसे यथार्थतया (अपेक्षा को समझकर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है।

जीव की जो मान्यता हो तदनुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता; तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है, सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनय की प्रधानता से है।

व्यवहार इसप्रकार है - परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से पर्याय का जो उत्पाद-व्यय हो, उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से मरण (पर्याय का व्यय) हो, उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसने इसे मारा - यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना की व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधरूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए।"

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"टीका के प्रारंभिक बोल में जो यह लिखा है कि जीवों का जीवित रहना वस्तुत: अपने-अपने आयुकर्म के उदय से ही होता है – इस कथन में से लौकिकजन प्राय: यह अर्थ निकालते हैं कि देखो! शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि जीव आयुकर्म से ही जीवित रहता है।

इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! यह तो निमित्त की अपेक्षा किया गया कथन है। वस्तुत: तो दूसरा कोई द्रव्य किसी को जीवित रखे – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। यहाँ इन गाथाओं में यही वस्तु का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न है। आयुकर्म की निमित्तता का ज्ञान कराकर यह सिद्ध किया है कि अन्य जीव तो किसी अन्य के प्राण हरण करने में यथार्थ निमित्त भी नहीं है; अत: यह मानना छोड़ दे कि मैं किसी को मार सकता हूँ या बचा सकता हूँ।

वस्तुस्वरूप की ओर से देखा जाये तो आयुकर्म भी जड़ है, वह भी जीवों को जीवित करने में अकिंचित्कर ही है। जब दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अत्यन्ताभाव पड़ा है तो एक-दूसरे में क्या कर सकते हैं? जब दोनों वस्तुएँ ही भिन्न-भिन्न हैं तो कर्म जीव का क्या करे, कैसे करे; आखिर करे भी क्यों?

जीव को इस जड़ शरीर में रहना है, पर इसका शरीर में रहना भी अपनी स्वतंत्र योग्यता से होता है, शरीर या कर्म के कारण नहीं। आयुकर्म के कारण रहता है – ऐसा जो शास्त्रों में कहा है सो वह तो निमित्त की मुख्यता से किया व्यवहार का कथन है।[१]

यहाँ निमित्त से कथन करके निमित्त का कर्तृत्व सिद्ध नहीं करना है; बल्कि अन्य कोई जीव, कर्म या नोकर्म किसी को मार-बचा नहीं सकता, सुखी-दु:खी नहीं कर सकता – ऐसा पर के अहंकार-ममकार व कर्तृत्व छुड़ाने के पवित्र उद्देश्य से यह निमित्त का कथन किया है।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ६९-७०
२. वही, पृष्ठ ७०

उस समय ज्ञानी अपनी भूमिकानुसार उसकी भूख-प्यास आदि को मिटाने की कोशिश तो करता है, पर अधीर नहीं होता; क्योंकि वह जानता है कि बाह्यक्रिया अपने आधीन नहीं है; अपने अधिकार में नहीं है। जबकि अज्ञानी ऐसा माने बैठा है कि मैं ऐसा कर सकता हूँ, वैसा कर सकता हूँ; वह ऐसी अज्ञानमय इच्छा द्वारा आकुलित होता है। अज्ञानी परद्रव्य की क्रिया में अपने कर्तृत्व की मान्यता से आकुलित होता है।[१]

जगत में अधिकांश जीव ऐसे हैं जो अपने सुख-दुख का कारण दूसरों को ही मानते हैं। इसकारण वे दूसरों पर तोष-रोष प्रगट किया करते हैं। उनके इस अज्ञान को दूर करने के लिए तथा दूसरों के प्रति कषायें न करने के उद्देश्य से यहाँ यह कहा गया है कि हमारे सुख-दुख के कारण पर नहीं; बल्कि अपना कर्मोदय ही है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि जीवों को अन्य कोई सुखी-दुखी नहीं कर सकता। यह सिद्ध करने के लिए कहा है कि अपने कर्म के उदय से जीव सुखी-दुखी होते हैं, पर के कारण नहीं। पर से उपयोग हटाकर कर्म पर लाए हैं। वस्तुत: देखा जाए तो हमारा सुख-दुख कर्मकृत भी नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड़ है। क्या जड़ से भी जीवों को सुख-दुख होता है?

सुख के साधन के रूप में जीवों को जो धन-धान्य आदि अनुकूल सामग्री मिलती है, वह सब तो अपने-अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से, अपने कारण व अपने काल में मिलती है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसीसमय निमित्तरूप में वहाँ सातावेदनीय आदि पुण्य-कर्म का उदय भी अपने स्वचतुष्टय की योग्यता से उपस्थित रहता ही है। बस इतने समकालरूप सम्बन्ध के कारण व्यवहार से ऐसा कथन किया जाता है कि कर्म के उदय से बाह्य सामग्री मिली है। वस्तुत: कर्म का उदय धन-धान्य आदि सामग्री का स्वामी नहीं है, जो धन-धान्य लावे।

यहाँ सुख-दुख से तात्पर्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलने से है जो कि अपने उपादान की तत्समय की योग्यता से आते हैं और उनमें पूर्वकर्म निमित्त होता है। अनुकूलता में पुण्य-कर्म का उदय निमित्त है और प्रतिकूलता में पापकर्म का उदय निमित्त है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव जानकर यहाँ कहा है कि जीवों को वास्तव में अपने-अपने कर्म के उदय से ही सुख-दुख होता है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ८१

मूलत: यहाँ सिद्ध यह करना है कि कोई किसी अन्य जीव को सुख-दुख नहीं दे सकता। देखो, कैसी सूक्ष्म बात कही है? अहो! दिगम्बर सन्तों ने गजब का काम किया है। तत्त्व की एक-एक पर्त खोलकर रख दी है।[१]

वे मिथ्यादृष्टि आत्मा का हनन करने वाले हैं – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने गजब किया है। वस्तुत: पर को कोई मार नहीं सकता; फिर भी पर को मार सकता हूँ – ऐसी मान्यता से वह स्वयं का घात कर रहा है। पर की रक्षा भी नहीं कर सकता है; फिर भी पर की रक्षा करता हूँ – ऐसी मान्यता से अपने स्वयं के जीवन का घात करता है। स्वयं भी पर को सुखी-दुखी कर नहीं सकता, आहार-औषधि द्वारा पर का उपचार कर नहीं सकता; तथापि पर को सुखी-दुखी करता हूँ, पर का उपचार कर सकता हूँ – ऐसी मान्यता से अपना आत्मघात हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि पर का कार्य मैं करता हूँ – ऐसी मान्यता से अहंकार करनेवाले मिथ्यादृष्टि आत्मघाती महापापी ही हैं।[२]''

इसप्रकार उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि प्रत्येक जीव स्वयं के जीवन-मरण और सुख-दु:खों का जिम्मेवार स्वयं ही है; कोई अन्य नहीं। अत: अपने जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कर्त्ता-धर्त्ता अन्य को मानकर उनसे राग-द्वेष करना व्यर्थ है, अपना ही अहित करनेवाला है। इसलिए सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को चाहिए कि वे इसप्रकार की मिथ्या मान्यता छोड़कर आत्मघात के महान पाप से बचें और स्वयं को जानकर, पहिचान कर, स्वयं में ही जमकर, रमकर स्वयं के लिए अनंत सुख का मार्ग प्रशस्त करें। •

१. प्रवचनरत्नाकर भाग ८, पृष्ठ ८४, ८५
२. वही, पृष्ठ ९४

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य मात्र दर्पण नहीं; दीपक भी है, मार्गदर्शक भी है, प्रेरक भी है। जो साहित्य प्रकाश न बिखेरे, मार्गदर्शन न करे, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा न दे; मात्र समाज का कुत्सित चित्र प्रस्तुत करे या मनोरंजन तक सीमित रहे, वह साहित्य साहित्य नहीं, साहित्य के नाम पर कलंक है। – आप कुछ भी कहो, पृष्ठ २

समयसार गाथा पद्यानुवाद

आस्त्रवाधिकार

(हरिगीत)

मिथ्यात्व अविरत योग और कषाय चेतन-अचेतन ।
चितरूप जो हैं वे सभी चैतन्य के परिणाम हैं ॥ १६४॥
ज्ञानावरण आदिक अचेतन कर्म के कारण बने ।
उनका भी तो कारण बने रागादि कारक जीव यह ॥ १६५॥
है नहीं आस्त्रव बंध क्योंकि आस्त्रवों का रोध है ।
सद्दृष्टि उनको जानता जो कर्म पूर्वनिबद्ध हैं ॥ १६६॥
जीवकृत रागादि ही बंधक कहे हैं सूत्र में ।
रागादि से जो रहित वह ज्ञायक अबंधक जानना ॥ १६७॥
पक्वफल जिसतरह गिरकर नहीं जुड़ता वृक्ष से ।
बस उसतरह ही कर्म खिरकर नहीं जुड़ते जीव से ॥ १६८॥
जो बंधे थे भूत में वे कर्म पृथवीपिण्ड सम ।
वे सभी कर्म शरीर से हैं बद्ध सम्यग्ज्ञानि के ॥ १६९॥
प्रतिसमय विध-विध कर्म को सब ज्ञान-दर्शन गुणों से ।
बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ज्ञानी अबंधक इसलिए ॥ १७०॥
ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में ।
अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा ॥ १७१॥
ज्ञान-दर्शन-चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे ।
तब विविध पुद्गल कर्म से इस लोक में ज्ञानी बंधे ॥ १७२॥
सद्दृष्टियों के पूर्वबद्ध जो कर्मप्रत्यय सत्त्व में ।
उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें ॥ १७३॥
अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह ।
ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म बाँधे उसतरह ॥ १७४॥
बालवनिता की तरह वे सत्त्व में अनभोग्य हैं ।
पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते ॥ १७५॥
बस इसलिए सद्दृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा ।
क्योंकि आस्त्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सकें ॥ १७६॥

रागादि आस्त्रवभाव जो सद्दृष्टियों के वे नहीं ।
इसलिए आस्त्रवभाव बिन प्रत्यय न हेतु बंध के ॥ १७७॥
अष्टविध कर्मों के कारण चार प्रत्यय ही कहे ।
रागादि उनके हेतु हैं उनके बिना बंधन नहीं ॥ १७८॥
जगजन ग्रसित आहार ज्यों जठराग्नि के संयोग से ।
परिणमित होता बसा में मज्जा-रुधिर-मांसादि में ॥ १७९॥
शुद्धनय परिहीन ज्ञानी के बंधे जो पूर्व में ।
वे कर्म प्रत्यय ही जगत में बांधते हैं कर्म को ॥ १८०॥

संवराधिकार

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना ।
बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना ॥ १८१॥
अष्टविध द्रवकर्म में नोकर्म में उपयोग ना ।
इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना ॥ १८२॥
विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो ।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आतमा ॥ १८३॥
ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे ।
त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे ॥ १८४॥
जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो ।
वे आतमा जाने न माने राग को ही आतमा ॥ १८५॥
जो जानता मैं शुद्ध हूँ, वह शुद्धता को प्राप्त हो ।
जो जानता अविशुद्ध वह, अविशुद्धता को प्राप्त हो ॥ १८६॥
पुण्य एवं पाप से निज आतमा को रोककर ।
अन्य आशा से विरत हो ज्ञान-दर्शन में रहें ॥ १८७॥
विरहित करम नोकरम से निज आत्म के एकत्व को ।
निज आतमा को स्वयं ध्यावें सर्व संग विमुक्त हो ॥ १८८॥
ज्ञान-दर्शनमय निजातम को सदा जो ध्यावते ।
अत्यल्पकाल स्वकाल में वे सर्व कर्म विमुक्त हों ॥ १८९॥
बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही ।
मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरतभाव एवं योग भी ॥ १९०॥

इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के ।
अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है ॥ १९१॥
कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो ।
नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो ॥ १९२ ॥

निर्जराधिकार

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन ।
जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है ॥ १९३॥
सुख-दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से ।
अर भोगने के बाद सुख-दुख निर्जरा को प्राप्त हों ॥१९४॥
ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं जहर के उपभोग से ।
त्यों ज्ञानिजन बँधते नहीं हैं कर्म के उपभोग से ॥ १९५॥
ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्त जन होते नहीं ।
त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बँधते नहीं ॥ १९६॥
ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बने ।
त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषयसेवक नहीं बने ॥ १९७॥
उदय कर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहे ।
किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९८॥
पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं ।
किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९९॥
इसतरह ज्ञानी जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा ।
कर्मोदयों को छोड़ते निजतत्त्व को पहिचान कर ॥ २००॥
अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के ।
वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को ॥ २०१॥
जो न जाने जीव को वे अजीव भी जाने नहीं ।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जाने नहीं ? ॥ २०२॥
स्वानुभूति गम्य है जो नियत थिर निज भाव ही ।
अपद पद सब छोड़ ग्रह वह एक नित्य स्वभाव ही ॥ २०३॥
मतिश्रुतावधिमनःपर्यय और केवलज्ञान भी ।
सब एक पद परमार्थ हैं पा इसे जन शिवपद लहें ॥ २०४॥

इस ज्ञान गुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें ।
यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो ॥ २०५॥

इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो ।
बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो ॥ २०६॥

आतमा ही आतमा का परिग्रह यह जानकर ।
'पर द्रव्य मेरा है' बताओ कौन बुध ऐसा कहे? ॥ २०७॥

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे ।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं ॥ २०८॥

छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो ।
जावे चला चाहे जहाँ पर परिग्रह मेरा नहीं ॥ २०९॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को ।
है परिग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे ॥ २१०॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को ।
है परिग्रह ना अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे ॥ २११॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को ।
है परिग्रह ना असन का वह असन का ज्ञायक रहे ॥ २१२॥

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को ।
है परिग्रह ना पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे ॥ २१३॥

इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को ।
सर्वत्र ही वह निरालम्बी नियत ज्ञायकभाव है ॥ २१४॥

उदयगत जो भोग हैं उनमें वियोगीबुद्धि है ।
अर अनागत भोग की सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं ॥ २१५॥

वेद्य-वेदक भाव दोनों नष्ट होते प्रतिसमय ।
ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना उभय की कांक्षा करे ॥ २१६॥

बंध भोग निमित्त में अर देह में संसार में ।
सद्ज्ञानियों को राग होता नहीं अध्यवसान में ॥ २१७॥

पंकगत ज्यों कनक निर्मल कर्मगत त्यों ज्ञानिजन ।
राग विरहित कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥ २१८॥

पंकगत ज्यों लोह त्यों ही कर्मगत अज्ञानिजन ।
रक्त हों परद्रव्य में अर कर्मरज से लिप्त हों ॥ २१९॥
ज्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते ।
भी संख के शुक्लत्व को ना कृष्ण कोई कर सके ॥ २२०॥
त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते ।
भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके ॥ २२१॥
जब स्वयं शुक्लत्व तज वह कृष्ण होकर परिणमे ।
तब स्वयं ही हो कृष्ण एवं शुक्ल भाव परित्यजे ॥ २२२॥
इस ही तरह जब ज्ञानिजन निजभाव को परित्यागकर ।
अज्ञानमय हों परिणमित तब स्वयं अज्ञानी बनें ॥ २२३॥
आजीविका के हेतु नर ज्यों नृपति की सेवा करे ।
तो नरपती भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥ २२४॥
इस ही तरह जब जीव सुख के हेतु सेवे कर्मरज ।
तो कर्मरज भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे ॥ २२५॥
आजीविका के हेतु जब नर नृपति सेवा ना करे ।
तब नृपति भी उसके लिए उसतरह सुविधा न करे ॥ २२६॥
त्यों कर्मरज सेवे नहीं जब जीव सुख के हेतु से ।
तो कर्मरज उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे ॥ २२७॥
निःशंक हों सद्दृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें ।
वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही निःशंक हैं ॥ २२८॥
जो कर्म बंधन मोह कर्ता चार पाये छेदते ।
वे आतमा निःशंक सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना ॥ २२९॥
सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा ।
वे आतमा निकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३०॥
जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तुधर्मों के प्रति ।
वे आतमा ही निर्जुगुप्सक समकिती हैं जानना ॥ २३१॥
सर्व भावों के प्रति सद्दृष्टि हैं असंमूढ़ हैं ।
अमूढ़दृष्टी समकिती वे आतमा ही जानना ॥ २३२॥
जो सिद्धभक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें ।
वे आतमा गोपनकरी सद्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३३॥

उन्मार्गगत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में।
वे आतमा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३४॥
मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति रखें वत्सल भाव जो।
वे आतमा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना ॥ २३५॥
सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हों जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।
वे प्रभावक जिनमार्ग के सद्दृष्टि उनको जानना ॥ २३६॥

बंधाधिकार

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २३७॥
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २३८॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किसकारण हुआ ॥ २३९॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २४०॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
सब करमरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन ॥ २४१॥
ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से ॥ २४२॥
तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे ॥ २४३॥
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ? ॥ २४४॥
चिकनाई ही रज बंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से ॥ २५४॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए।
बस करमरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन ॥ २४६॥
मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २४७॥

निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४८॥
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं ॥ २४९॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥ २५०॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५१॥
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही ।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं ॥ २५२॥
मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो ॥ २५३॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुख दे किस भाँति तब ॥ २५४॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
दुष्कर्म दे सकते न जब दुख दर्द दें किस भाँति तब ॥ २५५॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब ।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख शांति दे किस भाँति तब ॥ २५६॥
जो मरे या जो दुखी हों वे सब करम के उदय से ।
'मैं दुखी करता-मारता' – यह बात क्यों मिथ्या न हो? ॥ २५७॥
जो ना मरे या दुखी ना हो सब करम के उदय से ।
'ना दुखी करता मारता' – यह बात क्यों मिथ्या न हो? ॥ २५८॥
मैं सुखी करता दुखी करता हूँ जगत में अन्य को ।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे ॥ २५९॥
'मैं सुखी करता दुखी करता' यही अध्यवसान सब ।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६०॥
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब ।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में ॥ २६१॥
मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से ।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥ २६२॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

आस्त्रवाधिकार

(हरिगीत)

सारे जगत को मथ रहा उन्मत्त अस्त्रवभाव यह ।
समरांगण में समागत मदमत्त आस्त्रवभाव यह ॥
मर्दन किया रणभूमि में इस भाव को जिस ज्ञान ने ।
वह धीर है गंभीर है हम रमें नित उस ज्ञान में ॥ ११३॥

इन द्रव्य कर्मों के पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सद्ज्ञान निर्मित भाव जो ॥
भावास्त्रवों से रहित वे इस जीव के निजभाव हैं ।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं ॥ ११४॥

(दोहा)

द्रव्यास्त्रव से भिन्न है भावास्त्रव को नाश ।
सदा ज्ञानमय निरास्त्रव ज्ञायकभाव प्रकाश ॥ ११५॥

(कुण्डलिया)

स्वयं सहज परिणाम से कर दीना परित्याग ।
सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग ॥
बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने ।
और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने ॥
निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्णभाव को ।
रहे निरास्त्रव सदा उखाड़े परपरिणति को ॥ ११६॥

(दोहा)

द्रव्यास्त्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण ।
फिर भी ज्ञानी निरास्त्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥ ११७॥

(हरिगीत)

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी ।
काल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी ॥
यद्यपि वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से ।
अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥ ११८॥

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव ।
ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव ॥ ११९॥

(हरिगीत)

सदा उद्धत चिन्ह वाले शुद्धनय अभ्यास से ।
निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से ॥
रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन ।
बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते ॥ १२०॥

च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे ।
पहले बंधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो ॥
अरे विचित्र विकल्प वाले और विविध प्रकार के ।
विपरीतता से भरे विध-विध कर्म का बंधन करें ॥ १२१॥

इस कथन का सार यह कि शुद्धनय उपादेय है ।
अर शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है ॥
क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है ।
इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है ॥ १२२॥

धीर और उदार महिमायुत अनादि-अनंत जो ।
उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भाव जो ॥
सद्ज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है ।
विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥ १२३॥

निज आतमा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते ।
अर उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते ॥
वे आस्रवों का नाश कर नित रहें आतम ध्यान में ।
वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में ॥ १२४॥

संवराधिकार

(हरिगीत)

संवरजयी मदमत्त आस्रवभाव का अपलाप कर ।
व्यावृत्य हो पररूप से सद्बोध संवर भास्कर ॥
प्रगटा परम आनन्दमय निज आत्म के आधार से ।
सद्ज्ञानमय उज्ज्वल धवल परिपूर्ण निजरसभार से ॥ १२५॥

यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जड़रूप है ।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है ॥
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ ॥ १२६॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाह से ।
कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धातम को ॥
और निरंतर उसमें ही थिर होता जावे ।
पर परिणति को त्याग निरंतर शुध हो जावे ॥ १२७॥

भेदज्ञान की शक्ति से निजमहिमा रत को ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होने पर उसके ।
अतिशीघ्र ही सब कर्मों का क्षय हो जावे ॥ १२८॥

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से ।
आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
इसीलिए तो सच्चे दिल से नितप्रति करना ।
अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ॥ १२९॥

अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ।
सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥
जबतक पर से हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।
ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥ १३०॥

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे ।
महिमा जानो एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥
और जीव जो भटक रहे वे भवसागर में ।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥ १३१॥

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो ॥
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥ १३२ ॥

निर्जराधिकार

(हरिगीत)

आगामी बंधन रोकने संवर सजग सन्नद्ध हो ।
रागादि के अवरोध से जब कमर कस के खड़ा हो ॥
अर पूर्वबद्ध करम दहन को निरजरा तैयार हो ।
तब ज्ञानज्योति यह अरे नित ही अमूर्छित क्यों न हो ॥ १३३॥

ज्ञानी बंधे ना कर्म से सब कर्म करते-भोगते ।
यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥ १३४॥

(दोहा)

बंधे न ज्ञानी कर्म से बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥ १३५॥

(हरिगीत)

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा ।
परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
वे आतमा सद्दृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
हो नियम से – यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल ॥ १३६॥

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित सदा ।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा ॥
जो समिति आलंबें महाव्रत आचरें पर पापमय ।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय ॥ १३७॥

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो ।
यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे ॥
जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में ।
हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥ १३८॥

अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद ।
सब आपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञानपद ॥ १३९॥

उस ज्ञान के आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा ।
अर द्वन्दमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा ॥
आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा ।
सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा ॥ १४०॥

सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही ।
हों उछलती जिस भाव में अद्भुतनिधि वह आतमा ॥
भगवान वह चैतन्यरत्नाकर सदा ही एक है ।
फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता ॥ १४१ ॥

पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।
जाने बिना निज आतमा जिनवर कहें सब व्यर्थ हैं ॥
मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं ॥ १४२ ॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम ।
ज्ञानकला से सहज ही सुलभ आतमाराम ॥
अतः जगत के प्राणियों! छोड़ जगत की आश ।
ज्ञानकला का ही अरे! करो नित्य अभ्यास ॥ १४३ ॥

अचिंत्यशक्ति धारक अरे चिन्तामणि चैतन्य ।
सिद्धारथ यह आतमा ही है कोई न अन्य ॥
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं फिर क्यों पर की आश ।
ज्ञानी जाने यह रहस करे न पर की आश ॥ १४४ ॥

(सोरठा)

सभी परिग्रह त्याग इसप्रकार सामान्य से ।
विविध वस्तु परित्याग अब आगे विस्तार से ॥ १४५ ॥

(दोहा)

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।
परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग ॥ १४६ ॥

(हरिगीत)

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं ।
क्योंकि पल-पल प्रलय पावें वेद्य-वेद्यक भाव सब ॥
बस इसलिए सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा ।
चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ॥ १४७ ॥

जबतक कषायित न करें सर्वांग फिटकरि आदि से ।
तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥
बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यग्ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते पर परीग्रहभाव को ना प्राप्त हों ॥ १४८॥

रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में ।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥ १४९॥

स्वयं ही हों परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें ।
अर अन्य के द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें ॥
जिम परजनित अपराध से बंधते नहीं जन जगत में ।
तिम भोग भोगे किन्तु ज्ञानीजन कभी बंधते नहीं ॥ १५०॥

कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं ।
फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
हो भोगने से बंध ना पर भोगने के भाव से ।
तो बंध है बस इसलिए निज आतमा में रत रहो ॥ १५१॥

तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को ।
फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता ॥
फलाभिलाषाविरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें ।
सब कर्म करते हुए भी वे कर्मबंधन ना करें ॥ १५२॥

जिसे फल की चाह ना वह करे – यह जंचता नहीं ।
यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है ॥
अकंप ज्ञानस्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते या नहीं – यह कौन जाने विज्ञजन ॥ १५३॥

वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे ।
फिर भी अरे अतिसाहसी सद्दृष्टिजन निश्चल रहें ॥
निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें ।
निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें ॥ १५४॥

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है ।
अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५५॥

चूंकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों ।
अतएव ज्ञानी नित्य ही निजज्ञान का अनुभव करें ॥
अन वेदना कोइ है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५६॥

निज आतमा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं ।
है सदा रक्षित सत् अरक्षाभाव हो सकता नहीं ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वें ।
वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५७॥

कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं ।
सब हैं सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ १५८॥

मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को ।
ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो ॥
तब मरणभय हो किसतरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों ।
वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १५९॥

इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है ।
यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनंत है ॥
जब जानते यह ज्ञानिजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १६०॥

(दोहा)

नित निःशंक सद्दृष्टि को कर्मबंध न होय ।
पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥ १६१॥

बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश ।
नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥ १६२॥

बंधाधिकार

(हरिगीत)

मदमत्त हो मदमोह में इस बंध ने नर्तन किया ।
रसराग के उद्गार से सब जगत को पागल किया ॥
उदार अर आनन्दभोजी धीर निरुपधि ज्ञान ने ।
अति ही अनाकुलभाव से उस बंध का मर्दन किया ॥ १६३॥

कर्म की ये वर्गणायें बंध का कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी हैं बंध के कारण नहीं ॥
करण कारण हैं नहीं चिद्-अचिद् हिंसा भी नहीं ।
बस बंध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ॥ १६४॥

भले ही सब कर्मपुद्गल से भरा यह लोक हो ।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो ॥
चिद् अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो ।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बंध हो ॥ १६५॥

तो भी निरर्गल प्रवर्त्तन तो ज्ञानियों को वर्ज्य है ।
क्योंकि निरर्गल प्रवर्त्तन तो बंध का स्थान है ॥
वांच्छारहित जो प्रवर्त्तन वह बंध विरहित जानिये ।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये ॥ १६६॥

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं ।
करना तो है बस राग ही जो करें वे जाने नहीं ॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही ।
बंधकारण कहे ये अज्ञानियों के भाव ही ॥ १६७॥

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥ १६८॥

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्त्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥ १६९॥

पाठकों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

आचार्य श्री शांतिसागरजी हस्तिनापुरवालों के प्रमुख शिष्य १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषणजी महाराज लिखते हैं – डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा रचित जैनसाहित्य – 'समयसार-अनुशीलन' तथा 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' आदि ग्रन्थों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। मैंने अनुभव किया कि आपके ग्रंथ जैनधर्म के मर्म को पाठकों को समझाने तथा मुमुक्षुओं को आत्मानुभूति का रस प्रदानकर मोक्षमहल तक ले जाने में समर्थ हैं।

आपके ग्रंथ जैनधर्म के अनमोल रत्न हैं। जिसप्रकार सूर्य अन्धकार का विनाश करने में समर्थ है; उसीप्रकार आपका 'समयसार अनुशीलन' व 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' संसार-सागर में भटकने से बचनेवाले मुमुक्षुओं के लिए नौका समान है; क्योंकि नयदृष्टि से हीन व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। आपने अपनी लेखनी की प्रतिभा के माध्यम से निश्चय व व्यवहार नय का सुन्दर विश्लेषण किया है।

वर्तमान युग में निश्चय-व्यवहार नय पर चर्चित चर्चा अकुशल हाथों में पड़ गई है। ऐसे समय में नयज्ञान के अभाव में नयविषयक पुस्तकें लिखकर, जो विडम्बना की गई है; उसे परिहार करने में उक्त कृतियाँ दिव्यज्योति हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार का हरण करने में समर्थ हैं। सभी लोगों तथा मुमुक्षुओं को पक्षपात छोड़कर इन ग्रन्थों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

मेरा मंगल आशीर्वाद है कि डॉ. भारिल्ल जिनागम से सार निकालकर मुमुक्षुओं के लिए ऐसी सच्ची कृतियों का प्रणयन निरन्तर करते रहें।

श्वेताम्बर साध्वी श्री पद्मरेखाजी लिखती हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' एक अनूठी कृति है। यह अपने आप में मुमुक्षुओं के लिए स्वाध्याय में सहारा देनेवाला ग्रंथ है। इस युग में आत्मोन्मुखी साहित्य की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति आप जैसे सरस्वतीपुत्र कर रहे हैं, जो साधुवाद के पात्र हैं।

बाहुबली (कुम्भोज-महाराष्ट्र) से ब्र. विदुषी गजाबैन लिखती हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पढ़कर परम सन्तोष होता है। अबतक समयसार बहुत बार पढ़ा, लेकिन आपने जो मर्म खोला है, खुलासा किया है; उससे मन की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। बिना किसी अटकन के मर्म गले से अन्दर उतर जाता है। आपकी कथन शैली में प्रतिभा की प्रौढ़ता, कल्पना की सूक्ष्मता, अनुभव की गहनता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता तथा भावों की यथार्थता की झलक स्पष्टरूप से प्रतिभासित होती है।

वास्तव में यह ग्रंथ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि की प्राप्ति होगी।

सोनगढ़ (गुजरात) से ब्र. कंचनबैन लिखती हैं कि – डॉ. साहब के द्वारा जो 'समयसार : अनुशीलन' लिखा जा रहा है, वह सबके लिए बहुत ही पसंद आया है, अच्छा लगता है। कारण यह है कि सभी शास्त्रों के स्वाध्यायपूर्वक सभी आचार्य महाराजों की गाथाओं का सामंजस्य यह सब उसमें बहुत सुन्दर ढंग से आता है। इससे स्वाध्याय अत्यन्त सरल हो जाता है। अनुशीलन के अनुसार हम सब भी अपना परिणमन करें। ऐसी भावना है।

नांद्रे (सांगली, महाराष्ट्र) से ब्र. यशपालजी जैन लिखते हैं कि – आपकी कृति सार-समयसार पढ़ी थी, तब ही से समग्र समयसार पर आप लिखोगे तो मुझे पढ़ने में विशेष सरलता और स्पष्टता आयेगी-ऐसी आशा मन में थी। वह आशा अब साकार हो रही है।

आपका 'समयसार अनुशीलन' का कार्य अखण्ड चलते ही रहना चाहिए। उसके लिए वीतराग-विज्ञान पत्रिका में अधिक पेज भी हम जैसे लोगों के लिए विशेष उपयोगी ही रहेंगे, जिसमें हम ज्यादा से ज्यादा आपके प्रवचनों का परोक्षरूप से अनुभव पा सकेंगे। विशेष-अभ्यासी लोगों की अपेक्षा रखते हुए हमारी (प्राथमिक अभ्यासी लोगों की) उपेक्षा नहीं होनी चाहिए – यह मेरी आन्तरिक भावना है। आपका लेख ही सबसे पहले पढ़ने का मेरा हमेशा का क्रम बना हुआ है। आपको सुनने से और पढ़ने से सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के प्रवचन सुनना और पढ़ना हमें कार्यकारी होता है। हम अनेक लोग ऐसा ही करते हैं।

लासइंजिल्स, साउथ केलीफोर्निया (नार्थ अमेरिका) से नरेशजी पालखीवाला लिखते हैं कि – 'समयसार : एक अनुशीलन' को पढ़कर मुझे वचनातीत आनन्द होता है। अन्तर ही अन्तर में उसका कितनी बार वाचन, मनन-चिन्तन होता है, उसकी कोई गिनती नहीं करता; क्योंकि जबतक पूरा-पूरा आत्मसात् नहीं होता, तबतक यह प्रक्रिया चलती ही रहती है।

आपके ये आत्मस्पर्शीभाव शब्दों के रूप में प्रगट होकर मेरे लिए उत्कृष्ट निमित्त बन रहे हैं। गुरुदेवश्री ने जो अध्यात्मरुचि की चिंगारी लगाई थी, आपने उसे ज्योति का रूप दे दिया है। सभी आत्मार्थी जीवों के लिए आपका सरल और सचोट अनुशीलन मोक्षमार्ग में प्रवेश करने का साधन बन रहा है और बनेगा; उसके लिए आपको अगणित धन्यवाद के सिवा मेरे पास और शब्द नहीं हैं। मैं आपको अधिक क्या लिखूँ, आप मेरी भावना

से अन्दाज निकाल लेना। आपके साथ व्यक्तिगत चर्चा करने का अवसर प्राप्त करना जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग होता है। अत: इस वर्ष भी आपके आने का अत्यन्त तीव्रता से/बेसब्री से इन्तजार कर रहा हूँ। बस! यही भावना है कि वह समय जल्दी आ जाय कि जब सारा जीवन समयसारमय कर दूँ और मुक्ति का शिरोमणि त्रिकाली ध्रुव आत्मा सदा मेरा लक्ष्य बना रहे।

वैसे आपका प्रत्यक्ष सत्संग सदा शक्य नहीं है, फिर भी आपके सत्श्रुत और सत्-अनुशीलन द्वारा परोक्ष सत्संग तो होता ही है।

मुम्बई (महाराष्ट्र) से रमेशभाई पी. शाह लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' बहुत ही रोचक एवं सूक्ष्म निर्देशन करता हुआ आचार्यों के भावों को सहज-सरल शब्दों में प्रकाशित करता है और अति कठिन एवं गहन विषय समझने में एकदम सरल बन गया है। अत: समाज को बहुत ही उपकारी है।

उज्जैन से पण्डित सत्यंधरकुमारजी सेठी लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' समयसार ग्रंथ के रहस्य को समझने के लिए एक अलौकिक कुंजी है। यह ग्रंथ ऐसे लोगों के लिए भी पठनीय है, जो टोडरमल स्मारक वालों को एकांती कहकर लोगों को भ्रमित करते रहते हैं। व्यवहारनय और निश्चयनय का जो विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है, वह वास्तव में समझने लायक है। वस्तु के सही स्वरूप को समझने के लिए इस ग्रंथ का पढ़ना अनिवार्य है।

सहारनपुर (उ.प्र.) से देवचन्दजी जैन, साहित्याचार्य लिखते हैं कि – वर्तमान विद्वतमूर्धन्य मनीषी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'समयसार अनुशीलन' पढ़ने को मिला, जो कि अति समयोपयोगी है। केवल मुमुक्षुओं को ही नहीं, अनेक अन्य बुद्धिजीवी भाई-बहिनों, युवक-युवतियों को भी लाभ मिल सकेगा नीर-क्षीर विवेक करने का। मुझे तो इतनी सरल शैली से सम्पादित मर्मस्पर्शी अनुशीलन पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। मेरी मिथ्या-मान्यता के फोड़े की कीलें निकलने से अपने ज्ञायकभाव के समीप पहुँचने की प्रेरणा मिली। मैं आपसे आशा करता हूँ कि भविष्य में भी अपने अमोघ परिश्रम द्वारा जिनवाणी की महिमा प्रदर्शित करने में ऐसा ही श्लाघनीय प्रयत्न रखेंगे।

श्रीमानजी! मुझे लिखने का अभ्यास न होने से मैं संकोच कर रहा; लेकिन 'समयसार अनुशीलन' को कई बार पढ़ा, रातभर हर्ष से उद्वेलित रहा, मैंने साहस बटोरकर यह लिखा है।

मनोहरपुर (जयपुर-राजस्थान) से डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका लिखते हैं कि – आत्मतत्त्व के जिज्ञासु पाठकों को यह ग्रंथ सारभूत सामग्री प्रदान करता है। समयसार और कलश की मूल गाथाओं का पद्यानुवाद डॉ. भारिल्ल की मौलिकता है। इसप्रकार समयसार का सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत करके विद्वान मनीषी ने अध्यात्मानुरागियों के लिए स्वाध्याय हेतु राजमार्ग प्रस्तुत किया है।

गुना (म.प्र.) से सुगनचन्दजी जैन, एडवोकेट लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' ने तो इस युग में एक अद्‌भुत चमत्कार कर दिया है; इसको पढ़ने से सचमुच बहुत आनन्द आ रहा है। जो बात अनादिकाल से आजतक समझ में नहीं आ रही थी, वह समयसार पूज्य कानजीस्वामी की कृपा से आज समझ में आ रहा है और डॉ. साहब ने तो 'समयसार अनुशीलन' लिखकर पात्र जीवों का बड़ा उपकार किया है। आप सतत् इसीतरह लिखते रहें – यही कामना है।

बेलगाँव (कर्नाटक) से धवलश्री अण्णासाहेब पाटील लिखती हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' एकबार ही नहीं, तीन-चार बार पढ़ा। मुझे वचनातीत आनंद हुआ। मैं जैसा चाहती थी, वैसा ही सब खुलासा पढ़कर मुझे बहुत-बहुत समाधान हुआ। अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा होगा। यह कृति भी नयचक्रादि अनेक कृतियों से भी इस काल की अति-महत्त्वपूर्ण कृति सिद्ध होगी।

कलकत्ता (पश्चिम बंगाल) से हुलासमलजी कासलीवाल लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पढ़कर इतनी खुशी हुई कि वह शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। कृपया इसमें आचार्य जयसेन की टीका को भी पूरा स्पष्ट करते रहें। आपसे विनयपूर्वक अनुरोध है कि इस कार्य में विशेष समय देकर इस ग्रन्थ को शीघ्र पूरा करें, ताकि मैं मेरे थोड़े से बचे हुये जीवन में इसका लाभ ले सकूँ।

हे भगवान! डॉ. साहब को इस कार्य में शारीरिक आदि कोई विघ्न न आवे; जिससे यह महाशास्त्र निर्विघ्न पूर्ण हो सके।

अहमदाबाद (गुजरात) से चिमनलाल छोटालाल लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' अपूर्व लिखा गया है। पढ़कर हम सब लोग आनन्द-विभोर हो जाते हैं। अच्छे सैद्धान्तिक न्याय मिलते हैं, स्पष्टीकरण अच्छा होता है। भविष्य में यह 'समयसार अनुशीलन' शास्त्र चमत्कारिक होगा। इससे भविष्य के जीवों का भी कल्याण होगा। इससे

हम सबको अच्छा समाधान होता है, सब गुण ग्रहण करते हैं, मेरे को यह पढ़कर दृढ़ता बढ़ती है।

बीना (म.प्र.) से गुलाबचन्दजी जैन लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' में गाथा-७ पर स्पष्टीकरण आत्मानुभूति प्राप्ति का वास्तविक उपाय है; इसमें विषय को इतना स्पष्ट किया गया है कि जैसे भगवान महावीर का स्थान कुंदकुंद एवं गौतमस्वामी का स्थान आचार्य अमृतचन्द ने लिया, उसीतरह पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने मानो कुंदकुंद का स्थान एवं आपने आचार्य अमृतचन्द का स्थान लिया हो। दृष्टि के विषय को प्रश्न-उत्तर द्वारा हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट किया है। कहाँ पर्याय का निषेध, कहाँ गौण – यह बात आप जैसे तत्त्वखोजी विद्वान ही निकाल सकते हैं। दृष्टि का विषयभूत द्रव्य काल से खण्डित भी नहीं होता और उत्पन्नध्वंसी पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल भी नहीं होती। यह समस्त जिनागम का सार जो आपने बताया, वह महान स्तुत्य कार्य है। आपका जीवन अक्षय-अनंत सुखमय हो – हम ऐसी मंगल कामना करते हैं।

कलकत्ता (पश्चिमी बंगाल) से चन्दुलालजी मेघाणी लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' की नयी कृति पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ और ज्यादा खुशी तो इसलिए हुई है कि समयसार गाथा-७ में जो आपने दृष्टि के विषय के बारे में स्पष्टता की है, उससे तो अनेक जीवों की शंका का समाधान कर दिया है और पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी को जीवन्त कर दिया है; क्योंकि उन्होंने तो ४५-४५ वर्षों तक इसी के गीत गाये थे और समयसार का केन्द्रबिन्दु भी वही आत्मा है, जिसका आपने खूब स्पष्टीकरण किया है। **एकबार पूज्य गुरुदेव श्रीकानजीस्वामी ने आपके बारे में गुजराती में कहा था कि पण्डित हुकमचन्द घणांज होशियार माणस छे।**

मुम्बई (महाराष्ट्र) से नरेन्द्र जे. शाह लिखते हैं कि – डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने समयसार अनुशीलन में इतनी सरल भाषा एवं सरसता से समयसार परमागम की गाथाओं को समझाया है कि शास्त्र पढ़ना एवं समझना अत्यन्त रुचिकर हो गया है। मुम्बई समान महान मायावी नगरी में भी फुरसत के समय कुछ क्षण समयसार एक अनुशीलन को पढ़ने के बाद सहजरूप से चिन्तन चलने लगता है। वास्तव में डॉक्टर साहब की कथन शैली में गजब की अनुभवशीलता झलकती है। पढ़ने पर कभी ऐसा लगता ही नहीं है कि कोई कठिन विषय पढ़ा जा रहा है हम तो एक अल्पबुद्धि जीव हैं – बहुत अभ्यास भी नहीं है; फिर भी पढ़कर जो आनन्द की अनुभूति होती है, वह तो वर्णनातीत है।

सर्वज्ञ परमात्मा डॉक्टर साहब को शतायुष्य करें, ताकि उनके तीक्ष्ण बौद्धिक कौशल से अन्य परमागमों के रहस्य भी आज की हिन्दी भाषा में सरलरूप से लिखे जा सकें।

भावनगर (सौराष्ट्र) से शशिवदनजी डेलीवाला लिखते हैं कि – समयसार अनुशीलन से मेरे जैसे अनेक अज्ञानी मुमुक्षु भाइयों को बहुत लाभ मिल रहा है।

शिवपुरी (म.प्र.) से अरविन्दकुमारजी जैन लिखते हैं कि – गुरुदेवश्री के प्रवचनों का मर्म गहराई से जानने में समयसार अनुशीलन बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है, इसको लिखकर छोटे दादा (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल) वाकई में महत्तम कार्य कर रहे हैं। वे शतायु हों – मेरी यह हार्दिक कामना है।

औरंगाबाद (महाराष्ट्र) से कल्याणमलजी गंगवाल लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पुस्तक के रूप में छपने पर जैन साहित्य में एक अनुपम कृति बनेगी। इतने कठिन सिद्धान्त/अध्यात्मशास्त्र को इतनी सरल शैली में लिखा जाना, केवल आप जैसे सिद्धहस्त लेखकों की लेखनी का ही कमाल है। सुगम कथनशैली को देखते हुए यह ग्रन्थ जैन साहित्य में पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक की जोड़ी का बनेगा।

इस लेखमाला ने जिनको अध्यात्मशास्त्र पढ़ने की रुचि नहीं थी, उन्हें भी पढ़ने के लिए उत्साहित किया है। मेरी आन्तरिक भावना है कि शेष बचे हुए अल्प-जीवन में इस पूरे ग्रन्थ का अनुशीलन पढ़ सकूँ। ग्रन्थ में पूज्य जयसेनाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य की टीकाओं के सार आ जाने से विषय समझने में और भी सुबीता हो जाता है। आपके दीर्घायु की कामना करता हूँ।

दाहोद (गुजरात) से सुरेशचन्द के. गांधी लिखते हैं कि – आपने सम्पादकीय में 'समयसार अनुशीलन' शुरू करके एक महान कार्य किया है, इसके विशेष स्पष्टीकरण से आपने मेरे जैसे सभी को समयसार जैसे महान ग्रंथाधिराज के मर्म को समझने में सुगमता कर दी है। इसके लिए आपको हार्दिक बधाई देता हूँ एवं यह पुरुषार्थ निर्विघ्न परिपूर्ण हो-ऐसी शुभकामना करता हूँ।

सांगोद-कोटा (राजस्थान) से भानुकुमारजी जैन लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पढ़ते हुए कुछ समय के लिये उपयोग एकदम स्थिर हो जाता है। सात तत्त्व एवं नौ पदार्थ, निश्चयनय, व्यवहारनय आदि का गंभीर मार्मिक खुलासा किया गया है।

राजस्थान से धनकुमारजी जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम.ए., बी.एड. प्रधानाध्यापक, रा.प्रा.सं.वि. आर्यसमाज, सांभरलेक, जयपुर लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' से स्वसमय-परसमय, ज्ञायकभाव, भूतार्थ एवं शुद्धनय, निश्चय-

व्यवहार श्रुतकेवली, परमभाव, अपरमभाव की गहरी व्याख्या तथा निश्चय-व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन आदि का सुन्दरतम स्पष्टीकरण बहुत ही सरल ढंग से पढ़ चुके हैं – ये सभी विषय बार-बार मनन-मन्थन करने योग्य हैं। उक्त विषयों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि ज्ञानी धर्मात्मा व मुनि भगवन्तों के हृदय की बातों को हृदयंगम करने के लिये आपकी निकटता अर्थात् इसका सतत् अध्ययन करना अनिवार्य ही नहीं, अपितु अति-आवश्यक है।

आमतौर पर अभीतक समाज में समयसार को स्वाध्याय के लिए बड़ा कठिन व अनुपयोगी विषय समझा जाता रहा है, आपने उक्त विसंगत बात को गलत साबित कर दिया है। समयसार की विषयवस्तु, शैली, दृष्टिकोण को आबाल-गोपाल सबको समझ में आने जैसे छहढाला ग्रन्थ की तरह बहुत ही सरल तरीके से अनुशीलन में सुगम कर दिया है; जिससे समयसार सबके लिए रुचिकर (रोचक) हो गया है।

'समयसार अनुशीलन' लिखकर आप मुमुक्षु समाज पर ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के अध्यात्मरसिक समयसार के वाचकों के आत्महित के मार्ग को प्रशस्त कर बहुत बड़ा उपकार कर रहे हैं, जिसका मूल्य चुकाना असंभव है। वर्तमान में जो देश की विषाक्त परिस्थिति बनी हुई है, उसके बदलाव के लिए, समरसता का वातावरण बनाने व तत्त्वामृत की वर्षा कराने में 'समयसार अनुशीलन' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

अपने युग में पूज्य गुरुदेवश्री ने शुद्धात्मप्रतिपादक समयसार के जिस तत्त्वज्ञान की गंगा को प्रवाहित किया था, आप उसी निर्मलधारा को अखण्डरूप से आज भी समयसार-अनुशीलन द्वारा जन-जन के आत्महिताय आगे बढ़ाने में सफल हो रहे हैं, जो कि यह कार्य गुरुदेवश्री के विरह को भुलाने में समर्थ है।

अन्त में मैं यही आशा करता हूँ कि आपका यह 'समयसार अनुशीलन' 'क्रमबद्धपर्याय' के समान क्रान्तिकारी कृति ही नहीं, अपितु सर्वोच्च रचना बने; तथा बहुजन हिताय युग-युग तक चर्चित रहे।

बीना (म.प्र.) से बाबूलालजी जैन 'मधुर' लिखते हैं कि – वास्तव में समयसार अनुशीलन में आत्मख्याति के साथ तात्पर्यवृत्ति का सुमेल, ब्रह्मदेवसूरि की नयविवक्षा, पण्डित प्रवर जयचन्दजी छाबड़ा के भ्रमनिवारक भावार्थ, पण्डित टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक के मार्मिक सन्दर्भ, सत्पुरुष स्वामीजी के प्रवचनांश सभी का तालमेल कर आपने बहुमुखी स्पष्ट विवेचना की है। तार्किकशैली के प्रश्नोत्तर में अपने गहन अध्ययन एवं सूक्ष्म मर्मों को खोलने में अपनी कुशाग्रता का परिचय दिया है।

सभी का एकसाथ ऐसा समन्वय अभीतक अनुपलब्ध था। समयसार की आचार्य अमृतचन्द एवं आचार्य जयसेन की टीकाओं के हिन्दी अनुवाद/टीका के एकसाथ प्रकाशन की बहुत आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जिसकी पूर्ति आपके इस अनुशीलन के माध्यम से हो रही है। उनका समग्रता से निष्पक्ष स्पष्ट समन्वय हो पाना आप जैसे विद्वान द्वारा ही सम्मत है। संभवत: यह अनुशीलन बृहत-आकार ग्रंथ का रूप लेगा।

मुम्बई (महाराष्ट्र) से महेश टी. शाह लिखते हैं कि – 'समयसार अनुशीलन' पढ़ के बहुत आनन्द आता है। इससे ग्रन्थराज/अध्यात्म-आगम विषय को विशेषरूप से जानने का मार्ग सरल हो गया। पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत और अधिक समझ में आने लगे। इसीप्रकार प्रवचनसार, नियमसार आदि सभी परमागम शास्त्रों का अनुशीलन करने की कृपा करें।

इन्दौर (म.प्र.) से विमलप्रकाशजी अजमेरा लिखते हैं कि – समयसार जैसे महान अध्यात्मशास्त्र पर आजतक के आचार्यों एवं विद्वानों का विशेषकर पूज्य गुरुदेवश्री के मन्थन को स्पष्ट करने का जो कठोर एवं महान परिश्रम आपने किया है, उसके लिए आपको हार्दिक अभिवादन।

'अनुशीलन' के स्वाध्याय से तत्त्व की गंभीरता व गूढ़ता को समझने में अत्यन्त सरलता हो गयी है।

आप जैसे गद्य-पद्य एवं वक्तव्य के धनी जिनवाणी के सपूत तथा सम्पूर्ण जीवन जिनवाणी की सेवा में समर्पित व्यक्ति, शतायु होकर समृद्धि को प्राप्त हों – यही कामना है तथा शीघ्र ही सम्यक्त्व प्राप्तकर मोक्षसुख को प्राप्त हों – यह भावना है।

दिल्ली से श्री ज्ञानचन्दजी जैन लिखते हैं कि – 'समयसार-अनुशीलन' के माध्यम से आपने अध्यात्म को सरलरूप में प्रस्तुत करके हम पर अपार उपकार किया है। पढ़ते समय यह लगता है मानों आप साक्षात् सामने बैठकर समझा रहे हों। आपका उपकार हम भूल नहीं सकते और न चुका सकते हैं। मेरी यही भावना है कि शीघ्र ही समयसार-अनुशीलन पूर्ण होवे, जिससे आप प्रवचनसार-अनुशीलन भी प्रारम्भ कर सकें।

पचेवर (राज.) से पण्डित महेन्द्रकुमारजी जैन 'विशारद' लिखते हैं कि – डॉ. साहब ने समयसार-अनुशीलन लिखकर गजब का कार्य किया है। आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार और कलश में जो माल गुप्त रखा था; उसे पूज्य कानजीस्वामी ने परोसा; पर डॉ. साहब की उस पर व्याख्या ऐसी प्रेममयी है, जो जगज्जनों को अत्यन्त रुचिकर लगेगी। पण्डितजी दीर्घायु होते हुए इस ग्रन्थ को पूर्ण करें – यही भावना है।

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	समयसार अनुशीलन भाग-१ (१ से ६८ गाथा तक)	२०.००
२.	समयसार अनुशीलन भाग-२ (६९ से १६३ गाथा तक)	२०.००
३.	समयसार अनुशीलन भाग-३ (१६४ से २५६ गाथा तक)	२०.००
४.	परमभावप्रकाशक नयचक्र	१६.००
५.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
६.	आत्मा ही है शरण	१५.००
७.	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़)	१२.००
८.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	१०.००
९.	बारह भावना : एक अनुशीलन	१०.००
१०.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	७.००
११.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	८.००
१२.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	८.००
१३.	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	६.००
१४.	गागर में सागर	७.००
१५.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
१६.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	६.००
१७.	निमित्तोपादान	३.५०
१८.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी)	२.५०
१९.	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	५.००
२०.	चैतन्य चमत्कार	२.५०
२१.	पण्डित टोडरमल : जीवन और साहित्य	२.००
२२.	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	४.००
२३.	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२४.	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	३.००
२५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	३.००
२६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२७.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., अं.)	३.००
२८.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
२९.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	४.००
३०.	सार समयसार	१.५०
३१.	शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	२.००
३२.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)	१.२५
३३.	समयसार पद्यानुवाद	२.००
३४.	समयसार कलश पद्यानुवाद	१.००
३५.	योगसार पद्यानुवाद	१.००
३६.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.००
३७.	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१.००
३८.	तीर्थंकर भगवान महावीर	१.००
३९.	अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
४०.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.५०
४१.	अर्चना (जेबी साइज)	१.००
४२.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
४३.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	१.००